

UNIVERSAL
LIBRARY

OU 186810

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H301
M675

Accession No.

P. G.
H3909

Author

मिश्र, पंचानन

Title

समाज की भूमिका

This book should be returned on or before the date
last marked below.

समाज की भूमिका

लेखक

पंचानन मिश्र

हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड

पटना-४

मूल्य ४)

मुद्रक
श्री राजेश्वर झा
श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड
पटना-४

आत्म-निवेदन

मानव अनेकों के बीच पैदा होता है, पलता है, खेलता-खाता है और जाता है तथा अपनी सारी भावनायें, विचार, अपना सारा मानसिक स्वरूप ग्रहण करता है। उसके हृदय में कुछ के लिए प्रेम है, कुछ के लिए सम्मान और कुछ से वितृष्णा। कुछ से वह डरता है, कुछ को डराता है, और कुछ से उदासीन रहता है। ये ही इन्द्रधनुष की तरह बहुरूपी और बहुरंगी रागात्मक सम्बन्ध उसे जीने का रस तथा चलने, उठने की शक्ति देते हैं। इसी आकर्षण विकर्षण के झूले में ही झूलते हुए उसके दिन कटते हैं। यह अनेकों का समुदाय उसके लिए आनन्ददायक है, कष्टप्रद है या आनन्द और कष्ट के बीच का सन्तुलन है। वह कभी कभी ऊबता है, घबड़ाता है, अत्याचार का अनुभव करता है और वेदना से कराह उठता है; किन्तु तोभी, गीली आँखों से ही सही, उनको ओझल करना नहीं चाहता जिनके लिए उसके दिल में दर्द है, भले उनसे भी दर्द हो। कभी कभी घबड़ाहट की अति हो जाने पर अपने पुराने नाते छोड़ कर या तोड़ कर वह भाग खड़ा होता है। इस तरह पुराने चेहरे तो बदल जाते हैं, परन्तु नाते नहीं बदल पाते, नाम तथा सम्बोधन भले परिवर्तित हो जायँ। वह भागकर नये लोगों के बीच जा सकता है, परन्तु मनुष्य मनुष्य के बीच चलते रहने वाले विभिन्न भावात्मक तथा रूपात्मक सम्बन्ध उसे नहीं छोड़ सकते। वह जहाँ कहीं जाता है नये सिरे से जमकर, मानों भूमि फोड़ कर, वे खड़े हो जाते हैं। संसार छोड़ कर आप सन्यासी भले बन जायँ, स्त्री तथा पुत्र से नाता भले तोड़ लें, परन्तु पुत्र के स्थान पर उत्तराधिकारी रूप में शिष्य तो मिल ही जायेंगे। वास्तव में मानवीय सम्बन्धों तथा अन्तर्सम्बन्धों का यह जाल ही समाज कहलाता है।

यह समाज हमें नित्य नये साँचे में ढालता रहता है, हमारा नया नया रूप गढ़ता रहता है। यह हमारी शक्ति का विकास करता है, हमारे सामर्थ्य स्रोत को उन्मुक्त करता है, किन्तु साथ ही उसको एक निश्चित दिशा भी देता है और एक प्रकार से सीमा के भीतर बाँधता भी है। वह स्वतन्त्रता का क्रीड़ास्थल है और साथ ही बन्धन की कठोर शृंखला भी। वह हमारे सामने निर्धारित आदर्श रखता रहता है और उस तक पहुँचने की चेतना देता है। वह हमारे सम्पूर्ण आचार, व्यवहार और भवना का प्रेरक है और नियामक भी।

हमारा यह समाज हमारे अनेक संगठनों के भीतर आने वाले सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है, वरन् उससे बहुत अधिक व्यापक है। असंगठित व्यवहार और सम्बन्ध भी, आवश्यकतानुसार संगठन का रूप ग्रहण करते हैं और हमें नई दिशा देते हैं। ऐसी स्थिति में वे भी समाज के आवश्यक अंग हैं। साथ ही आज का जीवन इतना व्यापक तथा उलझनमय हो गया है कि एक दूसरे से परिचित तथा सामान्य-रुचि (Common interests) तथा सामान्य-स्वार्थ रखनेवाले व्यक्तियों तक ही समाज घिरा नहीं रह सकता। ज्ञात, अज्ञात और अल्पज्ञात अनेक तत्त्व प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूपमें हमारे कार्यों तथा सम्बन्धों को प्रभावित करने लगे हैं। विराट विश्व के एक कोने में युद्ध छिड़ता है और दूसरे कोने में महँगी आती है तथा इसके फल-स्वरूप चोरी, चोरबाजारी और घूसखोरी आदि अनेक बुराइयों का बाजार गर्म हो जाता है।

समाज के मूल में सम्बन्ध तथा अन्तर्सम्बन्ध हैं, ये शारीरिक तथा बाहरी ही नहीं मानसिक भी हैं। केवल शारीरिक सम्पर्क को हम सामाजिक नहीं कह सकते। टेबुल का उस पर रखे हुए दीपक से जो सम्बन्ध है, वह अचेतन है, जड़ है, इसलिए सामाजिक नहीं है। जब हम अपने से भिन्न बहु या अनेक की स्थिति से अवगत रहते हैं, जब हमारे कार्य दूसरों की प्रेरणा से समर्थन या विरोध की छाया में होते हैं, तभी वे सामाजिक कहे जा सकते हैं। जब कोई काम इस भावना से होता है कि इससे दूसरों पर असर डालना है, दूसरों को उलझाना है, अन्यो को जान बूझ कर अपने पक्ष या विपक्ष में लाना है, तो हमारा यह कार्य समाज से प्रभावित माना जायेगा।

समाज अपने अस्तित्व का ज्ञान केवल व्यवियों के द्वारा ही नहीं कराता, वरन् प्रथायें, रीतियाँ, विधि-निषेध सभी समाज के अनुचर तथा दूत हैं, जिनके द्वारा वह हमारे निकट—बाहर और भीतर, विभिन्न रूपों में मौजूद है और हमारे अन्तर में घुला-मिला रहता है। इस तरह समाज विषम और सम का, राग और द्वेष का, हर्ष और विषाद का द्वन्द्व है। इसीलिए जीवित है और गतिमान है। इसकी उलझनें, इसके भीतर प्रवाहित होते रहने वाला नियम-प्रवाह कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होने पर भी बुद्धि-ग्राह्य है, चेतना-ग्राह्य तो है ही।

ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि हम समाज, उसके नाना रूपात्मक-सम्बन्धों तथा इन्हें प्रभावित करनेवाले तत्त्वों का अध्ययन करें, केवल जिज्ञासा-वृत्ति की वृत्ति के लिए ही नहीं, वरन् अपने देश तथा समाज का समचित निर्माण करने के लिए और भविष्य सुधारने के लिए भी। हम

जिस युग में जी रहे हैं, वह वैज्ञानिक युग कहा जाता है और बहुत कुछ अंशों में है भी। इसीलिए हमारा यह अध्ययन, तभी पूर्णतया उपयोगी हो सकता है जब वह वैज्ञानिक निरीक्षण, परीक्षण के सहारे खड़ा हो और इसके अन्वेषण विश्लेषण कोरी कल्पना, अन्धविश्वास एवं अन्धधारणाओं से मुक्त होकर ठोस धरती पर, ठोस तथ्यों को लिये हुए स्थापित हों। इस अध्ययन के अभाव में संसार में अनेक अनर्थ हुए हैं और कई जन समूह भ्रान्त स्वांगीकरण (Wrong assimilation), गलत व्यवहार तथा अत्याचार के शिकार होकर अपराधी नीच समाजों के रूपमें परिणत होते आ रहे हैं तथा विजयी मानी जानेवाली जातियों में भी इससे कई विकार उत्पन्न होते रहे हैं। उदाहरण के लिए भारत के अछूत तथा डोम जैसे एक समय के शासक परन्तु आज के जन्मना अपराधी लिये जा सकते हैं। वर्तमान जीवन में तो सामाजिक शक्तियों के ज्ञान बिना और भी अधिक अनिष्ट की आशंका है। पहले विकास की गति इतनी धीर तथा शान्त थी कि समाज और उसके सदस्य नवीनता के अनुरूप स्वतः ढलते चलते थे। साथ ही विभिन्न संस्कृतियों का सम्मेलन तथा संघर्ष भी इतना तीव्र नहीं था; परन्तु आज वैसी स्थिति नहीं रही। परिवर्तन की तीव्रता चकाचौंध उत्पन्न करती हुई हमें विमूढ़ बना रही है। संसार सिमट कर छोटा हो गया है; और दिन पर दिन होते जा रहा है। इससे विभिन्न संस्कृतियाँ एक में घुलमिल रही हैं। यह हमारा सौभाग्य है, किन्तु अपने को इसके अनुरूप ढालने की विराट समस्या भी सामने खड़ी हो गई है, जो हमें चुनौती दे रही है। इसीका उत्तर देने के लिए समाजशास्त्र नामक स्वतंत्र ज्ञान-विभाग का ही विकास हो गया है।

इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, नृविज्ञान आदि विषय भी समाज-विज्ञान और किन्हीं किन्हीं द्वारा समाजशास्त्र ही कहे जाते हैं। इसलिए यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि ये समाजशास्त्र से भिन्न हैं या अभिन्न, और यदि भिन्न हैं तो किस रूप में। बहुत पहले से ही पाश्चात्य विद्वानों ने अन्तर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस स्थान पर विस्तार में जाना नहीं चाहता; और इसकी गहराई में उतरना ठीक नहीं समझता^१ परन्तु साधारण पाठकों का भ्रम दूर करने के लिये—विज्ञ क्षमा करेंगे—मैंक-

१ भविष्य में श्रवसर आने पर यह कार्य किया जायेगा। दुर्भाग्य से ऐसी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है कि हमारे यहाँ ऐसे शिक्षित व्यक्ति भी हैं जो समाजशास्त्र का एक ही अर्थ समझते हैं—एंगेल्स द्वारा सामर्थिक मार्गन का

आइभर साहब के कथन का, संक्षिप्त हवाला दे देना आवश्यक जान पड़ता है । आपका कहना है कि राजनीति, अर्थशास्त्र आदि भिन्न भिन्न समाज विज्ञानों के विषय, क्षेत्र भौतिक रूप में किसी निश्चित सीमारेखा द्वारा बाँटे नहीं जा सकते । वे सारे के सारे एक ही विषय—समाज, के विभिन्न अंगों का ही अध्ययन करते हैं । इस समाज तक पहुँचने के भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों तथा इनकी अपनी अपनी निर्वाचित रुचियों से ही इनमें भिन्नता की स्थापना की जा सकती है । इसलिए आप कहते हैं कि “एक को दूसरे से भिन्न करनेवाली निर्वाचित-रुचि की भिन्नता ही है ।”¹

समाजशास्त्र की रुचि सामाजिक सम्बन्धों से है, अर्थात् वह इन्हीं का अध्ययन करता है । ये ही उसके विषय क्षेत्र हैं । कोई भी समाज-विज्ञान इन सम्बन्धों का पूरा रूप नहीं ले पाता और किसी के भी अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु सम्बन्धों का यह सम्पूर्ण जाल, जिसे हम समाज कहते हैं, नहीं है ।¹ इसलिए ज्ञान के किसी भी अंग से इसके अभेद की भ्रान्ति नहीं हो सकती । समाज-विज्ञानों में नृविज्ञान मानव का—विशेषतया आदि मानव का—उसके सारे क्रिया-कलापों तथा उपादानों के साथ अध्ययन करता है । सामाजिक संस्थाएँ ही उसके विषय नहीं हैं, वरन् सम्पूर्ण कलाएँ सारी अनुभूतियाँ, गाथाएँ, विश्वास तथा अन्धविश्वास आदि उसकी सीमामें आ जाते हैं । अर्थशास्त्र का सम्बन्ध घनोत्पादक तथा धन वितरक मानव से ही है । इसलिए इसका मापदण्ड अर्थमात्र है । इतिहास घटनाओं की क्रमवद्धता पर ही अधिक जोर देता है । मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान आचरण करनेवाले व्यक्ति को ही लेते हैं । फिर एक दूसरे से अभेद की कल्पना ही कैसे हो सकती है ?

अब रहा एक दूसरे द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा फलों की सिद्धियों के उपयोग का प्रश्न । ज्ञान विज्ञान का प्रत्येक अंग, विशेषीकरण के होते हुए भी, एक दूसरे का सहारा लेता ही है, तथा लिए बिना रह नहीं सकता; यथा अर्थशास्त्र के बिना राजनीति तथा राजनीति के बिना अर्थशास्त्र का जीना कठिन है । इसी तरह समाजशास्त्र भी किसी का वहिष्कार करना नहीं चाहता; वरन् वह तो समाज-विज्ञान ही नहीं, भौतिक तथा जीव-विज्ञान का भी, आवश्यकता के अनुसार, सहारा लेता आया है । किसी भी संकोच से रहित होकर वह सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का सदुपयोग अपने विषय के अध्ययन तथा अनुशीलन के लिए करता है, क्योंकि उसका दिमाग खुला हुआ है, वह अनावश्यक

1 What distinguishes each from each is the selective interest

साम्प्रदायिक तथा संकुचित रूप में हठधर्मी नहीं है। समाजशास्त्र का यही रूप देखकर स्पेन्सर साहब ने इसे सभी विज्ञानों का पितृ-विज्ञान मान लिया था और यह सिद्धांत स्थिर करने का प्रयत्न किया था कि सभी के फल समाज के सिद्धान्त रूप में इसके द्वारा समन्वित किये जाने चाहिए। उनके अनुसार 'समाजशास्त्र का चरम उद्देश्य है विस्तृत विषय या बहुरंगी एकत्रित ज्ञान को इस तरह ग्रहण करना जिससे एक समन्वित रूप देखा जा सके'। खैर, आज हम इसे पितृ-विज्ञान नहीं मानते और न सभी विज्ञानों के सारे फलागमों के समन्वय की कल्पना ही कर सकते हैं। समाजशास्त्र का विद्यार्थी अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि के सम्पूर्ण अध्ययन का दावा नहीं करता, उसका सम्बन्ध तो केवल इनके उन्हीं रूपों तथा फलागमों से ही है, जो उसे समाज को समझने में सहायता प्रदान करते हैं। इस तरह वह इनसे अपने काम की चीजें ही लेता है। इस पर भी वह सम्बन्धों का अध्ययन इसलिए नहीं करता कि वे राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक हैं, प्रत्युत् इसलिए करता है कि वे सामाजिक हैं।

भारत देश तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए भी समाजशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव करते हुए उसके इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर मैंने समाज के कई अंगों पर कुछ लिखने का साहस या दुस्साहस—जो कुछ समझा जाय, किया है। उसीकी पहली किस्त 'समाज की भूमिका' नाम से आपके हाथों में है। 'परिवार—एक सामाजिक अध्ययन', के शीघ्र ही आने की आशा है। राज्य तथा धर्म के सामाजिक अध्ययनों की बारी भी यदि पाठकों की कृपा रही तो दूर नहीं है, ये दोनों पुस्तकें भी प्रकाशकों के पास जाही रही हैं। ये हमारी सभी पुस्तकें चार-पाँच वर्ष पूर्व हिन्दी विद्यापीठ, देवघर द्वारा प्रकाशित होने के लिए लिखी गई थीं (संशोधन परिवर्द्धन तो अन्त तक होते रहे हैं।) उस समय तक हिन्दी में समाजशास्त्र की शायद, कोई पुस्तक नहीं थी। दुर्भाग्यवश कुछ विचित्र परिस्थितियों के कारण विद्यापीठ का प्रकाशन-कार्य वैसा समर्थ नहीं हो सका और धीरे-धीरे समय निकलता गया। इस बीच इस विषय की तीन-चार पुस्तकें देखने में आई हैं। इनसे तुलना करना नहीं चाहता; आवश्यकता भी नहीं जान पड़ती। शैली तथा दृष्टिकोण ही नहीं, विषय तथा क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हैं, बल्कि सभी एक दूसरे के, एक प्रकार से, पूरक ही हैं।

मैं अपनी ओर से नम्रतापूर्वक इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जो थोड़ा बहुत अंग्रेजी में पढ़ सका और समझ सका उसे ही अपनी भाषा में इन पृष्ठों पर रख देने को ही अपना कर्त्तव्य नहीं मान बैठा, वरन् उसे

पचाकर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा भी की है। भारतीय दृष्टिकोण, परम्परा तथा वास्तविकता की खराद पर भी उसे चढ़ाया है और हर पहलू पर एक समन्वित दृष्टि-बिन्दु की उद्भावना करने का प्रयत्न भी अपनी अल्प-शक्ति तथा बुद्धि के अनुसार, करते गया हूँ। गाँव की मिट्टी का पुत्र होने के नाते, किञ्चित् पुस्तकीय-ज्ञान तथा शहरी जीवन की थोड़ी जानकारी के साथ ही भारत की वास्तविकता—ग्रामीण-जीवन, के विभिन्न पहलुओं को समझने का सुयोग भी बालकपन से ही मिलता आया है। यह मेरा गुण भी हो सकता है और दोष भी। एक बात और है। गत युद्ध तथा युद्धोत्तर कालीन नवीन वैज्ञानिक, विशेषतया मनोवैज्ञानिक शोधों में से कइयों ने समाज को समझने की सुन्दर कुञ्जियाँ दी हैं। समाजशास्त्र की उपलब्ध अँग्रेजी पुस्तकों में से भी कई युद्ध से पूर्व की हैं। इसलिए इन्होंने भी उनका उपयोग नहीं किया है। मैंने अपनी पहुँच के अनुसार उन्हें भी अपनाने का यत्न किया है। इन कार्यों में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे तो सुविज्ञ पाठक ही बतला सकते हैं; अन्यथा 'निज कवित्त केहि लाग न नीका ?'

अन्ततोगत्वा धन्यवाद प्रकाश का सरस तथा हृदय छूनेवाला काम रह गया है। श्री प्रो० बलदेव नारायण के मार्ग-दर्शन, श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री गङ्गाशरण सिंह तथा श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव' के सतत परामर्श तथा प्राणमयी प्रेरणा एवं प्रिय भाई श्री पं० चलबल झा जी और श्री चन्द्र-शेखर झा जी एम० ए० के प्रोत्साहन के लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, समझ नहीं पड़ता। जिन लोगों को इस अध्यापक-जीवन में कभी दो-चार अक्षर पढ़ाने के अवसर मिले हैं, उनमें से भी कइयों की हार्दिक सहायता विभिन्न रूपों में मिलती रही है। वह दिन याद है जब मेरे अलसा जाने पर श्री राधावल्लभ शर्मा लिखने के लिए कागज कलम लेकर बैठ जाते और बोलने का हठ करते। पद-पद पर सहायता लेने के साथ ही प्रूफ संशोधन का भार इन्हीं पर डालकर निश्चिन्त पड़ा रहा। श्री सरस्वती प्रसाद राजहंस ने इस पुस्तक की प्रतिलिपि बड़े परिश्रम से तैयार की। इन्हें किस रूप में क्या दूँ ?

इस अवसर पर एक दुखद स्मृति भी जग रही है और उससे दिल भरा आ रहा है। बालपन के ही गुरु, किन्तु जीवन के एक मात्र मान्य गुरु, स्वर्गीय श्री हरि कृष्ण रायजी 'हरि बाबू' साहित्यरत्न द्वारा हर बड़े अवकाश के समय लिखने-पढ़ने का लेखा-जोखा, परामर्श, प्रेरणा, आलस्य प्रदर्शित करने पर डंडे के हाथों लिखवाने की प्रेमपूर्ण चेतावनी, अवकाश लेकर संयुक्त रूप में लिखने की योजना वर्षों से केवल याद में ही जीवित है। ओह !

आज तो इस क्षुद्र कृति के साथ आँसुओं की श्रद्धाञ्जलि से ही सन्तोष कर लेना पड़ रहा है ।

सबसे अन्त में सहृदयता के साथ प्रकाशित करने के नाते श्री जयनाथजी मिश्र को हार्दिक धन्यवाद है, साथ ही उन कर्मचारियों को भी, जिनके जिम्मे यह भार रहा है । प्रयत्न करने पर भी प्रेस की भूलें, थोड़ी बहुत, रहही गई है, कहीं कहीं अक्षर टूट गये हैं और कहीं विरामादि चिह्नों में उलट-पुलट हो गया है । अंग्रेजी उद्धरणों के कई अक्षर अशुद्ध छप गए हैं । तो भी आशा की जा सकती है कि विज्ञपाठकों को सुधारकर पढ़ लेने में विशेष, कठिनाई नहीं होगी; 'जागृत निर्ममता' के स्थान पर 'जागृति निर्ममता' (पृ० ६१ की २० वीं पंक्ति) जैसी अर्थ का अनर्थ करनेवाली अशुद्धियाँ, शायद कम ही मिलें ।

आषाढ़ शुक्ल ८, २०१३ वि०, रविवार ।

— पंचानन मिश्र

सूची-पत्र

खण्ड पहला

[मानव-समाज और प्रकृति]

विषय	पृष्ठ-संख्या
पहला प्रकरण—मानव, समाज और प्राणितत्त्व ...	१-३२
मानव की जीवात्मक विशेषतायें ...	१-१२
पैतृकता तथा प्राणि-तत्त्व—शरीर और व्यक्तित्व, पैतृकता तथा उत्परिवर्तन (mutation), प्रकृति और पोषण ...	१२-२७
यौन-भेद का सामाजिक रूप ...	२७-३२
दूसरा प्रकरण—समाज तथा भूगोल ...	३३-४२
समाज पर भूगोल का प्रभाव—मानव तथा भूगोल का संघर्ष, मानव और प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ...	३३-३८
भूगोल और सम्यता ...	३८-४२

खण्ड दूसरा

[संस्कृति और सभ्यता]

तीसरा प्रकरण—संस्कृति और सभ्यता ...	४५-६८
सभ्यता संस्कृति का स्वरूप ...	४५-५३
सांस्कृतिक-आदर्श ...	५३-६७
सांस्कृतिक वैशिष्ट्य (ethos) ...	६७-६८

खण्ड तीसरा

[सामुदायिक-जीवन]

चौथा प्रकरण—सामाजिकता का मानसिक आधार ...	७१-८७
(१) संलग्नता (gregariousness) ...	७२-७३
(२) अन्य भाव से व्युत्पन्न ...	७३-७६
(३) सामाजिकता समाज की ही देन ...	७६-८७
पाँचवाँ प्रकरण—समुदाय (group) का स्वरूप और वर्गीकरण ...	८८-१०६
समुदाय का स्वरूप ...	८८-९०
समुदाय का वर्गीकरण ...	९१-९३
प्राथमिक समुदाय—विशेषतायें, पुरातन तथा नवीन युग में प्राथमिक समुदाय, प्राथमिक समुदाय और व्यक्ति ...	९४-१०७
अन्तर्समुदाय और समुदाय-बाह्य ...	१०७-१०९

छठा प्रकरण—अर्द्ध-समुदाय या समुदायाभास (quasi groups)	११०-१४५
जनसंघात (croud)—जनसंघात के प्रकार, विशेषतायें,	
उत्तेजना के आधार	११०-१२८
यूथ मनोवृत्ति	१२८-१३०
जनता—प्रचार, प्रचार का स्वरूप, विज्ञापन	१३०-१४५
सातवाँ प्रकरण—सहयोग और संघर्ष	१४६-१७७
सहयोग—स्वरूप, श्रम विभाग का फल	१४६-१५०
संघर्ष—प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, सहयोग-संघर्ष के	
आधार, सहयोग संघर्ष का द्वन्द्व	१५०-१५६
संस्कृति और सहयोग-संघर्ष का द्वन्द्व, सहयोगात्मक संघर्षा-	
त्मक संस्कृति, प्रतियोगिता-वर्द्धक सांस्कृतिक आधार	१५६-१६५
वर्तमान युग और प्रतियोगिता, भारत और प्रतियोगिता...	१६५-१७७
उपेक्षा	१७७

खण्ड चौथा

[सामाजिक नियंत्रण]

आठवाँ प्रकरण—सामाजिक नियंत्रण—सामान्य	१८१-१८७
नवाँ प्रकरण—सामाजिक नियम	१८८-२१३
प्रधान सामाजिक नियम—	
(१) धार्मिक नियम	१९०-१९१
(२) नैतिक नियम, धर्म तथा नैतिकता का भेद	१९१-१९७
(३) राजकीय नियम	१९७-१९८
(४) प्रथा—(क) जनरीतियों की स्थिरता और परिवर्तनशीलता, जनरीतियों का आधार, आधुनिक युग में जनरीतियाँ, (ख) लोकाचार, विधि और प्रथायें, विधि के दोष	१९८-२११
(५) सामयिक रीतियाँ, अभिसमय (convention)	२११-२१३
दसवाँ प्रकरण—प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नियंत्रण	२१४-२२६
प्रत्यक्ष नियंत्रण और समनज्ञायें (sanctions)—	
अवरोधक और स्वीकृतियाँ	२१४-२२३
अप्रत्यक्ष नियंत्रण—सांस्कृतिक, आंशिक तथा क्षणिक	२२३-२२६

खण्ड पहला

[मानव समाज और प्रकृति]

(Nature and Human Society)

पहला प्रकरण

[मानव, समाज और प्राणितत्त्व]

मानव की जीवात्मक विशेषतायें

प्रकृति ने मानव को अन्य जीवों की अपेक्षा बहुत अधिक असहाय पैदा किया है। उसकी दुर्बलता और उसका परावलम्बन प्रकृति की विचित्र देन है। एक गाय या भैंस का बच्चा पैदा होने के थोड़ी ही देर बाद उठ खड़ा होता है, और माँ का स्तन ढूँढ़ने लगता है। यदि उसे पानी में रखा जाय तो थोड़ा बहुत तैर भी लेता है। किन्तु मानव के बच्चे को खड़े होने में ही वर्षों लग जाते हैं। माँ का स्तन ढूँढ़ने की शक्ति भी बहुत दिनों बाद उत्पन्न होती है। इतना ही बहुत है कि वह भूख से रो लेता है और मुख में स्तन लगा देने पर मुख चला लेता है। नवजात शिशु की स्नायु-प्रणाली वस्तुतः विकसित नहीं रहती और न अन्य जीवों के समान उसमें सहज प्रवृत्तियाँ (instincts) ही पुष्ट रहती हैं। एक जानवर विपरीत परिस्थिति में रख दिये जाने पर भी अपना स्वाभाविक गुण नहीं छोड़ता। एक बाघ का बच्चा यदि दूध पिलाकर भी पाला जाय तो रक्त मिलते ही बाघ बन जायेगा। इतना है कि बिल्ली आदि जीव भी अपने बच्चे को शिकार करने का अभ्यास कराते हैं, पक्षी उड़ना सिखाते हैं, परन्तु उनका यह शिक्षण अल्प समय तथा अल्प श्रम-साध्य है। लेकिन मानव को अपने पिता माता की चीजें सीखने में भी जीवन का एक खासा अंश लगा देना पड़ता है। यदि उसे जन्म लेते ही मानव समाज से अलग कर दिया जाय तो वह मानव के सामान्य गुणों तथा योग्यताओं से वंचित ही रह जायेगा। कई बार जानवरों के बीच में पले हुए बच्चे पाये गये हैं, भेड़िये बच्चों को उठा ले जाते हैं, अधिकांश को मारकर खा जाते हैं; परन्तु कई बार उन्हें अपनी माँदों में जीवित भी रख लेते हैं; जो उनके बच्चों के साथ ही पलते तथा बढ़ते हैं और उन्हीं के गुण ग्रहण करते हैं। कुछ दिनों पहले लखनऊ के आसपास इस प्रकार का एक बच्चा

मिला था, जो सीधा होकर चलना भी नहीं जानता था, जानवरों के समान ही दोनों हाथों तथा पैरों से चलता था। पानी भी झुक कर पीता था, बोलने की तो बात ही नहीं। मानव समाज उसके लिए इतना प्रतिकूल था कि अस्पताल में सारी सावधानी रखने पर भी उसे बचाया न जा सका, और वह मर गया। दो-तीन वर्ष पूर्व सीरिया में गजल हरिनों के साथ एक बद्ध बालक मिला था, जो सीधा खड़ा हो सकता था, हरिनों के समान तेज दौड़ सकता था, परन्तु पीने, खाने, बोलने आदि में वह जानवरों से भिन्न नहीं था। उसे जीवित हरिन पकड़ने वाले शिकारियों ने पकड़ा था, और उसका फोटो टाइम्स में निकाला था। देखने में लड़का सुन्दर और स्वस्थ जान पड़ता था।

वस्तुतः यह असहायावस्था प्रकृति का वरदान ही है। इसने मानव को बहुत अधिक सामाजिक बना दिया है, और उसकी कई भावना अंततः समाज-संगठनों के भीतर इस अवस्था की प्रेरणा है। मानव का वात्सल्य; जो व्यक्तिगत सम्पत्ति, स्थिरता आदि का जनक है, इसी अवस्था की उपज है। समाज के सारे गुण ग्रहण करने की प्रवृत्ति और उत्सुकता, सीखने की व्यग्रता, अपनी संतान को अधिक से अधिक सम्पन्न और योग्य बनाने की चेष्टा, पुत्र के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना आदि अनेक रुचियाँ इससे ही पैदा हुई हैं। अगर यह असहायावस्था नहीं होती तो मानव अन्य जानवरों के समान स्थिर बुद्धि का होता, पिता से भी अधिक आगे बढ़ने के प्रयत्न से, अधिक से अधिक समर्थ बनने के श्रम से वंचित ही होता। यदि प्रकृति उसे सक्षम बनाती तो वह श्रम का महा वरदान कभी न पाता। बन्दर हाथ से थोड़ा बहुत काम कर सकता है, लाठी चलाकर किसी को मार भी सकता है, परन्तु उसकी स्वनिर्भरता, पेड़ पर चढ़ने, कूदने, उछलने की सहज प्रवृत्ति उसमें श्रम का विकास नहीं होने देती।

जानवर भी समूह में रहते हैं; परन्तु उनके समूहबद्ध होने के कारण यौन तथा रक्षा की आवश्यकता ही है; थोड़ा बहुत स्वजात्याकर्षण भी कुछ जानवरों में पाया जाता है। पहाड़ों की तलहटी और जंगलों में भैंसे आदि जीव हिंसक जन्तुओं से अपनी रक्षा के लिए समूह में एक प्रकार का व्यूह बनाकर रहते हैं। रात में वे चारों ओर मुँह करके बैठते हैं, बीच में बच्चों को रख लेते हैं। यह समूहबद्धता रक्षा की भावना से विकसित है। बिना रक्षा की आवश्यकता के भी जानवर झुंड में आबद्ध हो जाते हैं, और एक दूसरे की अनुपस्थिति का अनुभव भी करते हैं। एक नाद में खानेवाले बेलों में यदि एक कहीं चला जाता है तो दूसरा कई दिनों तक खाना-पीना भी कम कर देता है, या कभी-कभी छोड़ भी देता है, इसे हम सहज स्वजात्याकर्षण के अतिरिक्त

और क्या कह सकते हैं ? परन्तु यह स्वजात्याकर्षण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना यौन (sex) । कुछ जानवरों में तो यौन ही समूह का कारण है । बन्दरों की यही हालत है । बन्दरों के दो प्रकार के झुंड आपको दिखलाई पड़ेंगे । एक प्रकार के दलों में एक बड़ा तगड़ा बन्दर तथा शेष सारी बंदरियाँ मिलेंगी । इनमें नर बच्चों को भगाने के लिए माँ तथा समूहाधिपति में जो एक संघर्ष होता है, वह दर्शनीय है । माँ बच्चे को भगाने के लिए उत्सुक रहती है, पर बड़ा बन्दर उसे मार डालना चाहता है, क्योंकि वह समझता है कि बड़ा होने पर वह उसका प्रतिद्वन्द्वी होगा । दूसरे प्रकार के झुंडों में भगे हुए ही बन्दर होते हैं, बन्दरियाँ नहीं । जब तगड़ा बन्दर कमजोर होता है तो मार खाकर विधुर-बंदर-झुंडों में शामिल हो जाता है, और दूसरा बंदर अपना झुंड बना लेता है । जहाँ हिंसक जन्तुओं का भय नहीं रहता वहाँ एक भंसा भी दूसरे भंसे को नहीं देख सकता है । इसी से उग्र भयंकर झगड़ों के लिए भंसा-कांड एक प्रतीक बन गया है । पशुओं का बच्चा माता पर बहुत थोड़े दिनों तक ही निर्भर रहता है, इससे आरम्भ में माँ का वात्सल्य उग्र होता है, परन्तु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, अपने बच्चों तथा दूसरों में कोई अन्तर नहीं रह जाता । इस क्षणस्थायी वात्सल्य का कारण स्मृति की अल्पता तथा भाषा का अभाव भी है, परन्तु निर्भरता भी एक आकर्षण और मोह का बहुत बड़ा हेतु है । जहाँ अधिक सान्निध्य होगा, वहाँ स्नेह भी रहेगा ही ।

मानव की अक्षमता ही उसकी उन्नति का एकमात्र कारण नहीं है । प्रकृति यदि उसे केवल असमर्थ बनाती, उसमें वे गुण नहीं देती जिनसे वह अपनी दुर्बलता को ही वरदान बना सके तो मानव सृष्टि के आरम्भ काल में ही, जीवन-संघर्ष में असफल होने के कारण, अन्य कई भयंकर जीवों के समान समाप्त हो जाता और आज उसके कुछ प्रस्तर-विकल्प ही जहाँ-तहाँ पृथ्वी के नीचे चुपचाप पड़े रहते । यह कहा जाता है कि मनुष्य बुद्धि प्रधान जीव है, उसके पास बुद्धि है, अन्य जीव उससे हीन हैं । अस्तु, वह बाजी मार ले गया । यह बात सच होने पर भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य जीवों में बुद्धि है ही नहीं । कई बन्दरों को तो लोगों ने टाईप का कार्य भी सिखाया है और वे उसमें काफी सफल हुए हैं । साधारण तथा सहज ज्ञान कुछ जानवरों तथा पक्षियों में आश्चर्यजनक रूप में दिखाई पड़ता है । कुत्ते रास्ते पहचानने में मानव को मात कर देंगे । लेखक को इसके दो विचित्र अनुभव हुए हैं । एक बार पेंदल यात्रा में एक कुत्ता साथ था । चार दिनों तक साथ-साथ चला । बीच में तीन-तीन नदियों को नौका से पार करना पड़ा । पाँचवें दिन कुत्ता छूट गया । २० दिनों के पश्चात् जब घर लौटा तो उसी कुत्ते ने दरवाजे पर स्वागत

किया । पता चला कि वह दो-तीन दिन पहले ही आया है । दश-ग्यारह दिनों के पश्चात् उस बीहड़ पथ से ही लौट आना कम बुद्धि का काम नहीं था । इसी प्रकार घर का पालतू हरिन बंदमाश हो गया, और कई आदमियों को मार चुका । उसे कई बार दश बारह मील दूर ले जाकर छोड़ा गया, पर हर बार वह लौट आया । बहुत से पक्षी दो-दो हजार मील की यात्रा साल में करते हैं, और लौटकर पुराने स्थान पर आ जाते हैं । यह क्या कम बुद्धिमानी का काम है ? शिकारियों को धोखा देने में जानवर उन्हें काफी ठगा करते हैं । ऐसे सहस्रों उदाहरण अन्य जीवों की बुद्धि के दिये जा सकते हैं । जंगल का एक छोटा गीदड़ जिसे अंग्रेजी पुस्तकों में भोजनभट (glutton) नाम दिया गया है, और जिसे बिहार में 'फेंकसियार' कहते हैं, शिकारी जीव के पीछे-पीछे चलता है—शिकार में बुद्धिमानी से अपना भाग लेने के लिए ।

मानवेतर जीवों को भी कुछ न कुछ मरितष्क है, बुद्धि है, तो क्या कारण है कि वे उसका विकास नहीं कर पाये ? एक जीव उतना ही सीख सकता है जितना उसकी जाति (species) के दूसरे जीव जानते हैं, उनसे ज्ञान-परम्परा को वह आगे नहीं बढ़ा सकता । वस्तुतः मानव को अन्य जीवों से अलग करनेवाला उसका भाषा-ज्ञान है । इससे वे अपने संचित ज्ञान की वृद्धि करते चले जाते हैं । जानवरों को और उनमें सबसे विकसित शिम्पन्जी को भी भाषा सीखने की सहज-जात योग्यता बहुत ही कम होती है । इस सम्बन्ध में एक सुन्दर प्रयोग हुआ है । श्री मती और श्री डब्ल्यू एन० केलाग ने नौ महीनों तक अपने बच्चे के साथ मादा शिम्पन्जी को पाला था । जब वह घर में लाई गई, साढ़े ग्यारह मास की थी, उसका नाम रखा गया गुवा (Gua) । केलाग का बच्चा उस समय दश मास का था । इसका नाम था 'डोनाल्ड' । दोनों के प्रति समान प्यार दर्शाया जाता था । दोनों के लिए सावधानी समान रूप में रखी जाती थी । यहाँ तक कि वे साथ-साथ खाते, और साथ-साथ खेलते थे । गुवा डोनाल्ड की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली थी, अस्तु, किसी चीज पर चढ़ने तथा रस्सी पर नाचने में अधिक पटु थी, साथ ही उसने बहुत से मानवीय व्यवहार भी सीख लिए, जैसे चम्मच से भोजन करना, ग्लास से पानी पीना, दरवाजा खोलना आदि । कई कामों में वह डोनाल्ड से तीव्र थी परन्तु भाषाएवं बोली में पिछड़ गई । वह काफी शब्द तो समझ लेती थी, परन्तु उनका उच्चारण करना उसके लिए कठिन ही नहीं, असम्भव था । इस प्रयोग से इतना तो स्पष्ट है कि बोली मानव की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है अन्य जीवों में इसका नितान्त अभाव है । इतना ही नहीं, वे सुनकर प्रयत्न करने पर, सब कुछ सीख सकते हैं, पर बोली नहीं । मानव बोली अपने

समाज से पाता है, परन्तु इसे ग्रहण करने की शक्ति उसकी बपौती है, जो मानव होने के नाते मिली है ।

प्राणि-शास्त्रियों का कहना है कि अन्य जीवों के मस्तिष्क से मानव-मस्तिष्क की तुलना करने पर यह देखा जाता है कि इसका ज्ञान-केन्द्र (Cortex) बहुत विकसित है और उसमें भी उसका समक्ष-क्षेत्र (Frontal areas) । जीभ आदि उच्चारण-अवयवों और त्वचाओं या स्पर्शेन्द्रियों का नियंत्रण यहीं से होता है । उसके ज्ञान-सूत्र बहुत सूक्ष्म हैं और संख्या में भी अधिक हैं । नेत्रेन्द्रिय की भी थोड़ी बहुत यही स्थिति है । अन्य जीवों और विशेषतया पशुओं तथा पक्षियों की घ्राणेन्द्रिय तथा स्वादेन्द्रिय विकसित तो नहीं हैं; परन्तु उनसे अधिक काम लेने एवं उन्हीं पर निर्भर कहने के कारण, उनमें बहुत अधिक शक्ति आ गई है । यही कारण है कि वे सूँघकर और स्वाद लेकर ही अनेक तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं । कुत्ते तथा घोड़े इसी के बल पर रास्ते का पता लगाते हैं; और क्या खाना चाहिये, क्या नहीं खाना चाहिए, यह जान लेते हैं । यहाँ तक कि मादा के रजोधर्म का पता भी वे इसी से लगाते हैं । कुछ पक्षियों की आँखें भी बहुत दूर की वस्तुयें देख लेती हैं; गृद्ध-दृष्टि प्रसिद्ध है । परन्तु सूक्ष्म बारीकियों को देखने और समझने की शक्ति उनमें मानव के समान नहीं होती । इसका कारण कुछ तो प्रयोग और कुछ विकास का भी अभाव है । पक्षियों में तोते की स्पर्शेन्द्रिय अपेक्षाकृत कोमल तथा विकसित होती है; परन्तु मानव की तो वह बहुत बड़ी विशेषता है । हमारी त्वचाओं में वाह्य-पदार्थों को ग्रहण करने की, उनमें सूक्ष्म-विभेदों को समझकर उनसे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को धारण किये रहने की अपार-शक्ति मिली हुई है । एक अन्धा मनुष्य थोड़ी शिक्षा देने पर ही अपने हाथों की उँगलियों के स्पर्श से अनेक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और पढ़ लेता है । प्रकृति ने पशुओं को धूप और शीत से अपनी रक्षा करने के लिए मोटे चमड़े दिये हैं । मानव इस सुविधा से वञ्चित है, किन्तु प्रकृति ने उसकी कोमलता और कमजोरी में ही कितने गुण भर दिये हैं ? इस प्रकृति-प्रदत्त-सुविधा से वञ्चित होना भी उसकी महान् उन्नति के हेतुओं में से एक है ।

नेत्रेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय तथा उच्चारण-अवयवों को नियंत्रित करने वाला भाग ही मानव की मूल विशेषता-चिन्तन-का केन्द्र और कारण है । इस क्षेत्र के कुछ धूसर पदार्थों को आपरेशन के द्वारा निकाल देने से और इस तरह थैलेमस (Thalamus) और इस क्षेत्र के ज्ञान-सूत्रों (Fibres) का सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने से मानव की अहम्-भावना लुप्त हो जाती है, चिन्ता नहीं रहती और सामाजिक आदर्शों की चेतना भी समाप्त हो

जाती है ।* कई भाषा भूलने के उदाहरण भी मिले हैं । इससे स्पष्ट है कि शरीर शास्त्रकी दृष्टि से यह भाग ही मनुष्य के ग्रहण, धारण और चिन्तन का नियामक है और भाषा-विकास का कारण है ।

स्पर्शेन्द्रियों और भाषणेन्द्रियों में भी तुलनात्मक दृष्टि से भाषणेन्द्रियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा हमारे विकास में अधिक सहायक हैं । गूंगे बालक के व्यवहार असम्बद्ध और सीमित हो जाते हैं । जब वह कुछ बड़ा होता है, उसकी सामान्य इन्द्रियों का विकास हो जाता है, तब अपने दैनिक व्यवहार के लिए भाषा के स्थानापन्न-साधनों का वह काम-चलाऊ विकास कर लेता है । तो भी उसका पूरा विकास सम्भव नहीं हो पाता । अन्धा बालक भी गूंगे बालक के समान ही आरम्भ में असम्बद्ध रहता है, किन्तु उच्चारण-अवयवों के विकसित हो जाने पर भाषा के बल से बहुत कुछ ग्रंथों में अपने अभावों की पूर्ति कर लेता है । शिक्षा-प्रणाली का विकास हो जाने से कई अन्धे योग्य वकील, विद्वान और प्रोफेसर हो चुके हैं, कला और संगीत पर तो सूरदासों का पहले से ही अधिकार रहा है । किन्तु कोई भी मूक आज तक उन्नति नहीं कर सका है, आगे भी करेगा, इसमें सन्देह है । एक बात और है । गूंगों को शिक्षा-प्रदान करने के समय हम उन्हें भाषा-ज्ञान ही देते हैं, जिसे वे कान से न सुनकर ओठों की गति आँखों से देखकर समझते हैं ।

कुछ विद्वानों का कहना है कि उच्चारण अवयवों का विकास मानव की विशेषता नहीं है, क्योंकि अन्य जीवों को भी वे अवयव हैं और वे अपने भाव-प्रकाशन के लिए कुछ न कुछ इनका प्रयोग करते ही हैं । यदि हम उच्चारण-अवयव का अर्थ जीभ आदि से ही मानें और इनके संचालन करने वाले मस्तिष्क के भागों को छोड़ दें तो यह कथन यथार्थ है, इससे अलग कर दिये जाने पर उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता । परन्तु यह विलगाव ठीक नहीं है । मस्तिष्क का यह भाग ही भाषा-विकास का हेतु है । यह भाग बहुत विकसित है, इसमें सन्देह नहीं । इसी विकास के बिना अन्य जीव केवल मनो-भावाभिव्यंजक ध्वनियों तक सीमित होकर रह जाते हैं । हम इन ध्वनियों को ही भाषा नहीं कह सकते ।

अन्य जीव और बालक के ज्ञान-वर्द्धन में अनायास प्रतिक्रियाओं (Random responses), सहेतुक सहज क्रियाओं (Conditioned reflex) तथा अनुकरण का ही प्रधान हाथ रहता है । अपने दुःख-सुख, आनंद-पीड़ा से सम्बन्धित पदार्थों तथा व्यक्तियों तक ही उनके ज्ञान सीमित रह जाते हैं । मानव की विराट शक्ति और अपार ज्ञान का भण्डार इतने से

* विस्तार के लिए देखें C. T. Morgan कृत Physiological Psychology.

ही कभी भी विकसित नहीं हो पाता । तीन से पाँच वर्षों की आयु में मानव-शिशु अपने भाषण की गति पर नियंत्रण करने लगता है । इससे उसके ज्ञान-अर्जन की पद्धति बदल जाती है । सहेतुकता (Conditioning) कम पड़ जाती है, और भाषा उसका स्थान ले लेती है । वह भाषा से ही अधिक पाने लगता है । सहेतुकता वहीं तक काम कर सकती है, जहाँ तक जीव का प्रत्यक्ष वेदनात्मक संपर्क हो पाता है, परन्तु भाषा का क्षेत्र विस्तृत है, वह ठोस व्यवहार तथा स्थूल पदार्थों के ज्ञान के साथ ही सूक्ष्म से भी अवगत कराती है । बालक ज्यों ही भाषा का प्रयोग करने लगता है उसे अपने को, अपने वातावरण को; तथा अपने से बाहर के पदार्थों, व्यक्तियों, जीवों को समझने की कुंजियाँ मिल जाती हैं, और वह इस नव-प्राप्त-साधन का अधिकाधिक प्रयोग करने लगता है, और इसीलिए संसार को समझ पाता है ।

ज्ञान की वृद्धि में प्रत्ययों (Concepts) का बहुत बड़ा हाथ है । मानव इन्हीं के बल पर ब्रह्माण्ड के गुह्यभण्डार को हस्तगत करता है । कई प्रत्यक्षीकृत पदार्थों और परिस्थितियों में जो सामान्य तत्त्व हैं, उसे निकाल कर मानव ने एक संज्ञा, एक शब्द, एक नाम दे दिया; जिसके कारण उससे मानव का स्थायी परिचय हो गया और सम्पूर्ण से अलग भी उसका महत्व वह समझ सका । पशु भी प्रत्यय से परिचित हो सकते हैं । एक बैल को डंडे से पीटा गया, व्यक्ति से अलग होने पर भी डंडा उसे चोट की याद करा देता है । किसी भी व्यक्ति के हाथ में डंडे देख कर वह डर जाता है, परन्तु पशु का प्रत्यय-ज्ञान भाषा के अभाव में विस्तृत नहीं होने पाता, वह प्रत्यक्षीकृत परिस्थिति और प्रत्यय को समानार्थक समझता है और उसमें इतनी बुद्धि नहीं आ पाती कि दोनों की अनिवार्य समानार्थकता को अलग कर सके और प्रत्यय का स्वतंत्र मूल्य भी स्थापित कर सके । वह डंडा और चोट को एक ही समझता है । इस चोट से डंडे को कभी भी अलग नहीं कर सकता । मानव के भाषा-विकास ने इतनी सुविधा कर दी है कि वह नये-नये प्रत्यय, नवीन परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार, बनाते चला जाता है और जा रहा है । नये-नये शब्द इसी वृद्धि के फलस्वरूप अस्तित्व में आते हैं । मैं यह नहीं कहता कि प्रत्ययीकरण या प्रत्ययों का निर्माण एकमात्र भाषा की ही देन है । वस्तुतः मानव का विकसित मस्तिष्क ही इसका मूल कारण है किन्तु भाषा इसके विकास तथा वृद्धि में सबसे अधिक सहायक है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है ।

मनोवैज्ञानिकों ने शिम्पेजियों पर कई प्रयोग किये हैं और उनकी तुलना मानव शिशु और मनुष्य से की है । कई ऐसी मशीनें हैं जिनमें नियमित

पैसे डालने से उतने मूल्य का निश्चित पदार्थ बाहर आ जाता है, इसे बेचनेवाली मशीन (Vending machine) कहते हैं। शिम्पंजी को इससे भोजन सामग्री लेने की कला सिखलाई जा सकती है। ऐसा होने पर पैसे या संकेतात्मक पदार्थ का मूल्य वह समझ जाता है, किन्तु उसे भोजन से जितना आनन्द मिलता है, उतना पैसे से नहीं, और यदि पैसे से भोजन मिलना बन्द हो जाय तो उसका मूल्य भी समाप्त हो जाता है। मानव की प्रतिक्रिया इससे भिन्न होती है, वह स्वतंत्र रूप में पैसे का मूल्य भी आँकता है और भविष्य के लिए भी उसे रखता है। उसके लिए भोजन से अलग भी पैसे का महत्त्व है। इसी तरह शिम्पंजी को मोटर चलाना भी सिखाया जा सकता है, किन्तु वह एक भयंकर भूल करेगा। यदि लाल बत्ती देखकर मोटर रोक देने का अभ्यास कराया जायेगा तो वह जहाँ कहीं लाल बत्ती देखेगा, रोक देगा। हरी बत्ती देखकर मोटर चलाने का अभ्यास होने पर वह चलाता जायेगा, चाहे इसका जो कुछ भी फल हो। वह यह तो समझ जायेगा कि लाल और हरी बत्तियाँ किस कार्य का संकेत करती हैं; किन्तु चलाते जाने और खड़ी करने का मूल-अभिप्राय वह नहीं समझ सकता।*

शिम्पंजी और मानव के इस अन्तर का मूल कारण क्या है, यह एक विचारणीय विषय है। यदि कोई मनुष्य ऐसे वातावरण में रखा जाय, जहाँ उसे न तो किसी भाषा का ही ज्ञान हो और न मोटर, रुपए-पैसे आदि सामाजिक तत्त्वों का ही; और तब उसे शिम्पंजी के समान बिना भाषा और सामाजिक तत्त्वों का ज्ञान कराये हुए बेचने वाली मशीन से भोजन लेना और मोटर चलाना सिखाया जाय। ऐसी स्थिति में शिम्पंजी में और उस मनुष्य में जो अन्तर होगा, उसका मूल कारण जीवात्मक-विभेद माना जा सकता है। बिना किसी उचित विरोध के यह कहा जा सकता है कि उस स्थिति में वह मनुष्य भी वही करेगा, जो शिम्पंजी। उसके लिए भी पैसे या किसी संकेतात्मक पदार्थ का मूल्य भोजन-सामग्री से स्वतंत्र कुछ नहीं होगा और वह भी उसी तरह लाल बत्ती देख कर मोटर रोकेगा और हरी बत्ती देखकर बिना खतरे की परवाह किये चलाते जायेगा। वास्तव में भाषा की महान् शक्ति के द्वारा मानव समाज के सामान्यतया सारे व्यवहार, और शिक्षा आसानी से ग्रहण कर लेता है और करते जाता है। संकेतात्मक पदार्थों का मूल्य वह कुछ विविध व्यवहारों की प्रतिक्रिया-स्वरूप और बहुत अधिक लोगों से सुनकर जान जाता है। इसी लए बेचने वाली मशीन से भोजन नहीं मिलने पर भी वह उसे फेंक नहीं

* ये प्रयोग श्रीर अनुमान क्रमशः जे० टी० काउल्स (J. T. Cowies) और हायकावा (S. I. Haya kawa) के हैं।

देता । उसके लिए उसका स्वतंत्र-मूल्य-सा हो जाता है । भाषा के बल पर ही, मोटर-चालन की शिक्षा के साथ ही, वह समझ जाता है कि मोटर रोकने और चलाने के क्या फल हैं; और लाल तथा हरी बत्ती किस लिए हैं । शिम्पंजी भाषा के अभाव में मानव-सम्पर्क में आने और रहने पर भी इस ज्ञान से वञ्चित ही रहता है । मनुष्य मनुष्य होने के नाते ही इन चीजों को नहीं जान लेता, वरन् वह वातावरण से सीखता है और इस सीखने-सिखाने में प्रधान साधन है भाषा ।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग श्रम तथा प्रकृति के उपयोग की शक्ति को भी मानव की विशेषता मानते हैं । श्रम थोड़ा बहुत अन्य जीव भी करते हैं । गर्भवती गिलहरी अथवा चिड़िया को घोंसला बनाने के लिए कागज और तिनके ले जाते हुए जिसने देखा है वह इनके परिश्रम का अनुमान कर सकता है । शरीर भारी है, चलने में कठिनाई है, तेज चलने की इच्छा रहते भी बिचारी चल नहीं सकती, तो भी चलती है; किन्तु जल्द ही थक जाती है, क्योंकि घोंसला तो बनाना ही है, और बनाना पड़ेगा । चींटियों का श्रम प्रसिद्ध है । किन्तु मानव के श्रम तथा इनके श्रम में एक अन्तर है । इनका परिश्रम सहज प्रवृत्तियों से ही प्रेरित है इसलिए सीमित है; किन्तु मानव बुद्धि से प्रेरित होकर काम करता है, इसके पीछे बिचार और चिन्तन का योग है । हम मानव के श्रम को सहेतुक कह सकते हैं, और इनके श्रम को सहज । मानव का परिश्रम इसीलिए असीमित है; किन्तु ये कुछ विशिष्ट प्राकृतिक प्रेरणाओं से ही, कुछ खास खास उद्देश्यों से ही मिहनत करते हैं । ये अपनी परम्परा में आगे बढ़ नहीं सकते, वहाँ हैं जहाँ हजारों वर्ष पहले थे । मानव रोज-रोज बढ़ता है । मानवीय श्रम की विविधता केवल इसीलिए नहीं आ सकी कि उसके दो हाथ चलने-फिरने के काम से मुक्त होकर श्रम के लिए ही समर्पित हो गये, वरन् इसलिए आई कि उसके मस्तिष्क के विकास ने उसमें बाहरी प्रतिक्रियाओं को धारण करने की अपार शक्ति दे रखी थी । इससे वह दुःख-सुख को, उनके कारणों को और उन्हें दूर करने के उपायों को याद रख सका और भविष्य की चिन्ता भी करने लगा । अन्य जीव प्राकृतिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर श्रम करते हैं, किन्तु उन प्रेरणाओं का जोर कम हो जाने पर सब कुछ भूल जाते हैं; किन्तु मानव भूलता नहीं, आगे की भी सोचता है । इसीलिए वह संचय भी करता है, और इसके लिए भी परिश्रम करना पड़ता है । जीवों में भी चींटियाँ, मधुमक्खियाँ तथा चूहे संग्रह करते हैं । चूहों का संग्रह अनायास है, उ से वस्तुतः संग्रह नहीं कह सकते । चींटियाँ तथा मधुमक्खियाँ संग्रह करती हैं । चींटियाँ तो खाने लायक वाने पैदा करने वाले पौदों को सेती भी हैं,

भविष्य के लिए अन्न के कण अपनी बिलों में जमा भी रखती हैं। यदि इन बिलों को छोड़ कर अन्यत्र जाने की आवश्यकता पड़ती है तो इन कणों को साथ लेकर जाती हैं। मधुमक्खियां फूलों के रस से मधु बनाकर अपने छत्तों में सुरक्षित रखती हैं। परन्तु इनका यह संग्रह भी सहज है, इसीलिए विकासमान नहीं है, परन्तु मानव का संग्रह सहज नहीं है, वह बुद्धि का फल है, भावी की चिन्ता से उत्पन्न है। इसीलिए विकासमान है।

जीव-मात्र को समय पर भूख लगती है और भूख लगने पर विशिष्ट क्रियाओं की प्रेरणा होती है, तथा वह आहार खोजने के लिए निकलता है। पेट भर जाने पर आहार की चिन्ता नहीं करता और शांत हो जाता है। यह जन-प्रवाद है कि पेट भरे रहने पर व्याघ्र सामने दिखलाई पड़ने वाले जीव पर भी आक्रमण नहीं करता। किन्तु मानव की धारणा-शक्ति विकसित है, इसलिए वह भूख लगने पर ही प्रेरित नहीं होता, एक शाम खा लेने पर ही दूसरे शाम की चिन्ता करने लगता है, उसकी क्रियाओं और श्रम की प्रेरणा सदा बनी रहती है। इसके साथ ही प्रकृति ने उसे कुछ ऐसी कमजोरियां दे रखी हैं, जिनके कारण उसे भूख लगने पर ही भोजन का सामान ढूँढ़ लेना सरल नहीं होता। शेर शिकार करके अपना पेट भर लेता है, घास नहीं खाता, किन्तु प्रकृति ने उसके पंजों में अपार शक्ति दे रखी है, जिससे किसी भी पशु का शिकार कर लेना उसके लिए सरल है। फल और घास खाने वाले जीव अपना आहार खनों में और मंदानों में ढूँढ़ लेते हैं; किन्तु मानव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह भूख लगने पर ही शेर की तरह शिकार करने निकले और अपना निर्वाह कर ले अथवा घास चर ले या बन्दर की तरह पेड़ों पर उछलता फिरे। कई जीव भोजन के अभाव में महीनों सोये रहते हैं।* मँडक, घोंघे आदि की यही स्थिति है; परन्तु मानव ऐसा भी नहीं कर सकता। मानव के प्रधान खाद्य अन्नादि अपने-अपने ऋतुओं में ही होते हैं, वे प्राकृतिक-स्थिति में सदा नहीं मिला करते। एक ओर उसकी स्वाभाविक प्रकृति-प्रदत्त कमजोरियों और दूसरी ओर बुद्धि, स्मरण-शक्ति के विकास ने मिलकर उसको संचयी तथा संग्रही बना दिया। संग्रह श्रम से ही सम्भव है। इसीलिए संचय करने के लिए उसे बुद्धिपूर्वक श्रम करना पड़ता है। इससे उसकी मूल या प्राकृतिक आहार-प्रणाली और श्रम-पद्धति ही बदल गई है। अब वह न तो प्राकृतिक-पदार्थ खाकर ही जी सकता है और न आवश्यकता भर संचय करने योग्य परिश्रम करके ही सन्तुष्ट रह सकता है। अब संचय और श्रम का स्वतंत्र मूल्य हो गया है, और वे बहुत कुछ अंशों में अपना उद्देश्य आप बन गये हैं।

* इसे प्राणिशास्त्री hibernation कहते हैं।

अन्य जीव अपनी रक्षा, आहार आदि के लिए अपने शरीर के अंगों का ही प्रयोग करते हैं। दांत, नख, चोंच आदि ही इनके अस्त्र हैं। प्रकृति ने इनके इन अंगों में आवश्यकता के अनुसार शक्ति दे दी है, किन्तु मानव के ये अंग निर्बल हैं, और इनके बल पर ही वह जीवित नहीं रह सकता। उसने सभ्यता के प्रथम सोपान पर उस समय पैर रखा, जब वह भौतिक पदार्थों को अस्त्र-रूप में प्रयोग करना जान गया। बनमानुस और बन्दर लाठी, ढेले आदि का थोड़ा-थोड़ा प्रयोग कर लेते हैं। एल० ए० ह्विट ने ठीक ही कहा है कि “जीव-विकास के सोपान में उनका यह अस्त्र-प्रयोग अव्याहत विकास का ही नहीं, वरन् आन्तरिक और बाहरी दोनों दृष्टियों से, एक व्याप्त मनोवैज्ञानिक गतिक्रम के अन्तर्गत आता है।”*

इसका सरल शब्दों में अर्थ यह है कि बन्दर से कम विकसित जीवों में ऐसी कोई क्रिया नहीं पाई जाती, जिसके विकासस्वरूप बन्दरों का अस्त्र-प्रयोग माना जा सके। यह एक नया ही तत्त्व है, जिसकी समता अन्य जीवों में नहीं मिलती। आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा और वाह्य पदार्थों की प्रतिक्रिया दोनों दृष्टियों से यह बेजोड़ चीज है। चाहे जो हो, बन्दर का यह अस्त्र-प्रयोग क्षणस्थायी और क्षणिक प्रेरणा-मात्र है। उसके हाथों की उँगलियाँ अन्य जीवों की अपेक्षा विकसित होती हैं, इसलिए उनसे वह कोई पदार्थ पकड़ सकता है और पकड़ कर उठा सकता है। किसी पर चलाने के लिए वह सामने पड़ी हुई चीज या पेड़ की टहनी तोड़कर चला देता है। इस काम के लिए वह न तो कोई अस्त्र तैयार करता है, न साथ रखता है और न भविष्य की आवश्यकता के लिए कहीं जमा ही करता है। इस दृष्टि से बन्दर के बाद भी मानव के अस्त्र-प्रयोग का गतिक्रम अव्याहत नहीं व्याप्त ही है। हम इसे बन्दर का ही विकास नहीं मान सकते! वह भी एक स्वतंत्र तत्त्व है। परन्तु जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, आन्तरिक दृष्टि से अस्त्र का अनुभव अव्याहत और क्रमबद्ध है।† क्योंकि अस्त्र मानव का प्रतीक भी है, जिसे वह आगे आनेवाली पीढ़ी को विरासत में दे जाता है।

यह व्याप्त-तत्त्व क्योंकर सम्भव हुआ? किस आन्तरिक-शक्ति के बल पर मानव अस्त्रों का प्रयोग करने लगा? इसका उत्तर मानव के उसी विकसित

* Tool using among apes is thus discontinuous psychological process, subjectively as well as objectively—Quoted by M. Sharif—An Outline of Social Psychology, P. 194.

† With man, tool-experience is quite different. Overtly tool-using is a discontinuous process, as of course, it must be. But subjectively tool-experience in man is continuous and enduring. Ibid—P. 193.

मस्तिष्क में हैं, जिसने अन्य जीवों के; और विकसित बनमानुसों के भी विपरीत प्रत्यक्षीकृत परिस्थिति से प्रत्यय निकालने या ग्रहण करने की शक्ति दे रखी है। मानव ने अस्त्रों के उपयोग में आनेवाले पदार्थों का मूल्य और स्वतन्त्र अस्तित्व समझा, और उनका स्वामी हो गया। पत्थर के टुकड़ों और डंडों से चोट खाकर उसने इनकी आघात-कारिणी शक्ति का आभास पाया; और इनका उपयोग करने लगा। नुकीले टुकड़ों से अधिक चोट लगते देख पत्थरों की कुल्हाड़ियाँ बनाने लगा; और इस दिशा में आगे बढ़ता गया। इसी अल्प-आरम्भ के बल पर ही वह प्रकृति का स्वामी है। उसने प्रकृति के दाँत तोड़ लिये हैं और उसे अपनी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार नचाता है। परन्तु श्रम, संचय, अस्त्र-प्रयोग, प्रकृति का विराट् उपयोग उसके जन्मजात गुण नहीं हैं। इन्हें उसने अपनी इसी असहायावस्था, मस्तिष्क के विकास तथा भाषा की शक्ति के द्वारा धीरे-धीरे प्राप्त किया है; और केवल इन्हीं के बल पर वह इस योग्य बन सका है कि व्यास के शब्दों में हमें कहना पड़ता है कि 'नहि मनुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'—मनुष्य से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।

पैतृकता तथा प्राणि-तत्त्व

जीव तथा वनस्पति जगत् में पैतृकता का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। गाय का बच्चा बछड़ा ही होगा तथा गेहूँ के बीज से गेहूँ ही पैदा होगा। इसी प्रकार मनुष्य की संतान मनुष्य ही हो सकती है। इतना ही नहीं, जीव की जाति (Species) के भीतर भी विभिन्नता की परम्परा पैतृकता से रक्षित रहती है। जानवरों में दूध देने वाली गाय से दूधारू पैदा होती है तथा तगड़े सांडू से मजबूत बछड़ा। उपयोगी पशुओं में नस्ल-सुधार की योजनायें इसी आधार पर चलाई जाती हैं। खट्टे पेड़ का आम खट्टा होता है, तथा मीठे पेड़ का फल मीठा ही निकलता है। मानव में भी इस पैतृकता का महत्व वैज्ञानिकों-विशेषतया डाक्टरों के यहाँ, बहुत बड़ा माना जाता है। एक प्रजाति (race) के व्यक्ति का आकार-प्रकार दूसरे से भिन्न होता है, जिससे उसे हम आसानी से पहचान लेते हैं। ऐसा देखा जाता है कि बहुत से रोग-प्रधानतया नेत्र-रोग तथा रक्त-रोग, पैतृक होते हैं। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि बीच की एकाध पीढ़ियों में सुप्त रोग भी जाग्रत हो जाता है, यह पैतृकता की महाशक्ति का एक प्रबल प्रमाण है।

ऐसा कहा जाता है कि समान से समान की उत्पत्ति होती (Like begets like)। रक्त का प्रभाव इन्हीं कारणों से प्राचीन काल से ही आजकल बहुत अधिक माना जाता है। नृविज्ञानी ग्रंथ और रक्त की परीक्षा से नृवंश या

प्रजाति का निर्णय किया करते हैं। कभी-कभी अपरिपक्व मस्तिष्क वाले आदमी की सन्तान भी अपरिपक्व होती है।

मंडल आदि विद्वानों ने इस संबंध में बहुत अधिक गवेषणा की है कि किन-किन रूपों में पूर्वजों का प्रभाव संतानों पर पड़ता है।

शरीर तथा व्यक्तित्व—जिस प्रकार मानव के व्यक्तित्व का प्रथम अंग-वाह्य रूप-माता-पिता से ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि, उद्वेग तथा चरित्र भी अप्रत्यक्ष रूप में अपना मूलभूत साधन पैतृकता से ही ग्रहण करते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि हमारे ज्ञान तथा क्रिया उत्पन्न करने में नाड़ियों का बहुत बड़ा भाग है। ये उत्तेजनाओं (Stimuli) को ग्रहण करने तथा प्रतिदान देने में पूर्णतया समर्थ हैं, ये नाड़ियाँ सारे शरीर में फैली हुई हैं। आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नाड़ियाँ ही प्रकाश, रंग, शब्द आदि का अनुभव कराती हैं। इन नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर के भीतर की गिल्टियों से हैं। ये गिल्टियाँ एक प्रकार का रस उत्पन्न करती हैं जो शरीर के विभिन्न क्रियाओं में बहुत उपयोगी होते हैं।

गिल्टियाँ (glands) भी दो प्रकार की होती हैं, प्रणाली युक्त (glands with ducts) और प्रणाली विहीन (ductless)। आज के शरीर विज्ञान की अमूल्य देन इन प्रणाली-विहीन ग्रन्थियों का ज्ञान है जो हमारे सम्पूर्ण आन्तरिक जीवन के संचालन में बहुत अधिक सहायक हैं। ग्रन्थियाँ जो रस उत्पन्न करती हैं, उसे ग्रन्थिरस (hormone) कहते हैं। ये विविध रस हैं। प्रणाली युक्त ग्रन्थियों का रस (होरमोन) सीधे रक्त में मिल जाता है। कंठ या टेटुआ (larynx) के पास अवस्थित कण्ठमणि (thyroid) नामक प्रणाली विहीन ग्रन्थि से द्रवित रस थायरोक्सिन (thyroxin) श्वास की गति बढ़ाता है तथा शरीर का पोषण करता है। यह प्रेम तथा उत्साह में अधिक चूता है। गुर्दा के निकट की ऐड्रिनल से द्रवित ऐड्रिनलिन रस (Adrenalin hormone) रक्त के जमने में तीव्रता करता है, स्फूर्ति देता है, उत्तेजना में अधिक सहायक होता है। मस्तिष्क के नीचे की नली से लटकी हुई पिट्यूटरी (Pituitary) नामक दो ग्रन्थियों से एक का रस यौन तथा यौन-सम्बन्धी क्रियाओं और इच्छाओं का संचालन करता है। इसी प्रकार पीनियल का रस लिंगभेद का ऊपरी भेद स्थापित करने में सहायक है। पुरुष में दाढ़ी-मूँछ और स्त्रियों का स्तन इसी रस का फल है।

इस तरह हम देखते हैं कि मानव के आन्तरिक जीवन-उद्वेग, प्रकृति (temperament) आदि, के निर्माण में भी शरीर के विभिन्न अवयवों का

बहुत अधिक उपयोग होता है। परन्तु इन अवयवों को हम कहाँ से पाते हैं ? माता-पिता से ही तो ? ऐसी स्थिति में पैतृकता का मानव के निर्माण में कितना हाथ है, इसका आभास हमें मिल जाता है।

इस स्थान पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है—पैतृकता परम्परा की रक्षा किस प्रकार करती है और उसमें जो परिवर्तन होते हैं; वे कैसे होते हैं ? हमें प्राणिशास्त्र में डूबना नहीं है। एक समाज-शास्त्र का विद्यार्थी इन प्राणिशास्त्र के साधारण नियमों को केवल इसलिए ही स्पर्श करता है कि वे व्यक्तित्व तथा विभेद के कारणों का एक रूप स्पष्ट करते हैं, और वे विभेद समाज से आदर, घृणा आदि से सम्बन्धित हो जाने से हमारे विषय के अन्तर्गत आ जाते हैं; अस्तु, हमें यथासाध्य संक्षिप्त रूप से ही संतोष करना पड़ेगा।

इतना तो स्पष्ट है कि परम्परा वीर्य-कोट-कोष (germ-cells) से सुरक्षित रहती है; परन्तु आज के विज्ञान ने जीवाणु सूत्रों (Chromosomes) के अध्ययन से इस विषय को और गहरा बना दिया है। ये जीवाणु सूत्र माला के समान होते हैं, जिनमें दानों की तरह परमाणु की आकृति के एक अत्यन्त छोटे पदार्थ चिपके रहते हैं, इनको जीवाणु या गिनी (genes) कहते हैं। एक जीवाणु सूत्र में प्रायः ६ हजार से भी अधिक जीवाणु होते हैं। इस सम्बन्ध में मानव पर बहुत ही कम प्रयोग हुए हैं, इसमें थोड़ी कठिनाई भी है; परन्तु मुर्गी पर और सबसे अधिक फलों की मक्खी पर काफी अन्वेषण हुए हैं। यह निश्चित कर लिया गया है कि किन-किन गिनी का शरीर पर कौन-सा असर पड़ता है। इसका पता लगा लिया गया है कि केवल आँख का रंग उत्पन्न करने के लिए अनेक गिनियों का सम्मिलित प्रभाव आवश्यक है। ऐसी स्थिति में परिवर्तन की गति अवश्य ही तीव्र नहीं होगी।

पैतृकता तथा उत्परिवर्तन (Mutation)—ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे शंका हो सकती है कि पैतृकता स्थायी तत्त्व है; और इससे परिवर्तन की कहीं भी गुंजाइश नहीं है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। परिवर्तन के साधन मौजूद हैं, जो थोड़ा-बहुत अन्तर उत्पन्न करने की सतत चेष्टा में रहते हैं। ये अन्तर दो प्रकार के होते हैं, एक प्रकार के अन्तर अस्थायी होते हैं और व्यक्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, परम्परागत नहीं हो पाते। परन्तु कुछ परिवर्तन ऐसे हैं, जो परम्परा में आ जाते हैं, इनको प्राणिशास्त्री उत्परिवर्तन (Mutation) कहते हैं। कभी-कभी उत्परिवर्तन एक नया प्रकार (Subtype) या नई कोटि का निर्माण कर दिया करते हैं। इन उत्परिवर्तनों को भी पैतृकता ही होती है, और आगे बढ़ाती है। ये परिवर्तन जीवाणु में होते हैं; परन्तु अनेक गिनियों से एक रूप

(traits) बनता है; अस्तु, अन्तर आना आसान नहीं है। हाँ, गिनियों में सबकी समता समान नहीं होती, और विशिष्ट गिनियों का परिवर्तन अपने कुछ-कुछ अन्तर को स्पष्ट होने में दीर्घ काल लेता है। अनुमान लगाया गया है कि दस से बीस पीढ़ियों में अर्थात् कम-से-कम ४०० वर्षों में एक अन्तर जन-संख्या में फैलने लगता है।

प्राचीन काल में मानव का जीवन कष्टपूर्ण था, एक ओर अन्तर्विवाह के कारण उपयुक्त परिवर्तनों को परम्परा में आने की सुविधा थी तथा दूसरी ओर प्रकृति पर निर्भर रहने के कारण अतिपरिवर्तन विनाश का कारण था।

ये परिवर्तन दोनों प्रकार के हो सकते हैं। उनसे जीवन में सुविधा भी हो सकती है और असुविधा भी। किसी कारणवश एक व्यक्ति की आँख छोटी हो गई या कमजोर हो गई। उसने ऐसी स्त्री से सन्तानोत्पादन किया, जिसकी भी वही स्थिति है, तो सम्भव है दृष्टि-दोष परम्परागत वस्तु बन जाय। पुराने जमाने में शिकारी जीवन व्यतीत करनेवाले के लिए नेत्र रोग का अर्थ था मृत्यु। इसी प्रकार कर्ण-दोष भी शिकार में दृष्टि-दोष से भी अधिक मृत्यु का कारण हो सकता था। अस्तु, उस समय इन दोषों से परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं थी।

याद रहे, प्रयोग तथा अनुभव बतलाते हैं कि मध्यम को ही जीवन की अधिक सुविधाएँ मिलती हैं। आँधियों में छोटे तथा सामान्य से अधिक ऊँचे पेड़ दोनों अधिक नष्ट होते हैं, मध्यम ऊँचाई वाला ही बचा रहता है। नाट्य व्यक्ति कमजोर होता है, औसत से अधिक लम्बा शीघ्र वृद्ध हो जाता है।

आज यदि कोई ऐसा परिवर्तन हो जो जीवन में थोड़ी कठिनाई उत्पन्न करे तो दवा तथा अन्य सुविधाओं के कारण वह जीवित रह सकता है और उसी परिवर्तन वाले विपरीत यौन के व्यक्ति से मिलकर उसे आगे बढ़ा भी सकता है, परन्तु आज विवाह का क्षेत्र व्यापक हो जाने के कारण समाज में इस परिवर्तन के संयोग की कम सम्भावना रहती है।

विकासवाद की भित्ति परिवर्तन तथा निर्वाचन पर ही आधारित है। चाहे जो हो, इस परिवर्तन की गति इतनी मन्द है कि हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक काल में, नये हिम-प्रलय के बाद से १५००० वर्षों में, मानव में कोई ऐसा विशेष परिवर्तन नहीं हुआ जिसे स्पष्ट परिलक्षित (discernible), स्थायी या मौलिक परिवर्तन कह सकें।

निर्वाचन तथा अभिजनन - शास्त्र (Eugenics)—हमने देखा कि मौलिक-परिवर्तन मानव इतिहास में इतना अल्प है कि उसे मुहावरे की भाषा में कह सकते हैं कि वह अनुवीक्षण-यंत्र से ही देखा जा सकता है, परन्तु

पंतुकता की शक्ति के कारण निर्वाचन का फल सद्यः दिखाई पड़ जाया करता है । निर्वाचन भी प्राकृतिक और मानवकृत दोनों प्रकार का हो सकता है । नवीन परिस्थिति तथा आवश्यकता के सम्मुख जिनको टिकने की शक्ति होती है, वही टिकते हैं, शेष स्वतः नष्ट हो जाते हैं, यह प्राकृतिक निर्वाचन (natural selection) है । मानव भी जान-बूझकर योग्य से ही सन्तानोत्पादन करता है, यह मानवकृत निर्वाचन है । जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, प्राचीन काल के जीवों में तथा मानव में भी प्राकृतिक निर्वाचन अधिक जोरदार था । जंगली जीव अपनी कमजोरियाँ लेकर जीवित नहीं रह सकते । लंगड़े या अन्धे वन्य पशु शीघ्र ही प्रबल हिंसक जीवों के शिकार बन जाते हैं । मनुष्य भी दृष्टि-दोष तथा कर्ण-दोष लेकर मृगया-जीवन में नहीं जी सकता था, यह कहा जा चुका है । अभी भी असभ्य स्किमो लोगों में बूढ़ा, बीमार और घायल मरने के लिए छोड़ दिया जाता है, क्योंकि इस जाति के लोगों के पास न तो दवा-दारू का प्रबन्ध है, और न असमर्थ पंगु लोगों के पालन पोषण तथा सेवा का साधन । परन्तु सभ्यता ने प्राकृतिक-निर्वाचन की शक्ति बहुत ही कम कर दी है । पालतू पशु असमर्थ तथा कमजोर होने पर भी दवा, सेवा आदि के द्वारा जीवित रखे जाते हैं । पंगु तथा विकलांग की सहायता की जाती है ।

इस सभ्यता ने प्राकृतिक परिवर्तन को सीमित तो किया है, पर मानवकृत निर्वाचन के लिए रास्ता साफ कर दिया है । नस्ल-सुधार के प्रयोग दिनानुदिन बढ़ रहे हैं तथा इसमें सफलता भी बहुत अधिक मिली है । उच्च कोटि की अधिक दूध देनेवाली गायें, अधिक मांसल सूअर इसके परिणाम हैं । वनस्पतियों में तो कलम की महिमा बहुत पुराने जमाने से मानी जाती है ।

पशु तथा पौधों में इस प्रकार की सफलता देखकर कुछ विद्वान, मनुष्यों पर भी इसके प्रयोग करने लगे हैं, और वे सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान मानव-जाति के भविष्य की कल्पना से उत्फुल्ल हो उठते हैं । उनका कहना है कि सन्तानोत्पादन के लिए स्वस्थ तथा योग्य स्त्री-पुरुषों को ही अधिकार मिलना चाहिए । जो कमजोर, अरिपक्व, विकलांग या विकृष्ट हैं, उन लोगों को या तो अलग कर दिया जाय अथवा चौर-फाड़ के द्वारा सन्तानोत्पादन की शक्ति से वंचित कर दिया जाय । इस विचार के लोग यूजैनिक या अभिजनन-शास्त्री कहलाते हैं । जर्मन विद्वान वीजमैन उनमें सबसे प्रमुख हैं ।

परन्तु इनकी आशा के सम्बन्ध में कई शंकायें उठ खड़ी होती हैं । सबसे प्रथम शंका है—योग्य की कसौटी क्या हो ? कुछ की दृष्टि में मोटा-तगड़ा शरीर ही परमात्मा की सबसे बड़ी देन है । जो स्वस्थ है, तगड़ा है,

वही सबसे भाग्यवान है। प्राचीन काल के स्पार्टा निवासी और मालव की विचारधारा आज भी जीवित है, विशेषतया सैनिकों में। दूसरे प्रकार के लोग बुद्धि को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं और कुछ लोग ईमानदारी, नम्रता और भलमनसाहत को। पशु तो मनुष्यों के उपयोग के लिए हैं। उनके जिस रूप से हमारा सबसे अधिक मतलब निकलता है, वही सर्वोपरि है। परन्तु मानव उलझा जीव है, अस्तु, उसकी योग्यता और अयोग्यता की कसौटी निर्धारित करना एक प्रकार से असम्भव ही है।

दूसरी शंका है मनुष्य के सम्बन्ध में इस चीज की सफलता पर ही। सबसे अच्छा उदाहरण है मस्तिष्क की विकृति का। हमारी प्रायः ग्यारह प्रतिशतक विकृतियाँ पैतृक हैं। परन्तु शेष को उत्पन्न करनेवाली सामाजिक परिस्थिति तथा जीवन का उतार-चढ़ाव है; जिस पर अभिजनन-शास्त्र का कोई वश नहीं चल सकता। पशु अपनी प्राकृतिक भूख से ही पीड़ित होते हैं; तथा उनके निवारण से उनकी पूर्ण तृप्ति हो जाती है, वे प्रसन्न रहने लगते हैं; परन्तु मानव की भूख, आशा-निराशा, प्रफुल्लता-उदासी का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। स्थूल से सूक्ष्म अधिक है, जितना बाह्य (objective) है, उतना ही आन्तरिक तथा अन्तःकरण पर निर्भर (Subjective) भी है। यदि माता-पिता के स्वास्थ्य, मानसिक भावना का प्रभाव संतान पर पड़ेगा तो गर्भविस्था के समय माता की क्या स्थिति होगी, कौन कह सकता है? इसके साथ ही दुबले-पतले माता-पिता की मोटी-तगड़ी संतान तथा स्वस्थ माता-पिता के दुर्बल बच्चे भी समाज में बहुत अधिक मिलेंगे। वस्तुतः प्रयोगशाला के पौधों तथा जीवों से खुले मैदान के पौधे तथा जीव ही भिन्न हैं, मानव तो नितान्त भिन्न है। हाँ, इतना हो सकता है कि अभिजनन-शास्त्र से हमस्वस्थ जाँच-पड़ताल के पश्चात् विवाह की प्रेरणा ले; पर अधिक की आशा करना व्यर्थ है।

पैतृकता और वातावरण अथवा प्रकृति बनाम पोषण

(Nature versus Nurture)

मानव का निर्माण वातावरण और पैतृकता दोनों मिलकर करते हैं, प्रकृति और पोषण दोनों का उस पर नियंत्रण है। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण कौन है, यह प्रश्न वर्षों से प्रचण्ड रहा है। विद्वानों का एक दल पैतृकता को प्रधान मानता है और दूसरा दल पोषण और वातावरण को। दोनों अपने अपने मत के लिए दलीलें देते हैं।

पैतृकतावादियों में प्रमुख फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) तथा प्रमुख मनोवैज्ञानिक मैकडूगल आदि हैं। उनकी दलीलें संक्षेप में निम्न हैं:—

(१) यद्यपि अन्य वर्गों में भी कभी-कभी प्रतिभावान व्यक्ति हो सकते हैं, परन्तु बुद्धिजीवी माता-पिता से प्रतिभा के विकास की अधिक सम्भावना है । जो वर्ग समाज के उच्च-व्यवसाय में लीन है, उसमें महापुरुष सबसे अधिक पैदा हुए हैं । राजकीय परिवार में अनुपात से अधिक महान-पुरुष पैदा हुए, तथा संयुक्त राष्ट्र में—जहाँ राजकीय परिवार का अस्तित्व ही नहीं रहा, सबसे अधिक पादरियों में हुए, तत्पश्चात् व्यवसायियों में, तब किसानों में और सबसे कम श्रमजीवियों में । विज्ञान के विद्वान् व्यवसायी-वर्ग में सबसे अधिक हुए । इसके विपरीत चोरी आदि विकारों से ग्रस्त मनुष्य प्रधान-तया समाज के निम्न स्तरों से ही आते हैं । ये विद्वान इन सबों का श्रेय पंतुकता को ही देते हैं ।

(२) विभिन्न वर्गों, वंशों और प्रजातियों (races) के बालकों की जब मनोवैज्ञानिक परीक्षा की जाती है, तब उनमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है । सामान्यतया प्रसिद्ध वंशों के बालकों की बुद्धि-मात्रा (Intelligence quotient) बलियों के बालकों से बहुत अधिक होती है । अमेरिका में ही गोरों के बालक हबिश्यों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होते हैं ।

(३) लेमार्क का कहना है कि जीव, जो कुछ ग्रहण करता है, अपनी सन्तान को दे जाता है । इसी आधार पर उसने भविष्य का एक सुन्दर चित्र अपनी कल्पना से खींच रखा था । उसके विचार से मानव का आयु-मान तो घट जायेगा, परन्तु उसका ज्ञान-भण्डार बहुत विस्तृत हो जायेगा । इसलिए नहीं कि उसे सीखने का अधिक अवसर मिलेगा; वरन् इसलिए कि शिक्षित माता-पिता की सन्तान वहीं से आरम्भ करेगी, जहाँ से उन्होंने छोड़ा था ।

इन प्रमाणों को उस रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, जिस रूप में ये पेश किये जाते हैं । यदि हम इनका विवेचन और विश्लेषण करें तो इनमें वातावरण और पोषण का भी काफी हाथ दिखाई पड़ जाता है । अभी तक विज्ञान ने कोई ऐसा यन्त्र या साधन नहीं निकाला है जिससे पंतुकता और वातावरण द्वारा उत्पन्न गुणों को अलग-अलग करके नापा जा सके । विभिन्न वर्गों, समाजों और समुदायों में जो उपलब्धियों और योग्यताओं का विभेद दिखाई पड़ता है, वह एकमात्र पंतुकता की ही देन है, वातावरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः ये दोनों की सम्मिलित देन के फल हैं । माता-पिता अपनी सन्तान को जन्म देकर ही नहीं छोड़ देते, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध करते हैं । उनके सन्निर्णय का जो ज्ञात और अज्ञात संस्कार बालक पर पड़ता है, उसका महत्त्व किसी भी स्थिति में भुलाया नहीं जा सकता ।

युगों से ब्राह्मण और पादरी-परिवार ज्ञान-विज्ञान और विद्या के केन्द्र रहे हैं। गत सदी तक समाज की शिक्षा का सारा उत्तरदायित्व धर्मतंत्र तथा मठतंत्र निभाता था जिनके कर्त्ता-धर्त्ता पण्डित, मौलवी तथा पादरी ही थे। ऐसी स्थिति में उनकी सन्तान अधिक विद्वान् हो तो आश्चर्य ही क्या है? इसी तरह समाज की सारी बागडोर राजकीय-परिवारों के हाथों में ही रहने के कारण इनसे ही महान्-पुरुषों का पैदा होना भी स्वाभाविक था। जो सुविधाएँ इन्हें प्राप्त थीं, वे दूसरों को मिल कैसे सकती थीं?

आधुनिक युग में वैज्ञानिक व्यवसायी वर्ग से अधिक निकल रहे हैं, पादरी-वर्ग से कम। यदि व्यवसायी बनने से ही ऐसे गुण आ जाते हैं, जिनसे उनके धीर्य-कीट में ही वैज्ञानिकता घुस पड़ती है तो प्राचीन काल में जबकि विज्ञान बुद्धि का विषय था, उपयोग और शिल्प का कम, तब इस वर्ग में वैज्ञानिक क्यों नहीं होते थे? पुरोहित-वर्ग में ही उनकी संख्या अधिक क्यों थी? भारत के व्यापारी-वर्ग में वैज्ञानिकों का अभाव क्यों है? हमारे यहाँ डा० भाभा जैसे एकाध को छोड़ कर सारे वैज्ञानिक बुद्धि-जीवी समाज में ही क्यों पैदा हुए? वास्तव में इसका कारण पतृकता नहीं, समाज और वातावरण है। आधुनिक विज्ञान उद्योग और शिल्प के साथ सम्बद्ध हो गया है। आज व्यवसायी उद्योगपति हैं, उत्पादन के साधनों के नियामक और संचालक हैं। बुद्धि-जीवी अपने काव्य, कला और दर्शन लेकर पड़े रहे। व्यवसायियों ने अध्ययन की सुविधा और उपयोग के अवसर मिलते ही विज्ञान पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। भारत का पूँजीवाद ब्रिटेन के उद्योग की दुम में बँधे रहने के कारण हमारे व्यवसायी-वर्ग को वैसा अवसर नहीं दे सका। आज हमारे पूँजीवादी स्वतंत्र हो रहे हैं, बहुत शीघ्र ही उनमें भी विज्ञान का प्रकाश जगेगा।

विभिन्न बंशों आदि की मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं में जो अन्तर ज्ञात हुआ है, वह भी पतृकता की अपेक्षा वातावरण की ही देन अधिक है। अमेरिका के ह्विशियों और गोरों की जो तुलना की गई है, और उसके आधार पर पतृकता का जो समर्थन किया गया है, उसमें यह बात भुला दी गई है कि काले लोगों के वातावरण और साधनों में तथा गोरों को प्राप्त-सुविधाओं में कितना अन्तर है। इनका कितना श्रेय रंग, नस्ल और प्रकृति को, और कितना सन्निकर्ष को है, कौन कह सकता है?

लेमार्क के सिद्धान्त का खण्डन वीजमैन (Weizmann) ने ही बड़ी सफलता से किया है। उसका कहना है कि शारीरिक प्रभावों से कोट-कोष (germ cells) बहुत अच्छी तरह सुरक्षित हैं। यही कारण है कि जीव में मौलिक परिवर्तन बहुत कम होता है।

पैतृकतावादियों के समान वातावरणवादी भी अपने विचारों में दुराग्रही हैं। इनमें जॉन वाटसन का स्थान प्रधान है। आपका कहना है कि 'मुझे एक वर्जन स्वस्थ युवक दे दो, और अपनी विशिष्ट दुनिया में उनका पालन-पोषण करने दो। मैं गारन्टी दे सकता हूँ कि अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें वकील, कलाकार, व्यापारी, जो चाहूँ, बना सकता हूँ।' आपने प्राकृतिक प्रवृत्ति को बिल्कुल भुला दिया है। वे एक टेंढ़ी उँगलीवाले को चित्रकार नहीं बना सकते। वातावरण के पक्ष में निम्न दलीलें पेश की जा सकती हैं—

(१) वातावरण अपना काम जन्म के साथ ही और शायद पहले ही आरम्भ कर देता है। ऐसी स्थिति में पैतृकता का मूल्य बहुत कम है।

(२) गत सौ वर्षों में योरप और अमेरिका का आयुमान ५० से ७५ हो गया है। हर्वर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अपने पिता से डेढ़ इंच औसतन लम्बे हुए हैं, तथा १९११-१९३१ के बीस वर्षों में बारह वर्ष के बालकों की औसत ऊँचाई लीड्स के स्कूल में ४ फीट ४ इंच से ४ फीट ७ इंच और वजन ७३.५ पौ० से ७४.४ पौ० हो गया है। इसके विपरीत भारत की नई पीढ़ी दिनानुदिन कमजोर होती जा रही है। उसका आयुमान घट रहा है, ऊँचाई कम हो रही है, यद्यपि कई पीढ़ियों से पैतृकता में अन्तर की कोई सम्भावना नहीं है। इसी से हिन्दू इस युग को कलि-युग कहते हैं।

निश्चय है कि योरप की वृद्धि का कारण भोजन की सुविधा, दवा आदि का प्रबन्ध है और इसके विपरीत भारत की दरिद्रता, रोगों की वृद्धि, पौष्टिक भोजन का अभाव शारीरिक ह्रास का कारण है।

(३) वातावरण के अन्तर से कई जीवात्मक और स्वभावगत अन्तर आ जाते हैं, इसका भी प्रयोग हुआ है। जलवायु के परिवर्तन से फल की मक्खियों के बच्चों के पंखों की संख्या घटती-बढ़ती है। परन्तु मूल जलवायु में पूर्ववत् हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गिनी में बिना परिवर्तन के भी श्रंगों में परिवर्तन हो सकता है।

वातावरण के परिवर्तन और कृत्रिमता के आधार पर केवल वनस्पति और कीट-जगत में ही अन्तर नहीं आता, पशु-जगत पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। बहुत-से जीव जो जंगली अवस्था में केवल ऋतु-काल में ही मिला करते हैं, पालतू हो जाने पर अपनी प्रकृति बदल देते हैं, ऋतु का पालन नहीं कर पाते। जंगली तीतर एक पत्नी-व्रती होता है, केवल निश्चित जोड़े से ही मिलता है, किन्तु पालतू अपना व्रत तोड़ देता है। घोड़ा बन्धनों के कारण ऋतु का विचार ही नहीं करता।

पंतुकता और वातावरणवादी दोनों अपने-अपने पक्ष में जो दलीलें और प्रमाण देते हैं, वे एकांगी हैं। वास्तव में दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि हम एक को दूसरे से अलग नहीं कर सकते। पंतुकता वह मिट्टी है जिससे बर्तन आदि बनाये जाते हैं। वह चिकनी होगी या खुरड़ी, बालूदार होगी या कंकड़ीली, यह मिट्टी की प्रकृति पर निर्भर है, परन्तु उस मिट्टी को रूंधना, सानना, साफ करना, गीली बनाना एवं गढ़ना कुम्हार का काम है। यदि उसने प्रयत्न नहीं किया तो अच्छी मिट्टी भी सुन्दर बर्तन नहीं बना सकती और यदि मिट्टी बालूदार हुई तो उससे सुराही ही बन सकती है, हंडी नहीं। यदि हंडी बनाने की चेष्टा की गई तो आंच लगते ही गल जायेगी। यह कुम्हार, वास्तव में, वातावरण और पोषण ही है।

दोनों का समन्वय जुड़वाँ बच्चों के अध्ययन में अधिक स्पष्ट हो जाता है। आज प्रायः ५० वर्षों से युग्मों का अध्ययन होता आ रहा है। जुड़वाँ दो प्रकार के होते हैं—(१) पंतुक-युग्म (Dizygotic)—एक-सी आकृति नहीं होने से ऐसा जान पड़ता है कि वे विभिन्न गर्भाशयों (Ova) से उत्पन्न हैं। (२) समाकृति-युग्म (Monozygotic)—आकृति की समानता बतलाती है कि वे एक ही गर्भाशं से उत्पन्न हैं। यदि पंतुकता ही एक मात्र निर्णायिका शक्ति होती तो पंतुक-युग्मों के स्वभाव, योग्यता आदि में भले अन्तर होता, परन्तु समाकृति-युग्मों में कभी भी विभेद नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु ऐसी समानता कहीं भी नहीं मिलती। विलियम इ० ब्लाटज ने एक साथ उत्पन्न ५ समाकृति बहनों का अध्ययन किया। वे एक साथ समान वातावरण में पाली गईं, तोभी उनके अलग-अलग व्यक्तित्व थे।

कई विद्वानों ने मिल कर १९ जोड़ी सम-युग्मों का, जो अलग-अलग पाये गये थे, अध्ययन किया तथा उनके व्यक्तित्व, शारीरिक और मानसिक विभेदों की तुलना साथ-साथ पालित ५० समयुग्मों तथा ५२ पंतुक-युग्मों से की। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शारीरिक-भेद वातावरण या सन्निकर्ष के द्वारा बहुत ही कम प्रभावित होता है। परन्तु ज्ञान, उपलब्धियों तथा अन्य योग्यताओं पर वातावरण का ही प्रभाव अधिक पड़ता है। युग्मों के विपरीत विभिन्न माता-पिता के बच्चों को एक साथ रखकर भी उनका अध्ययन किया गया है। बहुत-से पोषक गृहों (Foster homes), शिक्षण संस्थाओं तथा अनाथालयों में इसके अवसर मिलते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पोषक-गृहों के उपयुक्त सन्निकर्ष में १० से लेकर ३० बुद्धि-मात्र (I. Q.) तक सुधार हो सकता है।

इन संस्थाओं में भी बच्चों में अन्तर रहता ही है। साथ ही इनमें आने के पहले उनके सन्निकर्ष में बड़ा विभेद रहता है और ये जन्म के पश्चात्

उत्पन्न होने वाली उपलब्धियों को लेकर आते हैं। बच्चों का जितना निर्माण-कार्य दो से लेकर पाँच वर्षों की अवस्था में होता है, उतना उसके बाद नहीं। यही कारण है कि जितनी ही छोटी अवस्था में शिशु ऐसी संस्थाओं में आता है, उसपर उतना ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है, और सुधार की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है।

युग्मों के अध्येताओं ने ही घोषणा कर दी है कि प्रकृति (nature) तथा पोषण का प्रतिशतक निर्धारित करना अस्वाभाविक तथा बनावटी है, एवं “जो पैतृकता कर सकती है वही वातावरण भी कर सकता है”।^१

कट्टर-से-कट्टर वातावरण का समर्थक भी इसे इंकार नहीं कर सकता कि लम्बाई, कपाल की बनावट, आँखों के रंग आदि शारीरिक विशेषताओं के निर्माण में पैतृकता का प्रधान हाथ रहा करता है। विभिन्न प्रजातियों तथा वंशों के शारीरिक वैशिष्ट्य का निर्धारण इसी समानता तथा विषमता आधार पर किया जाता है। एक ही जाति के अन्तर्गत व्यक्तिगत विशेषतायें भी कम स्पष्ट नहीं होतीं। कोई भी दो व्यक्ति बिल्कुल समान नहीं होते। प्राणिशास्त्रियों का कहना है कि जिन जीवाणुओं से भिन्न-भिन्न विशेषतायें उत्पन्न होती हैं वे किन्हीं भी दो जीवों में समान रूप में नहीं पाये जा सकते। “किन्हीं भी जीवित या जीवित रहनेवाले दो प्राणियों में समान जीवाणुओं के अस्तित्व के संयोग की सम्भावना नहीं के बराबर रहती है; केवल समययुग ही अपवाद हैं। हम लोगों में से प्रत्येक की पैतृक विरासत अपनी-अपनी है, वह किसी भी दूसरे में मौजूब नहीं है, भूतकाल में भी किसी में नहीं थी और यह प्रायः निश्चित है कि भविष्य में भी कहीं उसकी आवृत्ति नहीं होगी।”^२

यही कारण है कि जन्म के साथ ही शिशु और शिशु में अन्तर दिखाई पड़ जाता है। यह अन्तर केवल रंग-रूपतक ही सीमित नहीं रहता वरन् बालक के अन्य व्यवहारात्मक जीवन में भी विभेद पैदा कर दिया करता है।

1. What heredity can do environment can also do.

2. “The chance that any two humanbeings, now living or having lived, have identical set of genes is practically zero, identical twin excepted, The hereditary endowment which each of us has, is strictly his own, not present in any-body else, unprecedented in the past and almost certainly not repeatable in the future.” L.C. Dunn and T. Dobzhansky—Heredity, Race and Society.

हँसने, खेलने, हाथ-पैर फँकने, दूध पीने, सोने, आदि में भी सभी बालक समान नहीं रहते। जब उन्हें सीखने की आवश्यकता पड़ती है तो यह भेद और चौड़ा बन जाता है। गेसेल ने पाँच समवयस्क बालकों के विकास की गति का तुलनात्मक निरीक्षण तथा अध्ययन किया है। यह देखा गया कि साधारण शारीरिक नियंत्रण, संचालन-कुशलता, रेंगने की गति आदि में कोई भी दो नितान्त समान नहीं थे। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अपनी विशिष्ट शक्ति रखता है।* बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, यह विभेद भी बढ़ा होता जाता है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इसमें स्वास्थ्य, वातावरण आदि का भी कुछ-न-कुछ हाथ रहता है; किन्तु इतना निश्चित है कि आरम्भ में पैतृकता और प्रकृति प्रधान हिस्सा बँटाती है।

परन्तु प्रकृति द्वारा प्रदत्त विशिष्टता ही मानव के सारे विभेद को स्पष्ट नहीं कर सकती। जब हम शिशु के अहं के विकास तथा समाजीकरण की प्रक्रिया पर विचार करते हैं तो समाज, उसके आदर्श (norms) तथा वातावरण ही प्रधान पड़ते हैं। व्यक्ति के व्यवहार, विचार आदि का निर्माण तथा नियमन समाज ही करता है। वही मानव को उसकी मूल चेतना देता है। नवजात शिशु अपने साधारण जीवात्मक आवश्यकताएँ लेकर पैदा होता है। वह भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की उत्तेजनार्थ (Stimuli) ग्रहण करता है। उसे भूख लगती है और उससे उसके पेट की मांसपेशियाँ सिकुड़ने लगती हैं। इससे वेदना होती है और वह व्याकुल हो उठता है। आन्तरिक वेदनार्थ एक उद्देश्य लेकर पैदा होती हैं, जो सामयिक पूर्ति से शान्त हो जाती हैं। एक तो ये आन्तरिक उत्तेजनार्थ, जिनका सम्बन्ध सामान्य-प्राणी की आवश्यकताओं से ही रहा करता है, अत्यन्त सीमित हैं, साथ ही इनकी तुष्टि की प्रणाली भी पोषक द्वारा निर्धारित होती है। प्रकृति ने भूख दी है परन्तु उसकी पूर्ति कैसे हो, किस रूप में हो, क्या दिया जाय, कैसे दिया जाय, यह तय करना पोषण (Nurture) पर निर्भर करता है। स्तनपायी जीव कुछ दिनों तक दूध से ही जीते हैं, परन्तु दूध पिलाने की प्रणाली तथा समय कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। कुछ दिनों के बाद ही जब दूध के अतिरिक्त और कुछ देने का समय आता है तो रुचि, गति आदि में विभिन्न समाजों के बालक नितान्त भिन्न बन जाते हैं। अन्य प्राकृतिक आवश्यकताओं पर भी समाज इसी तरह अपनी छाप लगा देता है।

बाहरी उत्तेजनार्थ आन्तरिक की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा बहुरूपी होती हैं और ज्यों-ज्यों बालक का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों बढ़ती जाती हैं। ये

* गेसेल ने इसे Motor habitude नाम दिया है।

प्रधान रूप में समाज की ही देन होती हैं और इनकी पूर्ति के साधन, प्रणाली, उत्तेजनायें पूरे रूप में समाज द्वारा ही निर्धारित होती हैं। इस तरह वातावरण दुहरा काम करता है, जीवात्मक या प्राकृतिक आवश्यकताओं पर वह नियंत्रण करता है, उन्हें नियत साँचे में ढालता है एवं बाह्य तथा सामाजिक आवश्यकतायें उत्पन्न कर उनकी तुष्टि का मार्ग देता है। यही कारण है कि बालक का सम्पूर्ण अहं, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ समाज की ही देन होती हैं; समाज के अन्य सदस्यों की पारस्परिक-क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न हैं। परन्तु हम इस विकास के विवेचन में प्रकृति को बिल्कुल भूल कर नहीं चल सकते। एक विद्वान् समाजशास्त्री ने ठीक ही कहा है—“किसी भी जीवित व्यक्ति के विकास में पैतृकता तथा वातावरण सहकर्मी-तत्त्व हैं और दोनों अनिवार्य रूप में आवश्यक हैं”। *

कुछ दिनों पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि मानव की अधिकांश क्रियाओं के मूल में सहज प्रवृत्तियाँ (instincts) हैं। इतना ठीक है कि भय, क्रोध तथा प्रेम बच्चों में मौजूद हैं; परन्तु उनकी अभिव्यक्ति अस्पष्ट तथा आरम्भिक ही रहती हैं। इनके प्रकाशन का रूप समाज से मिलता है। बच्चा जिस समाज में पलता है, उसी के अनुरूप इन्हें अभिव्यक्त करता है। बहुत-सी सभ्यतायें ऐसी हैं, जिनमें शान्ति क्रोध को संयमित कर लेती है, उनका बच्चा भी वंसा ही होगा। इसके विपरीत झगड़ालू संस्कृतियों में पला बालक झगड़ालू ही होगा। भय की भी यही अवस्था है। भारत की नारी किसी प्रिय से बहुत दिनों के पश्चात् मिलने पर रोने लगती है, पर पुरुष ऐसा नहीं करते। इसका कारण पुरुष नारी का भेद नहीं; संस्कृति का भेद है। योरोप की नारियाँ इतना नहीं रोतीं। भारत में भी सर्वत्र यही स्थिति नहीं है। बंगाली तथा मद्रासी स्त्रियों में यह प्रथा नहीं है। न्यूजीलैण्ड के तो पुरुष भी किसी के मिलने पर रो देते हैं। कई देशों में किसी के मरने पर भी नहीं रोते, परन्तु चीन में अत्यधिक रोते हैं। यह भाव-प्रकाशन की गति संस्कृतिजन्य है, समाज सापेक्ष है; यद्यपि रोने की क्रिया प्रकृति द्वारा मिली हुई है।

जैसा मानवों की विशेषताओं के प्रसंग में कहा जा चुका है, मानव अन्य जीवों की अपेक्षा जन्म के समय अधिक असहाय रहता है, उसकी नाड़ियाँ कम विकसित रहती हैं। उसे बहुत अधिक सिखाना पड़ता है; जबकि अन्य जीव सहज-ज्ञान से बहुत कुछ सीख जाते हैं। इसका फल यह होता है कि मानव

* "Heredity and environment are co-acting factors in the development of any living individual...and both are absolutely necessary"—H. S. Woodsworth.

को अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक सीखना पड़ता है और सीखने का यह कार्य समाज से ही होता है । अस्तु, समाज की छाप उसपर बहुत अधिक पड़ती है ।

मानव के अंग तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव

मानव के अंगों में ही उसकी शक्ति है । जिसका पैर बड़ा तथा पतला होगा, वह तेज दौड़ सकता है । जिसकी उँगलियाँ बड़ी तथा मोटी होंगी, वह हाथों से अधिक काम कर सकेगा । परन्तु दौड़ने तथा काम करने के लिए अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है और अभ्यास को प्रोत्साहित करने के लिए संस्कृतियों की स्वीकृति भी जरूरी है । प्रकृति की दी हुई शक्ति संस्कृति के योग के बिना निरर्थक हो जाती है ।

कुछ विद्वानों ने मानव की विशेष आकृतियों का सम्बन्ध उसकी मानसिक प्रवृत्ति से स्थापित किया है । लम्ब्रोसो ने अपराधियों की परीक्षा करके यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार के अपराधी का कौन अंग कैसा होता है । परन्तु लम्ब्रोसो को सफलता नहीं मिली । वस्तुतः अपराध एक सामाजिक तत्त्व है, जिसका आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । इसी प्रकार क्रेशमर (Kreschmer) ने पागलों के आँकड़े इकट्ठे किये हैं और उनके अंगों की बनावट पर विचार किया है । क्रेशमर का यह सिद्धान्त अभी पूर्णतया जाँचा नहीं गया । अस्तु कुछ कहा नहीं जा सकता ।

अंगों की अतिपूर्ति के रूप (over-compensation) में भी एक जबरदस्त मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है । लंगड़ा बालक अपने लंगड़ेपन के अभाव की पूर्ति अन्य शक्तियों के विकास में करता है । ऐसा देखा जाता है कि विकलांग या तो बालकों के नेता बन जाते हैं या शैतानियत के पुतले । नाटा या कमजोर बालक बुद्धि में श्रेष्ठ बनने की चेष्टा करता है और सफल भी होता है ।

इस मनोवैज्ञानिक अप्रत्यक्ष प्रभाव से भी अधिक शक्तिशाली सामाजिक प्रभाव है । हर समाज सुन्दर और असुन्दर की अलग-अलग धारणा रखता है । बच्चे के अंगों पर सुन्दरता और असुन्दरता का आरोप वह कर लेता है । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में बालक अपने सम्बन्ध की इन धारणाओं का आभास पाता रहता है, और उसका प्रभाव उसके मन पर गहरा पड़ता है । यदि वह सुन्दर कहलायेगा तो उसके मन में गुरुता ग्रन्थि (Superiority complex) आत्मविश्वास, सजने की भावना आ जायेगी । वह अपने इसी गुण से सन्तुष्ट हो जायेगा और अन्य बालकों से अपने को श्रेष्ठ समझ कर थोड़ी बहुत घृणा भी करेगा । जिसके अंग असुन्दर कहलाने योग्य होंगे, उसमें लघुता-ग्रन्थि (Inferiority complex) तथा इस अभाव को पूर्ति की भावना

आयेगी । वह अन्य विषयों में बड़ा भारी हो सकता है और ईर्ष्यालु भी । हमारे यहाँ इसका बड़ा विचारणीय उदाहरण है मार्जारनेत्र । योरप में भूरी आँखें और सुनहरे बाल सुन्दर माने जाते हैं । शायद पुराने आर्यों के केश भी इसी से मिलते-जुलते थे । परन्तु गर्म देश में भूरी आँखें उपयुक्त नहीं जान पड़तीं । जितनी धूप काली आँखें सह सकती हैं, उतनी भूरी आँखें नहीं । इसीसे भारत में भूरी आँखें कम होती हैं । कुछ ही व्यक्ति इस प्रकार के आँख वाले मिलते हैं । इस असाधारणता के कारण वे विशेष व्यंग्य के पात्र हो जाते हैं और उन्हें बिलारंखा, मार्जार-नेत्र आदि उपाधियों से सम्बोधित किया जाता है । ऐसे व्यक्ति समाज की धारणा से अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होकर थोड़े धूर्त हो जाते हैं । यही स्थिति उनकी भी है, जिनके नेत्र थोड़े टेढ़े होते हैं और जिन्हें “ऐँचा” कहते हैं । एक भोजपुरी कहावत समाज की धारणा स्पष्ट कर देती है:—

सौ में सूर, हजार में काना, सवा लाख में ऐँचाताना
ऐँचाताना कहे पुकार, माजर से रहियो होशियार

अर्थात् सौ सूरों में एक ही अच्छा निकलेगा, इसी प्रकार हजार एकाक्षों में एक, एवं टेढ़ी आँख वाले सवा लाखों में एक ही भला होगा, परन्तु टेढ़ी आँख वाला कहता है कि मार्जार-नेत्र वाले से होशियार रहो, यानी उससे भी वह टेढ़ा होता है ।

इन विकलांगों का प्रभाव मानसिक वृत्ति पर पड़ता है । पर यह कोई नैसर्गिक नियम नहीं है । काफी विकलांग ऐसे भी होते हैं जो अतिपूर्ति अच्छे कामों के लिए करते हैं । साधारणतया सूरों की श्रवण-शक्ति बढ़ जाती है, तथा मन को एकाग्र करने का अभ्यास अन्य लोगों से अधिक हो जाता है । यही कारण है कि सूर अच्छे गायक हो सकते हैं । इस कहावत के रहते भी सूरों के प्रति समाज का आदर-भाव ही देखा जाता है, घृणा नहीं ।

यह सब होने पर भी यदि माना जाय कि अंगों की बनावट मन की आंतरिक वृत्तियों को स्पष्ट करती है, तब तो हर व्यक्ति का चरित्र स्थिर होगा, उसमें परिवर्तन और सुधार की कोई जगह ही नहीं होगी, परन्तु ऐसी बात नहीं है । मानव की जीवन-वृत्ति तथा परिस्थितियाँ उसका निर्माण करती हैं । एक कहानी है कि किसी व्यक्ति ने संसार के सबसे भोले तथा सबसे शैतान के फोटो लेने चाहे । उसने कई फोटो लिए, जिनमें उसे एक बालक का सबसे अच्छा जान पड़ा । उसे उसने विशेष रूप में सुरक्षित रक्खा । बस-बारह बर्षों बाद एक बदमाश को जेल से निकलते हुए देखा और उसे अपने कमरे में ले गया । वहाँ बदमाश भोले बालक का चित्र देखकर रोने

लगा । कारण पूछने पर उसने बतलाया कि वह उसीका फोटो है । यह सत्य हो या असत्य, परन्तु मानव की आकृति पर जीवन-वृत्ति तथा परिस्थिति का जो प्रभाव यह कहानी बताती है, वह पूर्ण सत्य है । सुधार के भी ऐसे ही उदाहरण आपको मिलेंगे ।

यान-भेद का सामाजिक रूप

समाज में स्त्री और पुरुष में इतना भेद दिखलाई पड़ता है कि हम उन्हें दो विभिन्न तत्त्वों से निमित्त मान लेते हैं । पुरुष की आकृति और नारी की आकृति में कहीं समता नहीं जान पड़ती । मूँछ-बाढ़ी, अधर आदि की बनावट से पुरुष अलग से ही पहिचान लिया जाता है । एक स्त्री के बोलने की थोड़ी-बहुत टेढ़ी-मेढ़ी गति, जो बढ़ जाने पर “नखरा” कही जाती है, पुरुष में नहीं होती । नारी का स्वर पतला और मोठा होता है, इसीसे वह संगीत के लिए सबसे उपयुक्त है । बालक किशोरावस्था में पहुँचते ही अपनी स्वर-मधुरता खो देता है । १६-१७ की आयु में दोनों की घंटियाँ फूटती हैं, अर्थात् दोनों के काकल तथा स्वर-यंत्रों में कड़ाई आ जाती है । परन्तु यह काल समाप्त हो जाने पर नारी की आवाज संभल जाती है, पुरुष की भारी की भारी हो रह जाती है । इस पर स्त्रियोचित लोच उसमें एक विचित्र-सी ‘कुछ’ डाल देती है, जिससे वह भिन्न बन जाती है ।

आप किसी नारी से बातचीत कीजिए यदि वह सावधान नहीं है, तो हस्त-संचालन और उँगलियों की गति से नारीत्व टपकता जान पड़ेगा । आप संकेत आदि के लिए और अपने भाव-प्रकाशन में तीव्रता लाने के लिए दाहिना हाथ घुमायेंगे, परन्तु नारी का बाँया घूमेगा । यदि आप बैठे हुए हैं तो कभी-कभी, अपने सिर को दाहिने हाथ पर टेकेंगे, वह बायें पर टेकेगी । इतना ही नहीं, उसकी टेकने की भाव-भंगी आपसे भिन्न होगी । उसकी आँखें बहुत नाचेंगी, तथा उसमें लज्जा, उत्सुकता आदि के कारण एक विचित्र-सी खींचा-तानी होगी, उसका सिर आपकी अपेक्षा अधिक चंचल होगा । कभी-कभी आप भी अपनी चिबुक पर उँगलियाँ रखेंगे, परन्तु उसके इस कार्य में आपसे इतनी भिन्नता होगी कि दोनों एक नहीं कहे जा सकते । यही स्थिति पदगति तथा पद-चाप की भी है । पैरों की आहट ही बतला देती है कि पुरुष आ रहा है या स्त्री ।

रहन-सहन, रुचि, विचार आदि में भी एकता नहीं है । पुरुष आपस में गप्प करेंगे तो उनके गप्प का क्षेत्र विस्तृत होगा, परन्तु स्त्रियाँ बाल-बच्चे, घर-गृहस्थी के सम्बन्ध में ही अधिक बातें करेंगी । किसी स्त्री या पुरुष के सम्पर्क में भी आने पर वे सबसे पहिले बाल-बच्चे, वैवाहिक और पारिवारिक

जीवन की ही अधिक जिज्ञासा करेंगी । पुरुष पेशा, काम, योग्यता और पद के सम्बन्ध में अधिक उत्सुक होगा । वर्षों साथ रहने वाले मित्र भी एक दूसरे के बच्चों की संख्या तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बारे में अनभिज्ञ रह सकते हैं, परन्तु स्त्री के लिए यह एक प्रकार असंभव ही है । अपने बाल-बच्चों के सम्बन्ध में वह अधिक सतर्क रहती है, इसीसे बच्चों के झगड़े माँ के संघर्ष बन जाते हैं, परन्तु झगड़ने वाले बालक शीघ्र मित्रता की पुनर्स्थापना कर लेते हैं । साथ ही भाई-भाई की लड़ाई में भी स्त्रियों का ही प्रधान हाथ रहता है ।

स्त्री भावुक कही जाती है । उसकी आँखों में मुस्कान तथा आँसू जल्दी-जल्दी अपना अभिनय दिखाकर लुप्त होते रहते हैं । विचारवान् कहे जाने वाले पुरुष उसके रोने-हँसने पर विश्वास नहीं करते । वह शीघ्र चिढ़ जाती है और शीघ्र ही प्रसन्न भी हो जाती है । उसकी 'तुनुक-मिजाजी' प्रसिद्ध है । उसमें परस्पर विरोधी गुण होते हैं । नारी के प्रति अपनी धारणा को अतिरंजित रूप में श्री गोस्वामी जी ने रक्खा है—

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं ।

अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥

साहस अनृत चपलता माया ।

भय अविषेक असौच अदाया ॥

और—

सत्य कहहि कवि नारि सुभाज ।

सब विधि अगम अगाध दराज ॥

गोस्वामीजी के इस कथन की भूमिका में तीन बातें ध्यान में रखनी चाहिए—(१) यह एक बैरागी पुरुष की धारणा है, जिसे नारी-ताड़ना मिल चुकी थी, (२) प्रसंगानुसार ये वहीं कहलाये गये हैं जहाँ नारी की निन्दा अपेक्षित है और (३) मध्ययुगीन नारी की दुर्दशा गोस्वामीजी के समय पर्दा-प्रथा के कारण चरम सीमा पर पहुँच गई थी ।

अन्य जातियों में भी नारी के परस्पर विरोधी रूप का—एक ओर करुणामयी, दूसरी ओर स्वार्थजन्य निर्दयता एवं साहस-सम्पन्न-स्वरूप का—चित्रण मिलेगा । शेक्सपियर की मैकबेथ इसके उदाहरण में रक्खी जा सकती है । कार्य करने की शक्ति भी स्त्रियों में कम होती है । विद्या में भी उनका हाथ पुरुषों की अपेक्षा कम है ।

प्रश्न यह है कि नारी के इस रूप में कहाँ तक पेतुकता और प्राणित्व का हाथ है और कहाँ तक समाज या सन्निकर्ष का, एवं इस अतिरंजित रूप में कहाँ तक पुरुषों की कल्पना (fancy) है और कहाँ तक वास्तविकता ।

ऊपर कहा जा चुका है कि पिनियल नामक ग्रन्थिका रस लिङ्ग भेद के बाहरी चिह्नों का कारण है। पुरुषों के ग्रन्थि-रस से मूँछ-दाढ़ी एवं स्त्रियों के ग्रन्थि-रस (female hormone) से स्तन आदि उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त पिट्यूटरी ग्रन्थि का रस यौन-भावनाओं का कारण है। पुरुष के ग्रन्थि-रस को पुरुष-रस (male hormone) तथा स्त्री के ग्रन्थि-रस को नारी-रस (female hormone) कहते हैं। जहाँतक इन रसों के विभेद का सम्बन्ध है, वहाँतक हम कह सकते हैं कि नारी पुरुष का अन्तर जीवात्मक (biological) है। पुरुष-रस तथा नारी-रस में परिवर्तन किया जा सकता है या नहीं इस पर भी प्रयोग हुए हैं। चूहिया की ग्रन्थि काट कर पुरुष की ग्रन्थि लगा दी गई, तो उसमें पुरुष-रस विकसित नहीं हुआ परन्तु चूहे की ग्रन्थि के स्थान पर चूहिया की ग्रन्थि लगाई गई तो उसमें नारी-रस विकसित हो गया। 'परन्तु ऐसे प्रयोग इतनी आरंभिक अवस्था में हैं कि कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता और न किसी सिद्धान्त की स्थापना ही की जा सकती है।

प्रयोगिकमनोविज्ञान (experimental psychology) से स्पष्ट हो गया है कि प्रायः तीन वर्षों की ही आयु में यौन-ज्ञान हो जाता है। शिशु को यह पता चल जाता है कि वह लड़का है या लड़की। मंने विनोद में ही एक ४-४।। वर्ष की बच्ची से कहा कि 'तू भी दाढ़ी बना ले।' उसने उत्तर दिया—“मुझे कहाँ दाढ़ी है?” मंने पूछा—“क्यों?” उसने कहा—“क्या मैं धोती पहने हुए हूँ? लड़का हूँ?” चूहे आदि कई जीवों पर प्रयोग करके देखा गया है कि नितान्त एकान्त में रखने पर भी आयु हो जाने पर, यौन-क्रियाओं का सामान्यज्ञान हो जाता है। प्रायः दो वर्ष पहले बरेली में चमेली नाम की तथाकथित लड़की आपरेशन द्वारा लड़का बन गई। डाक्टर का कथन है कि वह मूलतः लड़का है, लेकिन माता के गर्भ में ६ सप्ताहों के बाद ही यौन-विकास में गड़बड़ी आरम्भ हो गई थी। पैदा होने पर लोगों ने उसे लड़की ही समझा और उसका पालन-पोषण शिक्षा-दीक्षा लड़की के रूप में ही हुई थी। इस परिवर्तन के पश्चात् उसने अपने संस्मरण लिखे हैं। अविकसित यौन और विपरीत-समाज होते हुए भी दस वर्षों की आयु में ही एक स्त्री के आलिंगन से उसके शरीर में पुरुष के समान सिंहरन उत्पन्न हो गई थी। यह यौन प्राकृतिक है और इससे सम्बन्धित क्रियाओं तथा भावनाओं का मूल जीवात्मक है। आयु हो जाने पर यौन-ग्रन्थि-रस पैदा हो जाता है और वही इनका कारण है।

इसके अतिरिक्त नारी मातृत्व की प्रतीक्षा करने के समय कई मासों तक कड़े भ्रम के अयोग्य हो जाती है। उसके स्वास्थ्य पर भी इसका बुरा प्रभाव

पड़ता है। संतान पर भी उसकी माया पुरुषों की अपेक्षा अधिक होना स्वाभाविक है। नारी की शक्ति तथा जीवन का एक बड़ा अंश संतान ले लेती है। यह भी प्रकृति की क्रिया है, प्राणिशास्त्र के नियम हैं।

परन्तु आज का स्त्री-पुरुष भेद इसी प्राणि-शास्त्र से उत्पन्न नहीं है, वह सामाजिक अधिक है। भारत में ही हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में जहाँ पर्व है, स्त्रियों की प्रकृति बंगाली महिलाओं से भिन्न है। एक बंग नारी गुजराती, मराठी से भिन्न है। जहाँ तक स्त्रीत्व का सवाल है, सब एक हैं। परन्तु लज्जा आदि के कारण पैदा होनेवाली विशेषतायें, जैसे आँखों की चंचलता, हस्त-संचालन, मिलने-जुलने की निर्भोक्ता आदि में अन्तर है। एक योरोपीय महिला तो भारतीय नारी से नितान्त भिन्न है। भारत में स्त्रियों का गजगामिनी होना उत्कृष्ट माना जाता है, किन्तु योरोप में उनकी क्षिप्र-गति ही प्रसिद्ध है। हम कह सकते हैं कि भारत की अपेक्षा स्त्री-पुरुष का विभेद योरोप में बहुत कुछ संकुचित हो जाता है। योरोप की नारी भारतीय नारी की अपेक्षा पुरुष के अधिक निकट है।

बच्चे पर आस-पास की धारणा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। परिवार की धारणा, भावना ही शिशु के अहम्, प्रकृति, स्वभाव आदि का निर्माण करती है। लड़का-लड़की में हम भेद रखते हैं। भारत में लड़का पैदा होते ही आनन्द का विषय बन जाता है, पर लड़की चिन्ता का कारण। लड़कों के समान लड़कियों की संभाल नहीं होती। अस्तु, आरम्भ से ही उसमें लघुता ग्रन्थि विकसित हो जाती है।

स्त्री लिंग की क्रियायें और सम्बोधन, व्यवहार, बातचीत आदि के कारण जीवात्मक रूप में नारीत्व का कोई गुण आने के पहले ही बच्ची समझ लेती है कि वह अपनी माता और बहन के समान बनेगी, पिता भाई के समान नहीं। इसलिए वह उन्हीं को आदर्श मानकर, उन्हीं के रूप में अपनी कल्पना करने लगती है। वह अपने को माता समझकर गुड़ियों को प्यार करती है, साड़ी पहनाकर दुलहिन बनाती है और उसका कल्पनाशील मस्तिष्क उन रूपों को ग्रहण करने का स्वप्न देखा करता है। माता-पिता बचपन से ही उसमें वे गुण देखना चाहते हैं जिन्हें समाज स्त्रियों के लिए आवश्यक समझता है। आठ-नौ वर्षों की होने पर हम उसे लज्जित कर देना चाहते हैं। हम किसी दूसरे सम्बन्धियों से बातें करने देना नहीं चाहते। उसे खेलने के लिए गुड़िया दी जाती है, पर लड़कों की हाथी-घोड़े की मूर्तियाँ। जिन गुड़ियों का वह विवाह करती है, उसके केश बढ़ा दिये जाते हैं। जिसमें वह केश प्रिय (गेसुपरस्त) बन जाती है। उसके कपड़े भिन्न होते हैं। उसकी शिक्षा-दीक्षा होती ही नहीं; यदि होती भी है तो गृह-जीवन की। समाज के कार्यों में वह भाग नहीं

ले सकती। इन सबों का फल यह होता है कि उसकी बुनियाद सिमट कर घर में ही रह जाती है। उसकी सारी भावनायें उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। इसका सारा आनन्द-विनोद पति या सन्तानों ही पर निर्भर करने लगता है। ऐसी स्थिति में वह यदि भावुक, करुणामयी, घर को ही सर्वस्व समझने वाली बन जाय तो आश्चर्य क्या है? वायरन ने लिखा है, 'पुरुष का प्रेम उसके जीवन से अलग वस्तु है, पर नारी का वह सम्पूर्ण अस्तित्व है।' यह भावना पूर्णतया नैसर्गिक नहीं, निरक्षेप प्राकृतिक नहीं, समाज की देन है, समाज-कृत है।

समाज में बहुत दिनों से पुरुष पर उतना कड़ा नियंत्रण नहीं है, जितना स्त्री पर। पुरुष का चरित्र-दोष समाज क्षमा कर सकता है, उसके अपराध उतने भयंकर नहीं माने जाते। इसलिए स्त्री उस सम्बन्ध में अधिक सतर्क हो जाती है। जीवन में उसे अपने भाव सतत अवदमित करने पड़ते हैं। इसलिए जहाँ उसके मर्मस्थल पर आघात होता है, वहाँ उसके सम्पूर्ण-राग द्वेष उमड़ पड़ते हैं। इसमें उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व हिल जाता है, वह अस्थिर हो उठती है। इसलिए एक कवि ने कहा है—

“किसी तेंदुवे की बाघिनी का क्रोध उतना उग्र नहीं हो सकता, किसी जल-प्रवाह का पतन उतना तीव्र नहीं होता, जितना उस नारी की घृणा का वेग होता है, जिसके साथ अपराध किया गया हो।”^२

नारी दुर्बल है, अबला है परन्तु उसकी दुर्बलता जितनी नैसर्गिक नहीं, उतनी बनावटी है। गांवों में, खेतों पर काम करने वाले गरीबों की पत्नियाँ शारीरिक श्रम में पतियों की समानता कर लेती हैं। साथ-साथ कुदाल चलाती हैं। पति हल चलाता है तो वे बोती हैं। सायंकाल पति जानवरों को चारा देता है, वे रसोई बनाती हैं। पति के सो जाने के बाद बर्तन साफ करके सोती हैं। पर सबेरे कभी पहले, कभी साथ ही उठ जाती हैं, पीछे तो कभी भी नहीं। जिनके पास थोड़ी भी सम्पत्ति है या हमारे यहाँ जो उच्च वर्ण के हैं, जिन्होंने नारियों को जीवन की पूर्ण सहचरी न बनाकर विलास की सामग्री बना रखा है, वे असूर्यम्पर्श्या—सूर्य की रोशनी भी जिसे नहीं लगे—बनाने में ही अपना गौरव समझते हैं। इससे नारियों की शक्ति क्षीण हो गई है और वे स्वभाविक अधिकारों से भी वंचित कर दी गई हैं। उनके

1. Man's love is of man's life a thing apart
tis' woman's whole existence.

2. No any panther's lioness' rage
So furious, any torrent's fall so swift
As a wronged woman's hate

अबलापन का कारण जितना उनका स्त्रीत्व है, उसके कई गुना समाज है । समाज ने ही उन्हें इस स्थिति में ला दिया है कि कवि को दयावश कहना पड़ता है कि—

अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।

आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

वस्तुतः यह दूध प्रकृति की देन है, परन्तु यह पानी, यह आँसू, समाज की, हमारी । नारियाँ भी मानव हैं । मानव के सारे गुण, सारे दोष उनके भी हैं । जैसे समाज मानव को मानव बनाता है, वैसे ही नारी को भी नारी ।

नारी के विचित्र रूप के चित्रणों का एक और मनोवैज्ञानिक कारण है । हमारे संस्कारों ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को स्वाभाविक एवं प्राकृतिक रूप न देकर एक अजीब साँचे में ढाल रखा है । विविध नियंत्रणों ने एक मौन-उत्कण्ठा, एक अश्रान्त-पिपासा जगा रखी है । इससे पुरुष नारी को इस लोक की वस्तु न समझकर किसी अन्य लोक का जीव समझता है । पुरुष-नारी की प्रेरणा में समानता नहीं, वरन् प्रश्न और उत्तर का सम्बन्ध है ।* नारी एक हाथ में मदिरा तथा दूसरे हाथ में विष लिये हुए मदोन्मत्त उर्वशी है, जिसके संकेत से समुद्र भी शान्त हो जाता है । वह कहीं कल्पना की स्वर्ग-विलासिनी अप्सरा है, कहीं उन्मत्त निर्दया कालिका । वह इंद्रधनुषी-रंग में रंगी हुई है । वह जहाँ जाती है उसकी पद-गति में अमृत, मदिरा तथा हलाहल चूते रहते हैं । सौभाग्य या दुर्भाग्य से संसार के साहित्य में स्त्रियों ने बहुत कम दान दिया है । यदि पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी स्वतंत्र वातावरण में, युग-युग से कविता के क्षेत्र में प्रवेश करती आतीं, तो आज हम पुरुषों के भी विचित्र चित्रण पाते । जो दो-चार स्त्रियाँ कविता-क्षेत्र में आईं भी हैं उन्हें काव्य-परम्परा की भावना ने पूर्णरूप में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व नहीं करने दिया है ।

* 'पुरुष प्रश्न है, नारी उसका समाधान'—“स्कन्दगुप्त” तथा
“प्रश्न था यदि एक तो उत्तर द्वितीय उदार”—“कामायनी” ।

दूसरा प्रकरण

[समाज तथा भूगोल]

समाज पर भूगोल का प्रभाव

यदि हम विभिन्न जलवायु में रहने वाले लोगों के जीवन तथा समाज की तुलना करें तो हमें उनमें महान् अन्तर दिखाई पड़ता है। एक एस्किमो बर्फ के बने घर में चमड़े पहन कर, चर्बी जलाकर निवास करता है। उसका जीवन सील मछली के शिकार पर ही निर्भर रहता है, वह हिरनों की स्लेज गाड़ी पर चलता है। उसकी तुलना प्रायः नग्न रहनेवाले, पेड़ों पर ही घर बनानेवाले न्यूगिनी के निवासियों से कीजिए। दोनों सभ्यता की आरम्भिक अवस्था में ही हैं, पर दोनों के जीवन तथा समाज की दो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। पहाड़ों से उतर कर आनेवालों की वेश-भूषा तथा हमारे वस्त्रों में कितना विभेद है? तिब्बती मोटा लबावा पहने रहते हैं जिससे बदन आती है। नेपाली की कमर में लम्बा फेटा बँधा रहता है। यदि हम इतना कपड़ा लपेटें तो फुंसियों तथा घावों से कमर पक जायेगी। अरबी लू से बचने के लिए ढीला, परन्तु मोटा कपड़ा शरीर पर लादे रहते हैं। जितना अन्तर कपड़ों में है उससे कम अन्तर समाज के संगठनों में नहीं है। एस्किमो के यहाँ सम्मिलित परिवार है, परन्तु अशक्त, रुग्ण या बूढ़ों की सेवा और पालन-पोषण का कोई प्रबन्ध नहीं है, उस कठोर जीवन में इसके लिए प्रबन्ध भी सम्भव नहीं है। अरब लोग कृषि के अभाव में घुमक्कड़ जीवन बिताते हैं। इससे वे कबीलों की स्थिति में हैं। भारत के मैदान का रहने वाला कृषि-जीवन के कारण सम्मिलित-परिवार में रहता है, जहाँ अशक्त और निर्बल बूढ़े ही नहीं, अकर्मण्य और बेकार भी अपना भाग पाते हैं। न्यूगिनी का निवासी पेड़ों की झोपड़ियों पर बड़ा परिवार कैसे बसा सकता है?

खाने-पीने की रुचि उपज से काफी सम्बन्धित है। आसामी चाय पीता है, मद्रासी कॉफी। दक्षिणी नारियल का तेल पसन्द करता है, मध्य-प्रान्तीय

बाबाम का तथा बिहार, यू० पी०, पंजाब का निवासी सरसों का । राजस्थानों बाजरे की रोटी बहुत चाहता है, परन्तु अन्य स्थानों के निवासी उसे हीन दृष्टि से देखते हैं । बंगालियों का मछली प्रेम तथा बर्मी की मेंढ़क रुचि भी प्रकृति और भूगोल की ही देन है ।

मानव तथा भूगोल का संघर्ष

यह सच है कि मानव का भी जीवन बहुत कुछ प्रकृति पर निर्भर करता है, परन्तु उसने आरम्भ से ही प्रकृति से एक संघर्ष-सा छेड़ रखा है । वह प्रकृति को ज्यों-का-त्यों ग्रहण न कर उसमें परिवर्तन भी करता है । प्रकृति ने जाड़ा, गर्मी और वर्षा दी । उसने चमड़े, कपड़े तथा घरों से अपनी रक्षा की; उसके शरीर का चमड़ा इतना मोटा नहीं था कि सब कुछ सहन कर सके । प्रकृति ने एक स्थान पर एक मिट्टी तथा एक जलवायु में एक अन्न दिया, मानव ने दूसरे स्थानों से, दूसरे अन्न लाकर भी उपजाना शुरू कर दिया । साधारण भारतीयों को आश्चर्य होगा जब उससे कहा जाय कि मक्का अमेरिका से आया है, हमारी अपनी चीज नहीं है । रूई तो हजारों साल पहले हमारे देश से संसार में गई है । सिकन्दर के साथियों ने कपास के सम्बन्ध में लिखा है कि 'भारत में एक पेड़ वाली भेड़ है जिसमें सुन्दर ऊन फलता है, परन्तु आज की स्थिति यह है कि हमारे देश में ही लम्बे रेशे (long staple) की सुन्दर रूई नहीं होती और हम इसे अमेरिका तथा मिस्र से मँगाते हैं' । आज तो अनेक उपायों से विपरीत जलवायु में हम बहुत-सी चीजें पैदा कर लेते हैं एवं पौधों में भी कलम के प्रभाव से उत्तम तथा सुस्वादु फल उपजाते हैं । प्रकृति ने एक को दूसरे से अलग करने के लिए समुद्र तथा पहाड़ खड़े किये । हमने विज्ञान तथा अपनी कला के बल पर समुद्र का कार्य बदल डाला, उसकी छाती चीरकर उसे आवागमन का सुन्दर साधन बना डाला, जो बाधक था वही हमारा साधक बना है । स्थल की दूरी भी हमने कम कर दी । मानो संसार की लंबाई-चौड़ाई सिमट गई हो । आज नौकाएँ और रेल ही नहीं, बड़े-बड़े विशालकाय जहाज महासमुद्र को मापे हुए हैं और वायुयान ने तो महादेशों को एक-आध दिनों की यात्रा में ही पार होने योग्य बना डाला है । प्रकृति ने विभिन्न जलवायु में रोग दिये और हमने अपनी ओषधियों से उसे दबा लिया । जाड़ा और गर्मी के लिए हमने वायु-संरक्षित (air-conditioned) घर ही नहीं, गाड़ी के डब्बे तक बना लिए हैं । बुरे जलवायु भी हमारे साधनों से अपनी शक्ति नहीं दिखा सकते । पहाड़ अभी तक थोड़े-बहुत अचल खड़े हैं, परन्तु हमारी बुनियाँ के आगे वे भी सिर झुकाते जा रहे हैं । आल्प्स की छाती चीरी जा चुकी, वह

दिन दूर नहीं जब हिमालय को छेद कर हम आर-पार झाँकने लगे। हमारी खेतों वर्षा पर निर्भर थी। हमने बाँध बाँधे, नहरें खोदों, और अब जल-विद्युत् के द्वारा जल पर नियंत्रण करने लगे हैं। इतना ही नहीं, आकाश से जबरन वर्षा कराने की भी प्रणाली हमने निकाल ली है।

सभ्यता के आरम्भ में मानव प्रकृति का ही पुत्र था। प्रकृति ही उसे अपने सचि में ढाले हुए थी। वह जो कुछ देती थी, मनुष्य लेता था और उस दान के अनुरूप ही उसका जीवन, उसका समाज निर्मित होता था; परन्तु आज तो स्थिति उससे भिन्न है। प्रकृति से अपनी रक्षा करने के लिए वह एक कृत्रिम संसार बना चुका है और बना रहा है। आज तो उसकी कृत्रिमता ही, उसका यह महान् ऊपरी ढाँचा (Superstructure) ही, दिखाई पड़ रहा है। आज भूगोल उसके समाज का निर्माता नहीं रहा। उसका समाज तो एक दूसरे के अनुकरण (diffusion of civilisation) पर, जीवन की नवीन आवश्यकताओं के आधार पर, कई स्पष्ट-अस्पष्ट उपादान कारणों से बना है। हजारों वर्षों में संसार की प्राकृतिक स्थिति-कुछ भी नहीं बदली, ज्यों की त्यों पड़ी है। पर मनुष्य वायु की गति से बदल रहा है, बढ़ रहा है और बढ़ता जा रहा है, पता नहीं कहाँ? क्या भूगोल बिचारा इस वृद्धि की समस्या का हल दे सकता है? न्यूजीलैंड की भौगोलिक परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु उसकी स्थिति यूरोपियनों के आगमन के पश्चात् एकदम बदल गई, वह न्यूजीलैंड रहा ही नहीं। आस्ट्रेलिया की भी यही हालत है।

मानव तथा प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

मनुष्य का ज्ञान प्रकृति की आरम्भिक देन से बहुत आगे बढ़ गया है, इससे जान पड़ता है कि मानव ने उसे जीत लिया है। मानव के आगे वह हाथ जोड़ कर खड़ी है। परन्तु प्रकृति पर हमारी यह विजय किन अस्त्रों से हुई है? इसके लिए हमारी बुद्धि को हमारी अश्वान्त ज्ञान-पिपासा को धन्यवाद है। यह उसी की साधना का फल है। पर क्या इस कार्य में प्रकृति ने ही हमारी कुछ कम सहायता की है? हमने समुद्र को नाँधा, लेकिन यदि पानी में अपने से हल्की चीजों को उतरावे रखने का गुण नहीं होता तो क्या हम एक डग भी आगे बढ़ पाते? यदि भाप में शक्ति नहीं होती तो क्या हम उससे इतने आश्चर्य करा सकते? वस्तुतः हमने प्रकृति से संघर्ष नहीं किया वरन् अधिकाधिक उसके निकट आते गये। उसकी इच्छाओं और उसके नियमों का उपयोग किया। उससे घनिष्ट परिचय करते गये और करते जा रहे हैं। हमारी यह घनिष्टता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है, हम उसके हृदय-स्थल में ज्यों-ज्यों घुसते जा रहे हैं, उसकी अन्यायमूर्ति हमें मिलती जा रही है। हम चाहे अपने को जितना विजयी समझें,

हम वस्तुतः विजयी नहीं, प्रत्युत प्रकृति के उपासक हैं। यह उपासना एक-तरफा नहीं, इतना सच है। प्रकृति की सारी सम्पत्ति रहते हुए भी मानव यदि उनका उपयोग करना नहीं जाने, तो कुछ नहीं कर सकता। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका की भूमि में सोना तथा हीरों का कोष धरा हुआ था, परन्तु उसके आदिनिवासी उससे अपरिचित होने के कारण असभ्य ही बने रहे। यूरोप के लोगों ने उसे खोदा और निकाला। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के नवीन विकास का यही कारण है। वहाँ की प्रकृति नहीं बदली, बदला उसका उपयोग। प्रकृति ने अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग जानवर दिये हैं। उन स्थानों की सभ्यता के विकास में उन पशुओं का हाथ है। वहाँ के निवासियों के जीवन तथा समाज पर उनके प्रभाव हैं, इसीसे पुराने नृविज्ञानी किसी स्थान की सभ्यता का नामकरण वहाँ की मुख्य उपज पर करते थे। मार्गन ने अमेरिका तथा एशिया की उपज के विभेद के आधार पर सांस्कृतिक-विकास का भेद बतलाया है। अमेरिका के मूल निवासियों की सभ्यता को लोग मक्का संस्कृति, महिष-संस्कृति आदि कहा करते हैं। भारत के आर्यों की सभ्यता पर अश्व तथा गाय का पूरा हाथ है। परन्तु इनके उपयोग में विभेद पड़ सकता है, और पड़ता है। भारत में ही हमारे संताल गाय का दूध नहीं पीते, दुहना ही नहीं जानते। उसे भी हल में जोता करते हैं। चीनी भी दूध पीना नहीं जानते, मांस खाते हैं। हमारे यहाँ कुछ लोग सूअर का मांस नहीं खाते। अमेरिका में उनके बालों से भी तरह-तरह की चीजें बनाई जाती हैं। भारत से भी सूअर के बाल वहाँ भेजे जाते हैं।

प्रकृति की मूल शक्ति अजेय है, हम उसके बाह्य रूपों पर भी अभी तक नियंत्रण नहीं कर सके हैं। पृथ्वी का क्षेत्रफल, पृथ्वी सूर्य का सम्बन्ध, ऋतु आदि पर अंकुश लगाना तो मानव की शक्ति से परे है ही, पहाड़-मैदान का स्थान परिवर्तन, खनिज पदार्थों का परिमाण, लहर, ज्वार-भाटा पर भी हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम पहाड़ हटा नहीं सकते, उसमें सुरंग खोद सकते हैं, हम लहर तथा ज्वार-भाटे को रोक नहीं सकते, अपनी नौका तथा जहाज के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। मैदान में पहाड़ खड़ा कर देना हमारी शक्ति के परे है। अभी भूगर्भवेत्ता घबड़ा रहे हैं कि कोयला शीघ्र समाप्त हो रहा है, शायद कुछ दिनों के बाद वह दुष्प्राप्य हो जायेगा। कुछ दिनों पूर्व गोलकुंडा और दक्षिण की हीरे तथा सोने की खानें संसार-प्रसिद्ध थीं। कोहेंनूर वहीं से निकला था, परन्तु अब वे समाप्त-सी पड़ी हैं। प्रकृति पर हमारी पूर्ण विजय तब मानी जाय जब हम जहाँ चाहें और जितना चाहें कोयला पंदा कर लें। हमारी विजय तो इतनी ही है कि कोयला में

पाये जाने वाले तत्त्वों का पता लगाकर उससे कई उपयोगी पदार्थ हम बना लेते हैं, पहले केवल जलाते ही थे ।

मानव की एक बड़ी विजय रेगिस्तान तथा बर्फ से ढके हुए स्थानों को आबाद करने तथा एक स्थान के पशुओं तथा पौधों को दूसरे स्थान में ले जाकर, उनकी नस्ल की वृद्धि करने में दिखाई पड़ती है । मानव जंगल ही साफ नहीं करता, उत्तरी ध्रुव की ओर भी घुसता जा रहा है, अपने पौदे तथा पशु लिए हुए । किन्तु मानव की इस विजय की एक सीमा है । उसने अस्वास्थ्य-कर जलवायु को ओषधियों के प्रयोग वस्त्र-भवन आदि की सहायता, रोगों के कीट-नाशक उपायों से, अपने अनुकूल बनाना चाहा, किन्तु कहाँतक सफलता मिली ? कई ग्रीष्म-मंडल (tropics) के स्थानों में गोरों के उपनिवेश सर्वथा असफल रहे । ओषधियाँ जलवायु नहीं बदल सकीं । कहीं-कहीं तो रोग-कीट बढ़े, घटे नहीं । साथ ही सारी जातियाँ समान-रूप में सर्वत्र सफल नहीं रहीं । जब एक जाति विफल हो गई, वहाँ दूसरी को सफलता मिली । वार्ड के कथनानुसार जिनका भोजन हल्का तथा सादा है वे उन लोगों से अधिक सफल होते हैं, जो अधिक खाते हैं, तथा माँस पर अधिक निर्भर करते हैं ।* गोरों में ही सब समान रूप से सफल नहीं होते । जो एक जगह सफल होते हैं, वे ही दूसरी जगह विफल । वास्तव में नव-स्थान के जलवायु के अनुकूल ढलने की शक्ति जिनके शरीर में जितनी ही अधिक होगी, जिनका भोजन उस स्थान के पदार्थों के जितना ही निकट होगा, तथा जिनके जीवन का मान वहाँ के समान स्तर में आ सकेगा वे उतने ही अधिक सफल होंगे ।

नये स्थानों में उन्हीं पशुओं और पौधों को लाया जा सकता है, जो उसमें पनप सकें । सारे पशु सर्वत्र नहीं पाले जा सकते और न सारे पौदे सभी जगह पनपाये जा सकते हैं । बर्फीली झाड़ियों पर रेनडियर ही जीवित रह सकते हैं, दूसरे पशु मर जाते हैं, इसीलिए जिन बर्फीले स्थानों में रेनडियर नहीं हैं, वहाँ उन्हें हम ले जा सकते हैं और इससे वहाँ की स्थिति, समाज के स्वरूप आदि में परिवर्तन ला सकते हैं, किन्तु गायें लाकर मूर्ख ही बनेंगे । पशुओं के नस्ल-सुधार करने वालों का यह अनुभव है कि दूसरी जगह के पशुओं की नस्ल बहुत कम सफल होती है ।

भारत में हिसार की गायें तथा सांड बहुत सुन्दर होते हैं । उन्हें भारत के सभी भागों में ले जाकर, नस्ल-सुधार का प्रयत्न किया गया, किन्तु बहुत कम सफलता मिली है । हिसार के एक गो-सेवी सज्जन का कहना है कि वहाँ की उत्तम नस्ल समाप्त होती जा रही है; क्योंकि वह बाहर भेज दी जाती है और

दूसरे स्थानों में भी उनसे कोई लाभ नहीं होता । इसलिए बहुत से अनुभवों लोगों का कथन है कि स्थानीय उत्तम नस्ल को ही बढ़ाना सबसे अधिक लाभप्रद है ।

खाद्यान्नों की भी यही स्थिति है । सारे अन्न सर्वत्र नहीं हो सकते । उनके लिए निश्चित तापमान, जल तथा अन्य प्राकृतिक-उपादानों की आवश्यकता पड़ती है । धान के लिए पानी तथा गर्मी आवश्यक है, गेहूँ के लिए अपेक्षाकृत कम जल तथा गर्मी । हम इन पौधों की सामान्य प्रकृति नहीं बदल सकते । इन्हें सुधार सकते हैं । मिट्टी की उत्पादन-शक्ति बढ़ा सकते हैं, आवश्यक खाद दे सकते हैं, जलवायु अनुकूल होने पर एक जगह का पौधा दूसरी जगह ले जा सकते हैं, किन्तु विपरीत जलवायु और मिट्टी में उन्हें उपजा नहीं सकते । नये स्थानों को आबाद करने के लिए वहाँ की प्रकृति तथा जलवायु के अनुसार ही पशु तथा पौधे लाये जाते हैं ।

हमारा और प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बना है और सदा बना रहेगा । हम कहते हैं कि 'मानव के द्वारा जीवों के जीवन का प्राकृतिक संतुलन उलट दिया गया है ।'* यदि आरम्भिक अवस्था में जो जीव जहाँ पैदा हुए उनका वहाँ बना रहना ही प्राकृतिक संतुलन है तो अवश्य हमने उसे उलट-पुलट दिया है । किन्तु जिस जीव के योग्य पदार्थ जहाँ मिलते हैं वहाँ ही उनकी स्थिति रह सकती है; अन्यत्र नहीं और यदि प्राकृतिक संतुलन का अभिप्राय इन पदार्थों के वितरण से माना जाय तो यह संतुलन मिटा नहीं, बना हुआ है । हम प्रकृति की दया पर निर्भर नहीं हैं, किन्हीं श्रृंशों तक यह सच है; किन्तु प्रकृति की दया से विमुख जाकर हम जीवित नहीं रह सकते, यह भी सच है । मानव बिल्ली के बच्चे की तरह प्रकृति-माता पर अपने को छोड़ नहीं देता, वरन् साधना के द्वारा उस दया का अधिकारी बनता है । दया का सहारा तो हर हालत में लेना ही होगा, चाहे तिनके की तरह बहते हुए लें, अथवा जीव की तरह तैरते हुए ।

भूगोल और सभ्यता

अनेक विद्वानों ने भूगोल तथा सभ्यता का सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । इन सबों पर यहाँ विचार करना कठिन है । हम इन्हें दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ।

प्रत्यक्ष-सम्बन्ध—मानव जिन साधनों को अपने विकास के लिए काम में लाता है, वे उसकी धरती से ही प्राप्त होते हैं; इसलिए धरती की

* "The natural balance of organic life is overthrown by man" society.

बनावट तथा उसके उत्पादन का प्रभाव उसकी सभ्यता पर पड़ता है । “जीन ब्रुन्हेज” (Jean Brunhes) ने ६ मानवीय क्रियाओं की सूची दी है, जिन पर भूगोल सीधे असर डालता है । ये क्रियाएँ निम्न हैं:—

- (१) निवास विधि तथा गृह,
- (२) सड़कों की विशेषताएँ,
- (३) पौदों की खेती,
- (४) पशु की नस्ल,
- (५) खनिज पदार्थों का उपयोग,
- (६) पौदों तथा पशुओं का विनाश ।

इन पर अलग-अलग विचार करना ठीक नहीं जान पड़ता । ये सब जलवायु, भूमि की बनावट, खानों की स्थिति, पशु आदि की सीधी उपज हैं । इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है । यह नहीं समझना चाहिए कि निश्चित भौगोलिक स्थिति में इनका एक ही रूप रहेगा । मानव प्राकृतिक साधनों को जैसे-जैसे स्वायत्त करता जाता है, वैसे-वैसे ही इनका रूप भी बदलता जाता है ।

जब मानव पशुचारण युग में था, उस समय उसकी सभ्यता का सर्वोत्तम रूप शादूलों में ही दिखाई पड़ा, जहाँ न तो जंगल की विशालता और भयंकरता, पशुओं तथा उनके लिए सर्वदा भय का उत्पादन किया करें, और न रेतीली भूमि में चारे का अकाल पड़े । आज भी जहाँ-जहाँ शादूल है पशुचारण व्यवसाय है । लोग घर रहते भी ढोरो के साथ खुले मैदान में या खेमों में रहते हैं, कभी-कभी घर आते हैं । उनका भोजन, उनका जीवन, उनकी मस्ती, उनका अलहड़पन अभी भी प्रसिद्ध है । कृषकों के जीवन की मधुरता के पीछे इस जीवन की सरसता भी छिपी हुई थी । जिन्हें वृन्दावन, हिसार, हरियाना आदि के गो-पालन-जीवन की झाँकी कभी मिली है, वे इसके उन्मद मस्तानेपन का आभास पा सकते हैं । पशुचारण जब मनुष्य का मुख्य कार्य नहीं रहा और कृषि-जीवन का विकास हुआ तो सभ्यता शादूलों से नदियों के कछारों में सरकी । यहाँ की उपजाऊ भूमि अल्प-प्रयास से ही पर्याप्त अन्न दे सकती थी । इस जीवन के लिए बहुत अधिक शीत और अत्यधिक उष्णता दोनों चीजें घातक थीं । यही कारण है कि प्राचीन सारी सभ्यताएँ समशीतोष्ण भूमि में, सिन्धु, गंगा, यांग-टीसीक्यांग, नील आदि नदियों के सुन्दर तट पर ही विकसित हुईं । व्यापार की उन्नति ने नदियों का मूल्य और बढ़ा दिया । अर्थ एवं राज्य के केन्द्र वहीं स्थापित हुए । पुराने सारे प्रसिद्ध नगर बड़ी नदियों के किनारे ही मिलेंगे ।

इस कृषि-जीवन के पेट से उद्योगवाद फूटा जिसने भाफ की शक्ति का पता लगाकर कोयले तथा लोहे का मूल्य बढ़ा दिया। पथरीली बंजर भूमि, जो कृषि-युग में उपेक्षित पड़ी थी, चमक पड़ी। यदि कोयला तथा लोहा निकट-निकट मिले तो क्या पूछना ? इंगलैंड, फ्रांस, जो कोने में पड़े थे, सामने आये और संसार की पुरानी सभ्यताओं ने उनके आगे अपना माथा टेक दिया। यह उद्योगवाद भी बड़ा परिवर्त्तनशील है। एक अन्वेषण किसी चीज की उपयोगिता बढ़ाता है, वह चीज जहाँ मिलती है वह स्थान औद्योगिक केन्द्र बन जाता है। पुनः दूसरा अन्वेषण किसी अन्य पदार्थ को खोज लाता है और इसके नए स्थान बढ़ते जाते हैं। बिहार छोटीनागपुर के विकास पर ध्यान दें तो यह बात साफ समझ में आ जायगी। यह पहाड़ी भूमि प्राचीन इतिहास में उपेक्षित ही रही। हाँ, पहाड़ों से घिरे रहने के कारण लड़ाई की दृष्टि से उसका थोड़ा-बहुत महत्त्व था, परन्तु इससे राज-महल आदि एकाध शहर बस सके इतना ही हो सका। राजमहल पहाड़ियों के ही कारण नहीं बसा, गंगा तट भी उसकी वृद्धि में कम सहायक नहीं था। खैर यह पहाड़ी भूमि खेती के काम की नहीं थी; अस्तु इसमें अर्द्ध सभ्य-जातियाँ लड़ाइयों से भागकर छिपी रहीं। सभ्य कहलाने वाले लोग इधर आँखें उठाकर देखते भी नहीं थे। परन्तु औद्योगिक-युग ने इसके भीतर पड़े हुए रत्नों को झाँक कर देखा। जमशेदजी टाटा ने इसके एक जंगली गाँव में एक कारखाना खड़ा किया, जो आज एशिया का सबसे बड़ा इस्पात का कारखाना है। झरिया, धनवाद, रानीगंज में कोयले की खानें मिलीं और आज वहाँ पृथ्वी के धरातल पर तथा सहस्रों फीट नीचे-भूमि के गर्भ में, बिजली बस्तियाँ जगमगा रही हैं। कोयले, लोहे आदि के साथ ही इसके आस-पास मंगनेसियम, अभ्रक आदि की खानें भी हैं और गिरीडीह तथा हजारीबाग जिले के एक भाग में निकलने वाला अभ्रक संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। पता नहीं, कब किस स्थान की किस रूप में मुख्यता हो जायेगी।

मानव की मुख्य आवश्यकताओं के साधन ज्यों-ज्यों बदलेंगे, सभ्यता के केंद्र सरकते रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं। आज यातायात के साधनों के विकास के कारण दूर-दूर से कच्चे माल लाकर भी कारखाने चलाये जाते हैं। इससे किन्हीं श्रंशों में उपजवाले स्थानों का मूल्य घटता जाता है। सिंदरी के कारखाने में लगनेवाला अधिकांश कच्चा माल बाहर से मँगाना-होगा, यद्यपि यह रसायनिक खाद के लिए संसार में इने-गिने कारखानों में एक होगा। परन्तु जहाँ कहीं, और सर्वत्र कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। किसी-न-किसी चीज की सुविधा देखनी ही होगी। संक्षेप में सभ्यता के निर्णय के लिए, भूगोल सामान्य देता है, शक्ति नहीं; साधन देता है, बद्धि नहीं। फ्रैंचबोस (franz Boas)

के शब्दों में “सन्निकर्ष (भूगोल) के निर्माणात्मक शक्ति का कोई भी प्रमाण हमारे पास नहीं है”* परन्तु निर्माण करनेवाली शक्ति जिस सामान से निर्माण करती है वह भूगोल ही देता है, इसे कौन इंकार करेगा ?

अप्रत्यक्ष सम्बन्ध—जलवायु पृथ्वी की बनावट आदि का प्रभाव मानव की बुद्धि और-शक्ति पर क्या पड़ता है, और उसकी छाप सभ्यता तथा समाज पर क्या हो सकती है, यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। अभी तक कोई ऐसा साधन उपलब्ध नहीं हो सका है, जिससे इस चीज को मापा जा सके अथवा अनुमान लगाया जा सके। अप्रत्यक्ष प्रभाव दो प्रकार से पड़ सकते हैं (१) भोजन, पानी के द्वारा और (२) जलवायु द्वारा। मानव की सारी इन्द्रियाँ जिन तत्त्वों से संचालित होती हैं, वे तत्त्व हमें भोजन के द्वारा प्राप्त होते हैं। ये रक्त में मिल जाते हैं और सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने लिए आवश्यक पदार्थ उससे ले लेती हैं। भोजन के पदार्थों में ये तत्त्व मिट्टी, पानी, हवा आदि से आते हैं, जो स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरणतया कुछ स्थानों की मिट्टी में और पानी में ‘आइडिन’ नामक धातु का अभाव रहता है, फलतः वहाँ घेंघा (गर्दन की सूजन) बहुत अधिक होता है। मानव की शक्ति का संचालन कंठमणि (thyroid) के ग्रंथि-रस से होता है रस भौतिक पदार्थ है जिसके उपादान भोजन से ही प्राप्त होते हैं। अस्तु, भोजन का प्रभाव मानव की शक्ति तथा बुद्धि पर पड़ना आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि आइडिन के एक-दो दाने ही आयन्स्टाइन को एक मूर्ख से अलग करते हैं; परन्तु मानव के भोजन में इतने पदार्थ सम्मिलित रहते हैं कि सहूलियत से भोजन करनेवाला व्यक्ति आवश्यक प्रायः सभी पदार्थ पा जाता है।

आज भोजन के सामान सारे के सारे स्थानीय ही नहीं होते। आप यदि किसी की थाली में पड़ी सामग्रियों के मूल का पता लगावें तो आपको दूर-दूर दौड़ना पड़ेगा। यदि आइडिन की अधिकता ही बुद्धि का कारण होती तो समुद्रों के किनारे के सभी व्यक्ति आयन्स्टाइन ही होते। कभी-कभी एक के अभाव की पूर्ति दूसरा कर देता है। तो भी भोजन का प्रभाव मानव पर पड़ता है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। हाँ, वह बुद्धि तथा शक्ति का एक मात्र जनक है यह कहना भूल है।

जलवायु से मानव की क्रिया तथा शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके विस्तृत प्रयोग एल्सवर्थ हटिंगटन ने किये हैं। उन्होंने बताया है कि तापमान के अन्तर से कारखानों के उत्पादन में अन्तर पड़ जाता है। उनके अनुसार ३०° से ७०° फार्नहीट में शारीरिक और मानसिक श्रम अच्छी तरह हो सकता

* We have no evidence of a creative force in environment.

है। ७०° के बाद कार्य-शक्ति का ह्रास हो जाता है। यह साधारण अनुभव की बात है कि गर्मी में हम उतना काम नहीं कर सकते जितना जाड़े में। ऋतु के अनुसार बीमारियाँ बदलती हैं। हमारे यहाँ प्लेग जाड़े में, हंजा गर्मी-बरसात में, चेचक वसन्त में तथा शरद में मलेरिया अधिक फैलती है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने सभ्यता और जलवायु का सम्बन्ध भी निर्धारित किया है। परन्तु एक दल आनन्दप्रद जलवायु को सभ्यता का सहायक मानता है, दूसरा कहता है कि विपरीत जलवायु ही मानव को शक्ति देता है, उसे कष्ट सहने का अभ्यास होता है और वह साहसी बनकर आगे बढ़ता है।

परन्तु संसार की सभ्यताओं में बड़ी विचित्र बात दिखाई पड़ती है। कभी भारत, चीन मिस्र जैसे आनन्ददायक जलवायु में पलने वाले आगे आते हैं और कभी तुर्किस्तान, मंगोल, अरब जैसे कठोर जलवायु वाले। आज जिन जातियों का सितारा आसमान पर है उनमें अमेरिका जैसे समशीतोष्ण देश भी है और रूस जैसे कठोर शीत-प्रधान भी। यदि जलवायु ही सभ्यता का निर्माता होता तो एक जलवायु के देश एक साथ उठते और गिरते।

सामाजिक-व्यवहार अनेक आन्तरिक तथा बाह्य श्रृंगों की क्रियाओं के फलस्वरूप परिचालित होते हैं। वे किसी एक श्रृंग से सम्बन्धित नहीं हैं, इसीलिये वे सहेतुक प्रतिक्रियाओं (Conditioned responses) पर निर्भर रहा करते हैं। श्वास आदि के समान वे सहज और स्वयं चालिन् (automatic) नहीं हैं। अस्तु, शिक्षा तथा संस्कृति पर अधिक आधारित हैं।

चाहे जो हो, सभ्यता के विकास में अनेक भौतिक-अभौतिक कारण कार्य करते हैं; उनमें भूगोल भी साधक या बाधक बन सकता है। कब भोजनादि पदार्थों का अभाव तथा जलवायु की प्रतिकूलता साधक बनेंगी कब बाधक, कब अधिकता और आनन्ददायक प्रकृति सहायक होगी तथा कब प्रतिरोधक, कहा नहीं जा सकता। यह निर्भर करता है, आगे आनेवाली और उठनेवाली जाति की संस्कृति पर, उसकी सभ्यता के स्वरूप पर एवं उसको ऊपर उठाने वाले अनेक तत्त्वों पर। एक जगह जो विशेषता प्रेरक होगी दूसरी जगह वही पीछे खींचनेवाली बन सकती है। अभ्युत्थान तथा पतन में बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के कारण कार्य करते हैं और दोनों के क्षेत्र इतने विस्तृत, इतने बहुतरंगी, इतने उलझे हैं कि किसी भी एक सिद्धान्त का निर्धारण करना, शायद, बुद्धिमत्ता नहीं होगी।

खण्ड दूसरा

संस्कृति और सभ्यता

(Culture and Civilisation)

तीसरा प्रकरण

[संस्कृति और सभ्यता]

सभ्यता संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति शब्द इतना उलझा है, इतने विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है कि इसकी निश्चित परिभाषा देना, सीमा-रेखा के अन्दर इसको बाँध लेना कठिन जान पड़ता है । हम भारतीय संस्कृति हिन्दू या मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा और संस्कृति आदि अनेक अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते हैं । टी० एस० इलियट ने इंग्लैण्ड के शिक्षा-मंत्री के भाषण का उद्धरण देकर संस्कृति के एक नये अर्थ में प्रयोग का उदाहरण दिया है । शिक्षा-मंत्री फरमाते हैं:—“अब हम लोग शिक्षा के, वैज्ञानिक शोध के, एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों के (in the varied field of culture) कार्य-कर्त्ता इकट्ठे हुए हैं ।” इस भाषण से जान पड़ता है कि शिक्षा की संस्कृति अलग है, और वैज्ञानिक शोध की संस्कृति अलग, एवं लेखकों की संस्कृति भिन्न । इन विभिन्न अर्थों में एक सामान्य तत्त्व ढूँढ़ लेना कठिन ही नहीं, असम्भव है । भारतीय संस्कृति का अभिप्राय, शायद उन विशेषताओं से है जो भारत के हिन्दू-मुस्लिम धर्मों में, हमारी रहन-सहन में, हमारे सोचने की आध्यात्मिक पद्धति में दिखलाई पड़ती है और जिनसे भारतीयों को हम दूसरों से भिन्न कर सकते हैं । कभी-कभी भारतीय-संस्कृति हिन्दू-संस्कृति का पर्यायवाची बन जाती है । हिन्दू और मुस्लिम-संस्कृति की बात करने वाले संस्कृति और धर्म को समानार्थक मानते हैं । वे सारे संस्कार, वे सारे विधि-नियम, वेश-भूषा तथा बोली जिनसे एक धर्म मानने वाला व्यक्ति दूसरे धर्म मानने वालों से भिन्न जान पड़ता है, इस संस्कृति के अन्तर्गत आनेवाली चीजें हैं । दाढ़ी, लूंगी मुस्लमानी संस्कृति है, कुर्ता, धोती हिन्दू । परन्तु यह दोनों भूल जाते हैं कि इनमें एक भी मूलतः अरबी और भारतीय नहीं है, सब दूसरी जातियों की देन है । जब हम शिक्षा

संस्कृति और वैज्ञानिक संस्कृति की बात करते हैं तो और भी उलझन बढ़ जाती है। इन साधारण अर्थों के साथ ही विभिन्न शास्त्रज्ञ भी इसका भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। नूतनज्ञानियों (Anthropologists) के यहाँ संस्कृति का बड़ा व्यापक अर्थ लिया जाता है। उनके यहाँ संस्कृति के अन्तर्गत मानव-जीवन में आनेवाली सारी चीजें आ जाती हैं। इस व्यापक रूप में टोलर (Tylor) की आदिम संस्कृति (Primitive Culture) में दो हुई परिभाषा का उद्धरण बहुत अधिक दिया जाता है। वे कहते हैं—

‘संस्कृति वह ग्रन्थि-समुच्चय है जिसके अन्तर्गत समाज के सदस्य की हँसियत से प्राप्त सम्पूर्ण-ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, नियम, प्रथा और अन्य सारे सामर्थ्य आ जाते हैं।’^१ इस परिभाषा के अनुसार समाज की सारी चीजें, सारे ज्ञान धर्म आदि सभी संस्कृति के ही अंग हैं।

गोल्डेन बेजर ने संस्कृति के अन्तर्गत निम्न तत्त्व गिनाये हैं—‘हमारी रचि, विश्वास, विचार, हमारे नियम तथा मूल्य, हमारी संस्थाएँ—राजनीतिक और कानूनी, धार्मिक और आर्थिक—हमारे आचार सम्बन्धी और शिष्टाचार के नियम, हमारी पुस्तकें और यंत्र, हमारे विज्ञान, दर्शन एवं दार्शनिक—इन सभी चीजों के सब कुछ और दूसरी बहुत-सी चीजें और व्यक्ति, स्वतः विभिन्न अन्तर्सम्बन्धों के साथ।’ श्री भगवत शरण उपाध्याय ने संस्कृति का निम्नरूप निर्धारित किया है—

‘संस्कृति समुदाय विशेष का अधिकृत, आहूत, व्यवहृत रूप है। राष्ट्र अथवा समुदाय जिन पूर्व कालिक प्रयत्नों, चेष्टाओं, कीर्तियों, भावनाओं, हर्ष विषादों; विजय-पराजयों, आचार-विचारों, वेश-भूषाओं, साहित्य कलाओं, नृत्य गायिकाओं, आदि को अपनी, केवल अपनी कहता है, वे ही उसे आकृति देते हैं।’ इतिहास के पण्डित होने के नाते अपना ध्यान अतीत की ओर ही अधिक है। परन्तु यह संस्कृति का व्यापक रूप ही सामने लाता है।

मैथ्यू आरनोल्ड (Methew Arnold) संस्कृति का अर्थ करते हैं, पूर्णता का अध्ययन, माधुर्य एवं प्रकाश की तटस्थ-शोध^२ आपके यहाँ संस्कृति सामुदायिक वस्तु नहीं है। इस परिभाषा का सार टी० एस० इलियट निम्न शब्दों में निकालते हैं—^३

1. "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities acquired by men as a member of society."

2. "Study of perfection, disinterested search for sweet test and light."

3. "Arnold is concerned primarily with the individual and the perfection at which he should aim."

“आरनोल्ड को प्रधान रूप में व्यक्ति और उस पूर्णता से ही अभिप्रेरित है जो उसका उद्देश्य होना चाहिए ।” इलियट आगे कहते हैं—

“अस्तु फल यह है कि व्यक्ति को उपदेश दिया जाता है विशिष्ट प्रकार की पूर्णता प्राप्त करने के लिए जिसे आरनोल्ड संस्कृति कहते हैं । वर्ग के सर्वोच्च प्राप्य आदर्श की अनुभूति की अपेक्षा किसी भी वर्ग की परिमिति से ऊपर उठना ही वे संस्कृति मानते हैं ।” * संस्कृति का इससे मिलता-जुलता अर्थ व्यवहार में लिया जाता है । हम किसी सभ्य-व्यक्ति को संस्कृत-मानव (cultured-man) और झगड़ालू शिष्टाचार-रहित को असंस्कृत (uncultured) कहा करते हैं । मैथ्यू आरनोल्ड ने इस अर्थ को थोड़ा ऊँचा उठाकर ज्ञान से भी उसका गठबन्धन कर दिया है । समाज-शास्त्र में आरनोल्ड के इस अर्थ का हमारे लिए विशेष उपयोग नहीं है । वस्तुतः शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति व्यक्तिगत नहीं समूहगत है, सामाजिक है ।

संस्कृति के साथ जब सभ्यता (Civilisation) का प्रयोग होता है तो उलझन और भी बढ़ जाती है । सभ्यता का भी प्रयोग उन सभी अर्थों में किया जाता है, जिनमें संस्कृति का, और जिनका दिग्दर्शन हम ऊपर करा आए हैं । सभ्यता की अंग्रेजी है ‘सिविलीजेशन’ (Civilisation) । सिविल के मानी है नागरिक । अस्तु पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ नागरीकरण या शहर की विशेषताएँ स्पष्ट करने वाले सारे गुण । इस मूल अर्थ में हम कह सकते हैं कि सभ्यता का अर्थ है नागरिकों की विशेषताएँ, जो उन्हें ग्रामीणों से अलग करती हैं । परन्तु सभ्यता इस संकुचित अर्थ में आज नहीं ली जाती, आज तो इसके अन्तर्गत वे सारे गुण आ जाते हैं जो मानव को पशु से भिन्न करने वाले हैं । कुछ विद्वानों की राय में सभ्यता का सम्बन्ध एकमात्र मानव से है, अन्य जीवों से नहीं । अन्य जीवों के गुण आन्तरिक हैं, अपने भीतर से विकसित हैं । पक्षी गाता है अपने कंठ के ही सहारे, खाने के समान शृंगी आदि बाह्य पदार्थों का सहारा नहीं लेता । सभ्यता अपने से बाहर की वस्तु है । मानव अपने से भिन्न उन वस्तुओं का निर्माण करता है, उनका अन्वेषण करता है और उपयोग करता है । उसके अस्त्र, उसके हथियार अपने से अलग हैं और मानवीय सभ्यता के ये ही अंग हैं । बन्दर भी कभी-कभी ईंट, लाठी आदि का प्रयोग करता है, पक्षी भी घोंसला बनाने के लिए कागज और तिनके काम में लाते हैं । परन्तु इनका निर्माण महत्त्वहीन है, उसमें परिवर्तन

* “The effect, therefore, is to exhort the individual who would attain the peculiar kind of perfection which Arnold calls ‘culture’ to rise superior to the limitations of any class, rather than to realise its highest attainable ideals.”

और परिवर्द्धन नहीं होते । सृष्टि के आरम्भ से ही ये एकरूप हैं । खैर, सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक साधनों से ही है; इसमें सन्देह नहीं ।

विद्वानों ने कई आधार पर सभ्यता और संस्कृति का भेद स्पष्ट किया है । कांट के अनुसार सभ्यता 'एक बाहरी व्यवहार (Outward behaviour) है, और संस्कृति आन्तरिक वृत्ति' । मैथ्यू आरनोल्ड संस्कृति को "कुछ रखने की अपेक्षा, कुछ होने में (in becoming something rather than in having something) मानते हैं, उनके मतानुसार भी संस्कृति मन तथा आत्मा की आन्तरिक स्थिति है । मैक आइभर ने इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार किया है । उन्होंने सभ्यता की निम्न परिभाषा की है—

“सभ्यता से अभिप्राय उस सम्पूर्ण यंत्र तथा संघटन से है, जिसे मानव ने अपने जीवन की स्थितियों पर नियंत्रण करने के प्रयत्न में नियोजित किया है । इसके अन्तर्गत सामाजिक संघटन की पद्धति के साथ ही हमारे साधन (technique) और भौतिक औजार भी शामिल हो जाते हैं ।”

उन्होंने सभ्यता के दो भाग किए हैं—मौलिक प्रणाली (Basic technology) तथा सामाजिक प्रणाली (Social technology) । प्रथम के अन्तर्गत मशीनें, रसायनादि आते हैं, और दूसरे के अन्तर्गत मानव के व्यवहार को नियमबद्ध करनेवाली प्रणाली, जैसे आर्थिक प्रणाली (Economic technique) और राजनीतिक प्रणाली (Political technique) आदि । सभ्यता के पश्चात् आपने संस्कृति की परिभाषा की है ।

“यह हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है, जो हमारे जीवन विधि की, और सोचने की, दैनिक संसर्ग की पद्धतियों में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोविनोदों में और आनन्द में अभिव्यजित होती है ।”*

मैक आइभर के विचार में सभ्यता किसी अन्य उद्देश्य का साधन है; परन्तु संस्कृति स्वतः अपना साध्य है । संस्कृति के अन्तर्गत आनेवाले तत्त्वों का निर्माण हम सृजनात्मक प्रेरणा से करते हैं; किसी बाहरी कारण से नहीं । दोनों का भेद इसी स्वतः पूर्णता और साधन के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है ।

मैक आइभर के ये भेद नये हैं, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु संशयहीन नहीं हैं । साध्य और साधन का आधार स्थूल-दृष्टि से ही उपयोगी हो सकता है ।

* “It is the expression of our nature’ in our modes of living, and of thinking, in our every day intercourse, in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment”

सैंक आइभर ने धर्म को सांस्कृतिक संघ माना है । परन्तु क्या धर्म अपना साध्य स्वतः है ? वस्तुतः धर्मतंत्र एक साधन है, किसी अतीन्द्रिय सत्ता के सम्पर्क का । वहाँ जानेवाले दो उद्देश्यों से जाते हैं—ईश्वर को प्रसन्न करके मोक्ष या स्वर्ग पाने के लिए या कोई सांसारिक लाभ प्राप्त करने के लिए । गीता में चार प्रकार के भक्त माने गये हैं । (१) जिज्ञासु, (२) आर्त्त—किसी दुःख की निवृत्ति की कामना रखनेवाले, (३) अर्थार्थी—सम्पत्ति के लोभी, (४) ज्ञानी—ईश्वर को जानने की कामना रखनेवाले ।

इन प्रधान भेदों के पश्चात् आपने इनकी तुलना में चार और अन्तर बताए हैं—

(१) परिमेयता—सभ्यता का निश्चित माप हो सकता है और उसकी तुलनात्मक योग्यता निर्धारित की जा सकती है । इन सभ्यता के श्रंगों से कोई निश्चित, भौतिक उपलब्धि की इच्छा रहती है । इससे हम इस इच्छा की पूर्ति के आधार पर उसका माप कर सकते हैं । एक मशीन कपड़ा बनाने के लिए खड़ी की गई है । दूसरी मशीन के मुकाबिले में वह कहाँ तक सफल या असफल हो सकती है, यह बताना आसान है । परन्तु संस्कृति का कोई निश्चित मूल्य निर्धारित करना कठिन है । क्योंकि उसका कोई माप नहीं हो सकता ।

(२) विकास मानता—सभ्यता विकसित हो रही है, यदि कोई ऐतिहासिक संक्रांति न आ जाय तो उसका विकास नहीं रुकता, परन्तु संस्कृति का विकास होगा ही, कहा नहीं जा सकता । एक मशीन के बाद बनने वाली मशीन उससे अधिक उपयोगी होगी ही, परन्तु शेक्सपीयर के बाद बनने वाले नाटक उससे श्रेष्ठ होंगे, निश्चित नहीं है ।

(३) प्रयत्नहीन उपभोग्यता—बिना प्रयत्न के सभ्यता दी और ली जा सकती है । रेल आदि सभ्यता के श्रंगों से कोई व्यक्ति लाभ उठा सकता है; परन्तु संस्कृति का रसास्वादन करने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है ।

(४) ग्रहणशीलता—सभ्यता सीधे-सीधे ग्रहण हो सकती है । एक मशीन को हम दूसरे देश से उसी रूप में ले सकते हैं; परन्तु संस्कृति को ज्यों का त्यों नहीं लिया जा सकता, उसे ग्राहक अपने ही रूप में ढालेगा । इसका सबसे सुन्दर उदाहरण धर्म परिवर्तन है । धर्म बदलने वाले दूसरे का धर्म उसी रूप में नहीं ले सकते, अपने अनुकूल, अनजान ही, बना लेते हैं ।

कला में रस लेने वाला कला को साध्य नहीं मान सकता । कला के द्वारा मन में उत्पन्न होने वाला रस ही सच्चा आनन्ददाता है । वस्तुतः कला साधन है । इसका साध्य है शब्दों के द्वारा या चित्रों के द्वारा मन का रस

जाग्रत कर देना । कला स्वतः साध्य होती तो किसी भी भाषा की कविता, या कोई चित्र बिना समझे भी हमें आनंद दे देता । मनोविनोद या खेल में भी स्वास्थ्य-सुधार या किसी प्रवृत्ति की तृप्ति लगी रहती है । समाज का कोई महत्वपूर्ण अंग, शायद, स्वतः साध्य नहीं हो सकता ।

इसके विपरीत मैक आइभर ने जिन्हें सभ्यता का अंग माना है, वे भी कुछ-न-कुछ आनंद स्वतः दे दिया करते हैं । मशीन बनाने वाला या चलाने वाला क्या कुछ आत्मतृप्ति अपनी शक्ति के ज्ञान से नहीं पाता ? क्या वैज्ञानिक-शोधक बिना आत्म-रस के उतना परिश्रम कर सकता है ? परिवार को हम सभ्यता का अंग मानें या संस्कृति का ? यह कितना साध्य है और कितना साधन, बतलाना कठिन है । यही स्थिति अन्य संगठनों तथा संस्थाओं की भी है । राज-सत्ता सभ्यता का अंग है । परन्तु कई भावनाओं की प्रेरणा से उसमें भी एक आत्म-संतोष प्राप्त होता है । वह क्या स्वतः साध्य नहीं है ?

इन भेदों—परिमेयता, अपरिमेयता, क्रियाशीलता, अनिश्चित विकास-शीलता, प्रयत्नहीन-उपभोग्यता, प्रयत्नज-उपभोग्यता तथा ग्रहणशीलता एवं अग्रहणशीलता -- पर भी विचार किया जाय तो उसमें भी वैसे ही दोष मिलेंगे । कोई भी भौतिक पदार्थ परिमेय होगा, उसके आधार पर बनी चीजें उससे सुधरी होंगी तथा उसका उपभोग एवं ग्रहण सहज होगा, इसमें संदेह नहीं । परन्तु सभ्यता के अन्तर्गत गिनी जाने वाली सारी चीजों में ऐसी बात नहीं हो सकती । मैकआइभर साहब ने जिसे सामाजिक प्रणाली (Social technique) कहा है, यह भौतिक नहीं है, इससे उसमें भी ये गुण नहीं स्थापित किये जा सकते । जैसे काव्य तथा चित्र की योग्यता मापना, उसमें निम्नत्व और श्रेष्ठत्व स्थापित करना, कठिन है; वैसे ही परिवार, राज्य आदि के विभिन्न रूपों की तुलना कर उत्तम और निकृष्ट बतलाना भी विवाद के परे नहीं है । श्रेष्ठ कला क्या है ? इसके लिए जितना विवाद है, उससे अधिक वितण्डा उत्तम राज-सत्ता की धारणा के सम्बन्ध में है । आज एकराजतंत्र, जनतंत्र, अधिनायकतंत्र सभी अपना-अपना बड़प्पन बधारा करते हैं । ऐसी ही स्थिति परिवार की भी है । युगानुसार यदि राज्य के स्वरूप की धारणा में परिवर्तन होता है, तो कला तथा काव्य की धारणा में भी । ऐसी स्थिति में राज्य या राजनीतिक प्रणाली (Political technique) की योग्यता परिमेय कैसे हुई ? इस परिमेयता के समान ही अन्य तीनों गुण भी इस सामाजिक प्रणाली में नहीं मिलते ।

हमने अपने जीवन-काल में ही देखा है कि जर्मन तथा इटली में प्रजातंत्र का ह्रास होकर अधिनायक-तंत्र का विकास हुआ । क्या आप इसे उत्तरोत्तर

उन्नत मानेंगे ? राजनीतिक-प्रणाली मशीनों के समान सीधी ग्रहणशील नहीं हैं। आज इंग्लैण्ड की मशीन अफ्रीका में सीधी चलाई जा सकती है। परन्तु उसकी राज्य प्रणाली वहाँ ले जाने पर स्थानीय संस्कृति तथा विकास के अनुसार उसी तरह संशोधित करनी पड़ेगी जिस तरह संस्कृति के अन्य ग्रंथों को वहाँ ले जाने पर तोड़ना मरोड़ना पड़ेगा।

इस विवेचना के कारण हम पुनः वहीं आ गये, जहाँ से चले थे। इतना ही समझ सके कि अभी तक कुछ नहीं समझे (मालूमम् शुद्ध हेच के मालूम न शुद्ध), और इससे अधिक इतना ही जान सके कि मैकआइभर साहब की परिभाषा हमें संतोष नहीं दे सकी। वस्तुतः सभ्यता तथा संस्कृति में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है। इसीसे टी० एस० इलियट ने 'संस्कृति की परिभाषा के लिए टिप्पणियाँ' (Notes on the Definition of Culture) नामक पुस्तिका के आरम्भ में ही लिखा है "कि मैंने इन दो शब्दों (सभ्यता और संस्कृति) के बीच की सीमा निर्धारित करने का प्रयत्न नहीं किया है। क्योंकि मैं इस निर्णय पर आया कि कोई ऐसा प्रयत्न बनावटी भेद उत्पन्न कर देगा।"

तब क्या समाजशास्त्र के विद्यार्थी इसे समानार्थक समझें ? मेरी दृष्टि में समानार्थक समझने में कई अड़चने आ सकती हैं। धर्म आदि सामाजिक नियमों (Social codes) से उत्पन्न भावना को सभ्यता नहीं कहते। सभ्यता उत्पत्ति के साधनादि के विकास से सम्बन्धित है। परन्तु एक ही सभ्यता की स्थिति में अवस्थित जातियों में भी विभिन्न संस्कृतियाँ हो सकती हैं। यूरोप के सारे देश सभ्यता की प्रायः एक ही सीढ़ी पर हैं। उनकी संस्कृति एक नहीं हो सकती। मैक-आइभर के विवेचन से हम सन्तुष्ट नहीं हुए परन्तु उनके एक छोटे-से वाक्य से विभेद का थोड़ा आधार मिल जाता है। वह वाक्य है—“Our culture is what we are, our civilisation is what we have”*

“हमारी संस्कृति है, हम क्या हैं, और हमारी सभ्यता है, हम क्या प्रयोग करते हैं।” इसका अर्थ हुआ कि हमारे जीवन तथा उत्पत्ति के साधन हमारी सभ्यता के ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों तथा अन्य कई ज्ञात-अज्ञात, स्पष्ट-अस्पष्ट, भूत-वर्तमान तत्त्वों के कारण हमारे सोचने-विचारने, कार्य आदि की प्रवृत्ति में जो संस्कार पड़े हुए हैं और पड़ रहे हैं; वे हमारी संस्कृति के ग्रंथ हैं। इसीसे सभ्यता बाह्य है, संस्कृति आन्तरिक (subjective)। जैसे किसी विशेष परिस्थिति में कोई व्यक्ति क्या करेगा, यह उस व्यक्ति की प्रवृत्ति पर

निर्भर करता है। वैसे ही किसी विशेष अवसर पर कोई समाज तथा उसके व्यक्ति क्या करेंगे, उस समाज की संस्कृति पर निर्भर है।

सभ्यता शरीर है तथा संस्कृति उस शरीर का प्राण है, उसकी आत्मा। शरीर के सभी अंगों को जुटा देने से ही मानव नहीं बनता। उसी प्रकार सभ्यता के सभी अंगों का एकत्रित-रूप ही संस्कृति नहीं है। टी० एस० इलियट ने लिखा है—“संस्कृति से मेरा अभिप्राय एक स्थान पर बसनेवाले जन की जीवन-विधि से है। संस्कृति उनकी कलाओं, उनकी सामाजिक प्रणालियों, उनके अभ्यासों, प्रथाओं एवं उनके धर्मों में दिखाई पड़ती है। परन्तु इन सारी चीजों को साथ मिला देने से ही संस्कृति नहीं बन जाती; यद्यपि सुविधा के लिए हम प्रायः ऐसा कह देते हैं, ये चीजें केवल अंग हैं। लेकिन जिस प्रकार मानव विभिन्न अंगों का संयोग नहीं है, ‘कुछ अधिक है’ उसी प्रकार संस्कृति इन सबों के संयोग (assemblage) से कुछ अधिक है।”

इसमें इतना तो स्पष्ट है कि इलियट सभ्यता तथा संस्कृति को एक मान कर चल रहे हैं और दोनों के संयुक्त-रूप की व्याख्या करते हैं। हम तो ‘संस्कृति’ उसी ‘कुछ अधिक (something more)’ को कहते हैं और उस कुछ अधिक को बनाने वाले अंगों को सभ्यता कहना चाहते हैं। अंगों का प्रभाव आत्मा तथा अन्तरंगों पर पड़ता है—अन्तरंग का प्रभाव शरीर पर। हमारा शरीर बाहरी पदार्थों से पोषण प्राप्त करता है, पुष्ट होता है और दुर्बल होता है। उसका असर अन्तरंग पर होना अनिवार्य है। परन्तु इन बाहरी पदार्थों में से हम क्या किस रूप में ग्रहण करें, यह तो हमारे मन का ही कार्य है। उसी प्रकार सभ्यता बढ़ती है, पुष्ट होती है, उससे हमारी संस्कृति प्रभावित होती है, परन्तु सभ्यता की किन चीजों को किस रूप में ग्रहण करें, इस निर्वाचन में संस्कृति का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जैसे शरीर के अंगों की पुष्टि अन्तरंग की पुष्टि का अनिवार्य द्योतक नहीं है, वैसे ही सभ्यता का विराट् रूप ही संस्कृति की उच्चता का एकमात्र परिचायक नहीं है। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों के संतुलन से ही मानव का मन स्वस्थ रह सकता है, वैसे ही सभ्यता के विभिन्न रूपों का सम्यक् सामंजस्य ही संस्कृति की सुन्दरता का निर्माण कर सकता है।

हमारी जीवन-विधि, हमारे त्यौहार, हमारा धर्म; जन्म, यौवन, विवाह, मृत्यु आदि की विधियाँ, जीविका प्राप्त करने के साधन तथा इनमें हमारा स्थान, समाज के साथ और समाज के अनेक वर्गों के साथ हमारे सम्बन्ध, ये सब हमारे अन्तःकरण का तथा हमारे चेतना का निर्माण करते हैं, और करते

रहते हैं। इनके अलग-अलग संस्कार परम्परा की अवशिष्ट जीवित चेतना से मिल-जुलकर एक संस्कार समुच्चय अर्थात् संस्कृति को रूप देते हैं।)

नृविज्ञान के कई विद्वानों ने संस्कृति के अध्ययन को प्रथाओं का अध्ययन और विज्ञान माना है। यह कथन किन्हीं श्रृंशों तक सत्य होते हुए भी पूर्ण-सत्य नहीं है। मानव जीवन प्रथाओं तथा लोकाचारों से परिचालित होता है। सु, कु अच्छे बुरे का ज्ञान मनुष्य को, और विशेषतया आरम्भिक मनुष्य को, प्रथाओं से ही प्राप्त होता है। इसलिए जहाँ तक पुरातन-समाज का सम्बन्ध है, उनकी संस्कृति की अभिव्यक्ति उनके लोकाचारों में ही होती है। किन्तु आज के विकसित-समाज के चलानेवाले केवल लोकाचार ही नहीं रह गये, उनकी सीमा संकुचित हो गई है। आज के जीवन को गढ़ने वाले अर्थ, राजतंत्र आदि अनेक तत्त्व हैं, जिनमें प्रथाओं का बहुत कम निर्माण हो सका है। जो प्रथाएँ हैं भी उनमें आत्मा नहीं रह गई है। नित्य बदलने वाले अभिसमय (convention) और फैशन प्रधान पड़ गये हैं। इसलिए आरम्भिक अथवा पुरातन संस्कृति का आभास हम प्रथाओं से पा सकते हैं, किन्तु नव संस्कृति के लिए हमें जीवन के सारे पहलू देखने पड़ेंगे। विभिन्न आधारों से उत्पन्न संस्कारों को एकत्रित करके एक पूर्ण-रूप तैयार करना पड़ेगा। ये संस्कार एक दूसरे के पूरक भी होंगे, एक दूसरे को संयमित करने वाले भी होंगे और परस्पर विरोधी भी। विभिन्न युगों और विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न आधारों की प्रधानता हुआ करती है और उसी के सहारे कभी कोई संस्कार प्रबल पड़ता है और कभी कोई। इसीलिए पुरातन संस्कृति का स्वरूप जितना सीधा और बुद्धि गम्य है उतना आज की संस्कृति का नहीं है। सभ्यता और उसके साधन भी विकासमान तथा परिवर्तनशील हैं और संस्कृति भी। दोनों में कोई भी स्थिर नहीं है।

सांस्कृतिक-आदर्श (Patterns of Culture)

बहुत प्राचीन काल से ही अनेक लेखक, दार्शनिक और पर्यटक विभिन्न जातियों, भूभागों तथा देशों की चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में अपने मत देने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। इनमें कइयों ने व्यक्तिगत घृणा तथा पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर निन्दा की है, और कइयों ने प्रशंसा। ऐसे मतों का कोई मूल्य नहीं है परन्तु कई विचारकों तथा सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञों के कथन अत्यन्त ही सुन्दर और उपयोगी हैं। प्रसिद्ध चीनी पर्यटक त्वान-च्वाङ ने प्रायः १२००-१३०० वर्ष पूर्व अपनी यात्राएँ की थीं। सब जगह के निवासियों के चरित्र के सम्बन्ध में भी उसने कुछ न कुछ बतलाने की चेष्टा की है। काशी से पूर्व आने पर उसने वहाँ के रहने वालों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे परिश्रमी

और ईमानदार, परन्तु असहिष्णु होते हैं। आज भी बलिया, गाजीपुर और आरा के भोजपुरियों में ये गुण या दुर्गुण मौजूद हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक इमानुवेल कांट ने विभिन्न जातियों की जो विशेषताएँ बतलाई हैं वे यों ही टाल देने योग्य नहीं हैं। इतना समय बीत जाने पर भी और परिस्थितियों के इतने उलट-फेर हो जाने पर भी उसके कथनों की सत्यता आज भी बहुत-कुछ बची हुई है। अपनी ही जर्मन जाति के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि ये अपनी सरकार के आज्ञापालक होते हैं और किसी भी स्थापित अधिकार को बदलने अथवा उसका प्रतिरोध करने की अपेक्षा वे निरंकुश शासन स्वीकार कर लेना अधिक पसन्द करते हैं। १७८९ का यह कथन नाजी-शासन की स्थापना, तथा गतिविधि के प्रकाश में कितना वास्तविक जान पड़ता है ? हेगेल ने चीनी धर्म को मध्य-मार्गी (of measure) शम के धर्म को कष्ट का धर्म, यहूदी-धर्म को शुद्धि का (of sublimity) धर्म, यूनानी धर्म को सौन्दर्य का और रोमन को उपयोग का धर्म कहा है। वास्तव में ये विशेषताएँ धर्म की नहीं, उन जातियों की हैं।

आरम्भिक जातियों का अध्ययन करते हुए कुछ नृवंज्ञानिकों ने इस प्रणाली का विकास किया है और इसे अधिक वंज्ञानिक और तथ्यपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में मोड, फारचुन, गोरर और श्रीमती रूथ बेनेडिक्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें भी इसकी पूर्णता रूथ बेनेडिक्ट में ही दिखाई पड़ती है। आपने केवल चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में अपने मत ही नहीं दिये; वरन् उन विशेषताओं की ओर मोड़कर ले जानेवाले, जाति के व्यक्तित्व को मौलिक-रूप में ढालनेवाले, सभ्यता तथा संस्कृति के अंगों का विवेचन-विश्लेषण भी किया है। आपने प्राचीन लेखकों के समान कौन जाति कैसी है, यह बतलाकर ही सन्तोष नहीं कर लिया है, बल्कि यह भी बतलाने की चेष्टा की है कि वह वैसी क्यों है। अर्थात् केवल रिमार्क पास करके छुट्टी नहीं ले ली, वरन् जाति के सम्पूर्ण सामाजिक-जीवन में पाये जानेवाले तत्त्वों को खोल-खोलकर देखने का भी प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त आपने विवेच्य-जातियों को केवल आचार-शास्त्र की निर्धारित कसौटी पर कसने का प्रयत्न नहीं किया है, अपितु सहानुभूति की आँखों से मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण लेकर उन्हें देखा है और परखा है।

आपका विचार है कि जाति के सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहारों के मूल में एक अचेतन-आदर्श और एक सांस्कृतिक-ढाँचा है, जिसमें वे ढलते रहते हैं। उसके सारे व्यवहार उसी के लिए, उसी के अनुरूप होते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों में इस अचेतन सांस्कृतिक-आदर्श का रूप भिन्न-भिन्न होता है। आपका कथन है

कि "जीविका-प्राप्ति, स्त्री-पुरुष-मिलन, युद्ध, देवोपासना आदि के लिए संचालित विविध-व्यवहार, चयन की अचेतन-परिपाटी के अनुसार, जो संस्कृति के भीतर ही विकसित होती रहती है, निश्चित ढाँचों में सौंप दिये जाते हैं अर्थात् ये व्यवहार उन्हीं ढाँचों के अनुरूप ढलते रहते हैं।"*

अपना विषय स्पष्ट करने के लिए बनेडिक्ट ने जूनी, डाब्लू और क्वाकि-डट्ल नामक तीन जन-जातियों को लिया है, और उनके सांस्कृतिक आदर्श बतलाये हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक निट्शे ने जीवन की दो परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ मानी हैं। एक का नाम उसने यूनान के शान्त देवता अपालो के आधार पर अपालोनियन (Appolonian) और दूसरे का युद्ध तथा उत्पादन के देवता डायनिसस के आधार पर डायोनिसियन (Dionysian) दिया है। इन्हीं के सहारे कई विद्वानों ने, और रूथबेनेडिक्ट ने भी, संस्कृति के भी दो रूप माने हैं। हम अपालोनियन को विष्णु और डायोनिसियन को रुद्र-संस्कृति कह सकते हैं। रुद्र-संस्कृति सभी सामाजिक-व्यवहारों में अतिवादी होती है, उसे सोमा और संयम से प्रेम नहीं होता। धार्मिक-अनुभूति की प्राप्ति वह कष्ट-सहन, मनोवैज्ञानिक-विचित्रता के बिना नहीं करना चाहती। इसीलिए उसके क्रोध, उसके प्रेम, उसकी प्रतिद्वन्द्विता सभी के रूप अत्यन्त भयंकर होते हैं। विष्णु-संस्कृति मध्यमार्गी होती है और संयम तथा शान्ति उसके जीवन का मूलमंत्र होता है। जीवन में जो मृत्यु, संघर्ष आदि 'अति' के अवसर आते हैं, उन्हें वह भुलाने, रोकने और संयमित करने का प्रयत्न करती है।

ओसवाल्ड स्पेंगलर (Oswald Spangler) ने अपने पश्चिम के पतन (Decline of the West) नामक ग्रन्थ में पुरातन, अध्यात्म-निरत, संघर्ष-विहीन संस्कृति को अपालोनियन और आज की संघर्ष-प्रधान, अपरिमित शक्तिसंचय की वासना रखनेवाली आधिभौतिक संस्कृति को फाशियन (faustion) अर्थात् संघर्षात्मक-संस्कृति नाम दिया है।

रूथ बनेडिक्ट के अनुसार जूनी विष्णु-संस्कृति के और क्वाकिडट्ल रुद्र संस्कृति के निदर्शन हैं। जूनी एक शान्त, संघर्ष से विरत रहनेवाली उद्यान-जीवी मातृ-प्रधान जाति है। जीविका के साधन अत्यन्त सरल हैं और जीवन की गति मृदुल है। प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता के लिये कोई जगह नहीं है। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, जलते आत्माभिमान और असाधारण शक्ति-

* All the miscellaneous behaviour directed towards getting a living, mating, warring, and worshipping the gods, is made over into consistent patterns in accordance with unconscious canons of choice that develop within the culture.—Patterns of Culture.

प्रदर्शन के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती । धर्म के साधन तथा देवोपासना की प्रणाली निश्चित विधिमूलक और सीधी-सादी हैं । न तो दीक्षा में कोई कठोरता है और न धार्मिकता में अति या असामान्यता । धार्मिक कृत्यों के समय क्रोध विवर्जित है, कठोर उपवास और क्लिष्ट साधना का कोई मूल्य नहीं है । मृत्यु आदि असाधारण अवसरों की सारी विधियाँ मानों उन्हें भुलाने और टालने की ही चेष्टा में लीन रहती हैं । उन्हें विस्तृत और बड़ा रूप देकर पीड़ा को स्थायी बनाने की चेष्टा नहीं रहती । नृत्य भी शान्त, धीर होते हैं, उनमें उतना श्रम नहीं पड़ता ।

इसके विपरीत अमेरिका के उत्तरी तट की क्वाकिउट्ल जाति है । उसमें प्रतिद्वन्द्विता, ज्वलन्त आत्माभिमान और तीव्र आत्मगौरव की भावना को चरम रूप में उभाड़ा जाता है । उसका पाटलेंदूचखेल उपहार देने की प्रतिद्वन्द्विता जगाता है । पद तथा सम्मान पंतूक हैं किन्तु उनकी मर्यादा बचाने के लिए इस खेल के द्वारा अत्यधिक उपहार देने पड़ते हैं तथा समान पद के व्यक्ति द्वारा दिया हुआ उपहार बढ़ा-चढ़ा कर लौटाना पड़ता है । विवाह, सन्तानोत्पादन आदि भी इस खेल के लिए अवसर प्रदान करते हैं । इतना ही नहीं, उपयोगी वस्तुओं को शान में आकर नष्ट कर देने की प्रतियोगिता भी बड़ा उग्र रूप ग्रहण करती रहती है । प्रतिद्वन्द्वी अपनी नौका डुबा देते हैं, कम्बल जला डालते हैं, मूल्यवान् ताम्र-खण्ड समुद्र में फेंक देते हैं और कभी-कभी घर में भी आग लगा देते हैं या शान में लगने देते हैं । खेल में हार जाने पर किसी समान-पद वाले को मार डालना उत्तम समझा जाता है, ऐसा करने से प्रतिष्ठा बच जाती है । इस जाति के धर्म, विधियाँ और त्योहार भी इस 'अति' की ही जाग्रत करने वाले हैं । धार्मिक शक्ति तथा श्रमण का पद प्राप्त करने के लिए घोर कष्ट-सहिष्णुता और मानसिक-विक्षिप्तता प्रदर्शित करनी पड़ती है । एक विशिष्ट-विधि में नर-मांस तक खाया जाता है । आत्मीय की मृत्यु हो जाने पर समान-पद वाले व्यक्ति को मार डाला जाता है और कहा जाता है 'कि हम नहीं रोयेंगे, दूसरे रोयें' । फलतः इस जाति का व्यक्ति इतनी आत्म-प्रशंसा का प्रेमी तथा भावुक हो जाता है कि किञ्चित् अपमानित हो जाने पर ही आत्महत्या तक कर लेता है या एकान्त सेवन और घोर तप द्वारा धार्मिक बन जाता है । खेल की हार, जीवन की असफलता और पिता की डांट-फटकार तक की क्षतिपूर्ति इन्हीं रूपों में की जाती है ।

एक तीसरा उदाहरण पूर्वी न्यूगिनी के दक्षिणी किनारे के निवासी 'डाबू' लोगों का है । इनकी संस्कृति इन्हें सन्देहशील, धोखेबाज और अत्यधिक स्वार्थी

बना देती है। इनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना बड़ी तीव्र है। जादू पर इतना बेहूवा विश्वास है कि हरेक मनुष्य दूसरे को जादूगर समझता है और एक दूसरे से डरता रहता है। यहाँतक कि स्त्री-पुरुष भी एक दूसरे को शङ्का की दृष्टि से देखते हैं। दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जीवित मृत्यु का कारण माना जाता है और उसकी दुर्दशा हो जाती है। जादू के बल पर एक खेत का कन्द भी दूसरे के खेत में चला जाता है। विवाह स्त्री-पुरुष के व्यभिचार पकड़े जाने पर ही सम्पन्न होता है। पुरुष से अत्यधिक श्रम कराया जाता है। उसे अपनी स्त्री और सास का खेत भी देखना पड़ता है और अपना भी। इस जादू के अति-विश्वास ने इन्हें संशयी और धोखेबाज बना दिया है। व्यापार और विनिमय में किसी को ठग लेने वाला, दूसरों को धोखा देने वाला, जादू के द्वारा अन्यो की हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति भय तथा आतंक के बल पर प्रतिष्ठित माना जाता है। सम्पूर्ण जाति खिन्नता, ईर्ष्या, शङ्का, क्रोध, कपट तथा दुराव-छिपाव के कारण विक्षिप्त-सी बनी रहती है।

किसी भी जाति या वर्ग को समझने के लिए सांस्कृतिक आदर्श बहुत उपयोगी-तत्त्व हैं। हम उसे यदि ध्यान में न रखें तो जातिके जीवन तथा सभ्यता को समझ नहीं पायेंगे। भारत की जन-जातियों में ही हमें विष्णु और रुद्र तथा दूसरी संस्कृतियों के निदर्शन प्राप्त हो सकते हैं। जूनी तथा डाबू के समान ही संताल, नागा तथा कई अपराधी-जातियों में सीधा विभेद दिखाई पड़ेगा। संताल-संस्कृति वस्तुतः विष्णु-संस्कृति है। यह उनके जीवन की सरलता, यथाप्राप्ति-संतोष तथा शान्ति-प्रियता से स्पष्ट हो जाता है। उनका सम्पूर्ण जीवन उसी ओर ले जाने वाला, उसी ढाँचे में ढालने वाला है। एकाध त्योहारों में—यथा बीर-सेन्दरा में, और बधना में, मृगया सम्मिलित है, किन्तु कहीं भी अति-कष्ट तथा मानसिक असाधारणता का दर्शन नहीं होता। तप कृच्छ्र-उपवास, अत्यधिक विनाशकारिणी शक्ति का संचय, उनके धर्म का ध्येय नहीं है। वे जीवन जैसा है, वैसा ही मानकर ग्रहण करते हैं, और हँसते-खेलते बिता देते हैं। परस्परावलम्बन, संगठन, नियमित-जीवन-विधि इन्हें सह-योगी तथा मध्यमार्गी चेतना ही अधिक देती है। इनके नृत्यों में भी इनका जीवन झँकता है और इनकी चारित्रिक विशेषता झलकती रहती है। कराम-नृत्य को छोड़कर किसी भी नृत्य में उछल-कूद और अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती। पंर नपे-तुले रूप में, शान्ति तथा मधुरता के साथ उठते गिरते हैं। गीत की लय और तान भी मधुर ही रहती है, विशेष ऊँची और खींची हुई कभी नहीं होती। बाजे भी मधुर ध्वनि में ही बजते हैं, जोर-दार झंकार नहीं हो पाती। कराम-नृत्य प्रधानतया मत्य-नृत्य है; इसलिए

इसमें दुःख और वेदना को शारीरिक-श्रम द्वारा उछल-कूदकर भुला देने की भावना रहती है । उरांव-संस्कृति संतालों से भी मधुर तथा आनन्दमयी है ।

इनके विपरीत नागा आदि कई जातियों की सारी व्यवस्था, उनका सारा धर्म, उनकी सारी उपासना-पद्धति शक्ति के प्रदर्शन और संचय के लिए है । उनमें प्रत्येक अवसर पर अति का दर्शन होता है । शरीर के रक्त से देव-तुष्टि, क्लिष्ट-साधना, नर-बलि, नरमुण्ड-मगया, मारण-उच्चाटन के प्रयोग इस शक्ति-उपासना के प्रतीक हैं । भातू, सांसिया, कंजड़ आदि अपराधी जातियों का सारा जातीय-संगठन चोरी, धोखेवाजी और ठगी के लिए है ।

किन्तु सांस्कृतिक-आदर्शों पर अत्यधिक जोर देने से एक भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है, जिससे बनेडिक्ट बच नहीं सकी हैं । सांस्कृतिक आदर्श कोई गढ़ा-गढ़ाया तत्त्व नहीं है, और न किसी जाति के साथ सनातन-रूप में चिपका रहनेवाला पदार्थ है । हम जितनी आसानी से आरम्भिक रूप में जीवन-यापन करनेवाली जाति का सांस्कृतिक आदर्श निर्धारित कर सकते हैं, उतनी सरलता से विकसित तथा अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क में आनेवाली जाति का नहीं कर सकते । अविकसित जातियाँ इने-गिने सामान्य उपादानों से ही अपनी जीविका चलाती हैं । इसलिए जो सारी जाति के आदर्श हैं, वे ही सभी समुदायों में सभी अवसरों पर प्रतिबिम्बित होते हैं । धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य की परिभाषा और सीमा प्रायः सभी सदस्यों के पास एक ही रहती है । हमारी तरह उनके विभिन्न सदस्य विभिन्न धारणाएँ नहीं रखते । उनमें न तो अनेक वर्ग हैं और न भिन्न-भिन्न स्वार्थ । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति धारणाओं और मान्यताओं के सम्बन्ध में समूह से अलग नहीं जा पाता । अपनी प्रथाओं, विधियों और जातीय-मूल्यों पर सभी सदस्य पूरा विश्वास करते हैं । उनके सम्पर्क का क्षेत्र सीमित है और निश्चित सांस्कृतिक आदर्शों से विरत करने वाली परिस्थितियों का प्रायः अभाव रहता है । अस्तु युग ने उन्हें जिस रूप में ढाल रखा है, वे उसी में ढले हुए जान पड़ते हैं और वैसे ही दिखाई पड़ते हैं । परन्तु विकसित सभ्यता का बहुरंगीपन सांस्कृतिक आदर्शों की एकरूपता विकृत कर देता है और वे धूमिल, अस्पष्ट और बहुरूपी हो जाते हैं । जिस तरह जूनी आदि के सदस्यों की मनोवृत्ति, प्रवृत्ति और चारित्रिक विशेषता की कोटि निर्धारित कर दी जाती है, उस तरह किसी भी विकसित जाति के व्यक्तियों की नहीं की जा सकती । ऐसा करने की चेष्टा पूर्णतया अवैज्ञानिक होगी । पीछे चलकर स्वयं बनेडिक्ट को श्याम या थाई स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में प्राचीन परिपाटी ही अपनानी पड़ी, और उनके गुण तथा दुर्गुणों का उसी तरह उल्लेख करना पड़ा ।

सबसे बड़ा प्रश्न है—जाति के सारे सामाजिक व्यवहार मिल कर ही सांस्कृतिक आदर्श की रूपरेखा निर्धारित करते हैं अथवा यह कोई अचेतन निरपेक्ष-तत्त्व है। बनेडिक्ट घुमा-फिराकर दूसरे मत का ही प्रतिपादन करती हैं। उनका उद्धरण देकर कहा जा चुका है कि उनके अनुसार 'चयन की अचेतन प्रणाली (unconscious conons of choice), इन व्यवहारों को निश्चित ढाँचों (consistent patterns) को सौंपती है। इस सौंपने का अभिप्राय क्या है? इन व्यवहारों के अनुकूल रूपों को यह ढाँचा या आदर्श ग्रहण कर लेता है और प्रतिकूलों को छोड़ देता है अथवा प्रतिकूल व्यवहार होने ही नहीं देता? चाहे जो हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ये आदर्श परिवर्तनशील और गत्यात्मक हैं, युगानुरूप बदलते हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इन व्यवहारों तथा आदर्शों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये आदर्श और सभ्यता के वाह्य-अंग परस्पर-सापेक्ष हैं। जीवन-विधि आदि के निर्वाचन में संस्कृति का जबरदस्त हाथ रहता है परन्तु सांस्कृतिक आदर्शों के निर्माण में भी उनका भाग कम नहीं रहता। मैंने संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हमारी जीवन-विधि, हमारे त्योहार, हमारा धर्म, जन्म, विवाह आदि की विधियाँ, जीविका प्राप्त करने के साधन तथा इनमें हमारा स्थान, पूरे समाज के साथ और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों के साथ हमारे सम्बन्ध, ये सब मिलकर हमारी चेतना और हमारे अन्तःकरण का निर्माण करते हैं और करते रहते हैं। इनमें प्रत्येक अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक ग्रन्थि (culture complex) बनाता है। ये ग्रन्थियाँ परम्परा की अवशिष्ट भावना या चेतना से मिलकर एक संस्कार-समुच्चय अर्थात् संस्कृति को जन्म देती हैं। इन अंगों में से किसी का भी रूप परिवर्तित होने पर संस्कृति और उसके आदर्श के चित्र में भी अन्तर आना स्वाभाविक है। यह अन्तर कभी-कभी गहरा होता है एवं कभी-कभी सामान्य और इसीसे लक्षित नहीं हो पाता। आदर्श के चित्र में एक विशेष जीवन-विधि के द्वारा जो रंग भरे गए हैं, वे उस विधि के विकसित अथवा परिवर्तित हो जाने पर बने ही रहेंगे, यह नहीं माना जा सकता। धार्मिक विद्वानों, विधियों, प्रथाओं के परिवर्तन से भी यही स्थिति होगी।

ये संस्कृति के वाह्य-निर्माता समानान्तर रूप में साथ-साथ ही विकास नहीं करते, आगे-पीछे भी चलते हैं। आज के इस असमानान्तर-विकास पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री आगबर्न ने विस्तार के साथ विचार किया है तथा इसका नामकरण सांस्कृतिक लंगड़ापन या सांस्कृतिक पिछड़ापन (cultural lag) किया है। इसलिए इस लंगड़ी स्थिति में असम-अवयवों से निर्मित आदर्श

सदा एक रूप ही होंगे लंगड़े नहीं होंगे, या परस्पर-विरोधी रंग भरने की चेष्टा नहीं करेंगे, यह कौन कह सकता है ?

इन आदर्शों को अचेतन तथा स्थिर से मानने वाले विद्वानों ने संस्कृति की पूर्णता (Integration of culture) पर अधिक जोर दिया है । इसीलिए आदर्शों के निर्माण करने वाले तत्त्वों को एक ही दिशा में उन्मुख बताने की चेष्टा उन्होंने अधिक की है और यह प्रमाणित करने का अधिक प्रयत्न किया है कि ये सारे तत्त्व और सामाजिक व्यवहार उस आदर्श के साधक-मात्र हैं । परन्तु जो साधक हो सकता है वह किन्हीं अंशों तक बाधक भी बन सकता है, यह तथ्य उन्होंने स्वीकार नहीं किया । सांस्कृतिक अपूर्णता (disintegration of culture) तथा बहुरूपता के उदाहरण भी उनके सामने हैं । स्वयं रूथबेनेडिक्ट कोलम्बिया की जातियों की चर्चा चलाते हुए कहती है कि इनके विभिन्न सामाजिक व्यवहार एक निश्चित आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं करते और न निश्चित प्रेरणा की ओर प्रवाहित होते हैं । हरेक व्यवहार “एक स्वतंत्र मानसिक ग्रन्थि का निर्माता है और इसके हेतु तथा उद्देश्य निजी सीमित क्षेत्र के लिए ही उचित हैं । सम्पूर्ण जातीय-जीवन की ओर विस्तृत नहीं है । कोई विशिष्ट मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया ऐसी नहीं होती, जो सम्पूर्ण संस्कृति पर छाई हुई जान पड़े ।”*

आपने इस अनेकरूपता के दो कारण बतलाये हैं । (१) विपरीत संस्कृतियों के संगम-स्थल या सीमान्त-क्षेत्र की संस्कृति, दोनों से प्रभाव ग्रहण करने के कारण एकरूपता खो देती है । (२) कोई समुदाय अपने मूल-समाज से अलग होकर बिना उचित-संस्कार ग्रहण किये हुए ही किसी अन्य समाज से सम्बद्ध हो जाने पर बहुरूपता का शिकार हो जाता है । सरल शब्दों में इन दोनों कारणों को हम विपरीत-सम्पर्क कह सकते हैं । वास्तव में विपरीत सम्पर्क एक शक्तिशाली तत्त्व है, जो संस्कृतियों में सदा परिवर्तन करता आया है और आज भी करता है । परन्तु यही एकमात्र कारण नहीं है, इस बहुरूपता के और भी कारण हो सकते हैं, जिनमें सभ्यता के अंशों का और आदर्शों के निर्माण करने वाले तत्त्वों का असम-विकास भी है । आज का युग व्यापक रूप में विपरीत-सम्पर्क के साथ ही असम-विकास का भी शिकार हो रहा है । प्रत्येक विकसित-जाति का जीवन विपरीत-संस्कार उत्पन्न करने-

* It forms a complex of its own, and its motivations and goals are proper to its own limited field and are not extended to the whole life of the people. Nor does any characteristic psychological response appear to have arisen to dominate the culture as a whole.

वाले अनेक अंगों में बँट गया है। धर्म प्राचीन-संस्कार जीवित रखने की प्रेरणा देता है, किन्तु आज की जीवन-विधि दूसरी ही चेतना प्रदान करती है। धर्म, सन्तोष, सहयोग और त्याग का आवाहन करता है, परन्तु जीविका गम्भीर जीवन-व्यापी प्रतियोगिता तथा संग्रह के लिए बाध करती है। इस तरह ये दोनों परस्पर विरोधी सांस्कृतिक-ग्रन्थियाँ (culture complex) और भावनाएँ देते हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया के सम्बन्ध में रूथ बेनेडिक्ट ने जो कुछ कहा है, उसे हम सम्पूर्ण सभ्य-समाज के लिए कह सकते हैं और आसानी से देख सकते हैं कि हमारे सामाजिक-व्यवहार बहुमुखी हैं किसी निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रेरणा की ओर समाज और व्यक्ति को अभिमुख नहीं कर पाते।

सामाजिक-व्यवहारों के विपरीत या परस्पर विरोधी संस्कार सदा हानिकारक ही नहीं होते। एक की अति को दूसरा संयमित भी करता है। ये एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करते हुए सामाजिक-जीवन को एक प्रकार की समरसता भी देते हैं, विभिन्नता में भी एकरसता उत्पन्न करते हैं। हम उनमें एकरूपता नहीं पा सकते, एक ही दिशा में बहने वाले झरनों की गति उनमें नहीं मिल सकती, किन्तु इस बहुरूपता के भीतर एकपूर्णता, बहुरंगीपन के भीतर एक निश्चित चित्र भी पा सकते हैं, वशर्ते कि रंगों में सन्तुलन हो।

एक ही जाति के धर्म में यौनोपासना, प्रेममूलक भक्ति, तथा साथ ही बलिदान, कृच्छ्र-साधना आदि की स्थिति पाई जाती है। प्रथम द्वारा जागृत आत्मसमर्पण, निष्क्रियता तथा भाग्यवादिता की भावना में दूसरा पौरुष का समावेश करता है और इसके द्वारा जागृत निर्ममता (sadism) में प्रथम रस तथा संयम का संचार। दोनों मिलकर एक मध्यमार्गी दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो अपने में अपूर्ण नहीं, बहुत कुछ पूर्ण है। हम इस संतुलित मनस्तत्त्व को भले विष्णु या रुद्र-संस्कृति के अन्तर्गत नहीं रख सकें, अथवा भले कोई मनोवैज्ञानिक नामकरण नहीं कर सकें, परन्तु है यह वास्तविक। अपने अस्तित्व के लिए किसी पारिभाषिक-शब्द की अपेक्षा नहीं रखता। वास्तव में मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक-शब्द अति के निदर्शन का ही रूप देते हैं, इसलिए इनके निश्चित साँचे में सब 'फिट' नहीं हो सकते। 'फिट' नहीं होना ही अवास्तविक और अवैज्ञानिक है, ऐसी बात नहीं है।

कोई एक ही सामाजिकरूप (trait) अन्य रूपों द्वारा उत्पन्न 'अति' को संयत करने में कहाँ तक समर्थ हो सकता है, इसका सुन्दर उदाहरण ट्रोब्रियांड-द्वीप की 'कुला' प्रथा है। यह द्वीप डाबू के निकट ही स्थित है। डाबू के कपटी, संशयी और संग्रही रूप का उल्लेख किया जा चुका है। ट्रोब्रियांड की संस्कृति के अनेक पहलू डाबू से मिलते-जुलते हैं। सम्पत्ति और संग्रह की

भावना वंसी ही प्रबल है, प्रतिद्वन्द्विता का वही विषमय-रूप दिखलाई पड़ता है तथा जादू की शक्ति पर वंसा ही अटल विश्वास है एवं उसका उसी तरह अनिष्ट के लिए प्रयोग किया जाता है। किन्तु 'कुला' की परिपाटी उसके निवासियों को डाबू के समान कटु और विषंगीकारक नहीं बनने देती। प्रसिद्ध नृत्य-शास्त्री बी० मैलिनोवस्की ने इसकी संयतकारिणी शक्ति का सुन्दर चित्रण किया है। कुला एक विदेशी व्यापार का साधन है। प्रतीकात्मक मूल्य की वस्तुयें एक दूसरे को दी जाती हैं और उनके मूल्यस्वरूप कुछ सामान देनेवाले को मिलता है। पानेवाला भी दूसरे को देता है और फलस्वरूप उपहार पाता है। यह सिलसिला सदा चला करता है। इसमें क्षणिक-संग्रह के साथ ही त्याग की तीव्र भावना भी मिली हुई है, जो इस जाति को डाबू वालों से भिन्न कर देती है और उनकी संग्रही-चेतना में एक रस घोल देती है। श्री मैलिनोवस्की का कथन है कि "यह केवल एक व्यापारिक विनिमय ही नहीं, विधि है, जो स्वतः अपना उद्देश्य है और जिसे संग्रह की गहरी वासना से चलाया जाता है। किन्तु यहाँ यह सामान्य संग्रह नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट संग्रह है, जिसमें मनुष्य थोड़ी ही देर के लिए अधिकारी बनता है। यहाँ के निवासियों को कुला का पदार्थ प्रतिष्ठा प्रदान करता है, ऊँचा उठाता है और इसलिए वे इसे सम्मान देते हैं। लेन-देन के समय इनका व्यवहार स्पष्ट कर देता है कि इसे ये केवल मूल्यवान ही नहीं समझते, अपितु इसे एक विधि मानते हैं और यह मनोवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है।"*

प्रायः हरेक संस्कृति में इस तरह के रूप आपको खोजने पर मिलेंगे। जिनकी संयत-कारिणी शक्ति उस संस्कृति को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संस्कार जगाने वाले सभ्यता के इन अंगों में युगानुसार कभी किसी की प्रधानता होती है, कभी किसी की। जिस युग में जो अंग प्रधान पड़ता है, उसमें उसीके जगाने वाले संस्कार, प्रमुख पड़ जाते हैं, शेष या तो गौण हो

* A half commercial, half-ceremonial exchange, it is carried out for its own sake, in a deep desire to possess. But here again it is not an ordinary possession, but a special type, in which a man owns for a short time...To the native it is something that confers dignity, and exalts him; and which he therefor treats with veneration. Their behaviour at the transaction makes it clear that it is regarded not only as possessing high value, but that it is treated also in a ritual manner, and arouses emotional reactions.

जाते हैं या केवल पाखण्ड मात्र बन कर जीवित रहते हैं। हम बिना विस्तार में गये हुए कह सकते हैं कि प्राचीन काल में धर्म अपने व्यापक रूप में अत्यन्त प्रबल था और सांस्कृतिक-आदर्श के निर्माण में उसी का प्रधान हाथ था। आज के आधि-भौतिक युग में प्रथा, धर्म आदि अपनी शक्ति बहुत कुछ खो चुके हैं और खो रहे हैं। ऐसी स्थिति में सभ्य कहे जानेवाले समाज में उत्पादन प्रधान पड़ रहा है। इसलिए जीविका के साधनों से मिलने वाले संस्कार ही सांस्कृतिक-आदर्श और सामाजिक-चेतना के निर्माण में प्रमुख भाग लेने लगे हैं। किसी भी एक रूप से सम्पूर्ण संस्कृति नहीं बना करती। इसलिए जीवन विधि के संस्कार ही संस्कृति नहीं कहे जा सकते, किन्तु उन्हें संस्कृति का एक मुख्य अंग तो मानना ही पड़ेगा।

जीवन-विधि के संस्कार क्या हैं? इन्हें तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। (१) अपनी जीविका प्राप्त करने के लिए मानव को जिस मनोवृत्ति से काम करना पड़ता है, वही उसके तथा उसके वर्ग के संस्कार का मूलधार बन जाती है और वही सामूहिक रूप में उस जाति और वर्ग के चरित्र की विशेषता का प्रधान रूप में निर्माण करती है। एक किसान परस्परालम्बन के कारण सहयोग सीखता है और एक व्यापारी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता। एक शिक्षक वकील तथा सम्पादक की अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। (२) जीविका के साधनों में हमारा और हमारे वर्ग का स्थान एवं पूरे समाज के साथ तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ हमारा आर्थिक, सामाजिक सम्बन्ध भी विशिष्ट आदर्श, प्रवृत्ति और संस्कार की प्रेरणा देता है। (३) प्रत्येक जीवन-विधि वातावरण, सन्निकर्ष और प्रतिवेश के एक विशेष-रूप को जन्म देती है। यह रूप भी हमारे संस्कारों में कम महत्वपूर्ण नहीं है। मोड ने प्रतियोगिता और सहयोग के आधार पर संस्कृतियों के अध्ययन का एक सुन्दर प्रयत्न आरम्भ किया है। यह अध्ययन, सम्भव है, आगे चलकर अचेतन और रहस्य का अन्धकार चीर कर जाति, संस्कृति और चरित्र के अध्ययन को अधिक सरल और वैज्ञानिक बना दे।

ये रूप वर्ग का चरित्र भी निर्मित करते हैं और साथ ही वर्ग के भीतर व्यक्तिगत विशेषता और परिस्थितिकी भिन्नता के कारण व्यक्तिका चरित्र भी। कोई भी समाजशास्त्री यह नहीं कह सकता कि केवल जीवन-विधि ही एकमात्र सांस्कृतिक-आदर्श का मूलभूत हेतु है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने मूल रूप में किसी भी दूसरे व्यक्ति से अलग है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियों का कथन है कि किसी मानव में पाये जाने वाले जीव-सूत्रों (क्रोमोजोम) और जीवाणु-

कोषों का संगठन किसी भी अन्य—वर्तमान, भूत और भावी मनुष्य से भिन्न हुआ करता है । इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपनी विशिष्टता लिये हुए है; और परिस्थितियाँ, पर्यावरण और प्रतिवेश समान रहने पर भी कोई भी एक मनुष्य दूसरे के नितान्त समान नहीं हो सकता । इसके साथ ही जीविका तथा उसकी मनोवृत्ति ही सामाजिक-संगठन, विश्वास, लोकनीति तथा परम्परा की चेतना से बहुत कुछ परिचालित होती रहती है । जूनी तथा डाबू दोनों की रोटो के साधन प्रायः एक ही हैं; क्योंकि दोनों उद्यान-जीवी (Horticulturist) हैं; किन्तु डाबू अपनी धार्मिक-धारणाओं, सामाजिक-मान्यताओं तथा जादू पर अटूट-विश्वास के कारण शङ्का तथा सन्देह से जर्जर हो गये हैं; परन्तु जूनी उद्यान जीवन की मूलभूत-भावना,—सहनशीलता, संयम, संघर्ष-हीनता और सहयोग; बनाये हुए हैं । मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि (१) जीवन-विधि, जीविका तथा आर्थिक-सामाजिक पद (स्टेट्स) चरित्र-निर्माण में एक मुख्य भाग लेते हैं और (२) आज की आधिभौतिक-सभ्यता में, जबकि जीवन की सम्पूर्ण साधना जीविका को ही समर्पित की जाने लगी है तथा धर्म, लोकाचार, परम्परा की शक्ति क्षीण होती जा रही है, ये संस्कार ही सांस्कृतिक-आदर्श के, बहुत कुछ अंशों में, मूलभूत हेतु बन रहे हैं और विनानुदिन बनते जा रहे हैं ।

अद्यतन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Gestalt Psychology) के विद्वानों का एक बड़ा बल यह मानता है कि कोई व्यक्ति ईमानदार और बेईमान नहीं है, वरन् ईमानदारी, बेईमानी उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ हैं । सर्वांश में तो नहीं, परन्तु बहुत बड़े अंश में व्यवहार भी इस कथन का समर्थन ही करता है । चाहे जो हो, यह कथन केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, वर्ग, जाति और समाज के लिए भी सही जान पड़ता है । इतिहास तथा आर्थिक-विकास अनेक उत्कृष्ट समाजों को अपराधी जाति के रूप में परिणत कर देता है । नट, डोम, साँसिया, मुसहर आदि अपराधी कही जानेवाली जातियों का इतिहास इसका साक्षी है । इससे स्पष्ट है कि जिस परिस्थिति, वातावरण तथा आर्थिक, सामाजिक-सम्बन्धों के बीच जीवन-यापन किया जाता है, खाया-कमया जाता है, उसके परिवर्तित हो जाने पर पुरानी मनोवृत्ति भी बदल जाती है ।

सांस्कृतिक-आदर्श का प्रश्न केवल विद्या या बुद्धिविलास के लिए ही नहीं है, वरन् समाज-सुधार की सार्थकता और स्वार्थता के विश्वास से सम्बन्धित है । किसी जाति, समाज या राष्ट्र का चरित्र परिस्थितियों के परिवर्तन और नियंत्रण से, समाजोपयोगी आदर्श की नव प्रेरणा से, सम्पर्क की व्यवस्था

से और नवीन वातावरण के निर्माण से उचित दिशा में मोड़ा जा सकता है या नहीं, यह युग का ज्वलन्त प्रश्न है। पिछड़ी, अविकसित तथा अपराधी-समाजों को हम सभ्यों की कोटि में लाना चाहते हैं तथा सभ्य कहे जाने वालों में प्रतियोगिता की तीव्र भावना और वैषम्य के कारण जो कटुता, नीच-स्वार्थ-पूर्ण-प्रवृत्ति गहरे रूप में प्रवेश कर गई है; उसे निकालकर, सहयोग, जन-भावना तथा उदारता के मधुर बीज रोपना चाहते हैं। इन सब समाज-निर्माण (सोशल इंजिनियरिंग) के कार्यों के लिए योजनाएँ बना रहे हैं। यदि सांस्कृतिक आदर्श और चरित्र कोई रहस्य है, जिसे बुद्धिपूर्वक नहीं बदला जा सकता, तो हमारे ये प्रयत्न व्यर्थ हैं और हमें संसार को भगवान् और भाग्य के भरोसे छोड़ देना चाहिए। रूथ बेनेडिक्ट अन्य कई नृवैज्ञानिकों के समान इस समाज-निर्माण की सफलता पर विश्वास नहीं करती। परन्तु इतिहास इसका साक्षी है कि सांस्कृतिक-सम्पर्क (Cultural diffusion) तथा परिस्थितियों के परिवर्तन से जाति का सम्पूर्ण ढाँचा और सम्पूर्ण मौलिक-चारित्रिक-वैशिष्ट्य ही बदल गया है, और बदल जाता है—चाहे यह परिवर्तन उत्कृष्टता की ओर ले गया हो या निकृष्टता की ओर। अब तक का परिवर्तन अपने आप अज्ञात-रूप में होता आया है। आज का वैज्ञानिक-युग इसके मूलभूत-प्रवाह और उसकी गति में पंठकर इसे जान लेना चाहता है, नाप लेना चाहता है, और बुद्धिपूर्वक मुनिश्चित योजनाओं द्वारा इसे आवश्यक दिशा में मोड़ लेने की चेष्टा कर रहा है। सामाजिक योजना पर विश्वास करनेवाले समाजशास्त्री इसी ओर जाना चाहते हैं। सामाजिक सेवा का सम्पूर्ण वैज्ञानिक महल इसी धारणा की नींव पर खड़ा है। आर्थिक-योजनाएँ केवल उत्पादन की पूर्ति के लिए ही नहीं होनी चाहिए, वरन् इसके साथ ही इनका उद्देश्य होना चाहिए जीवन-विधि के ऐसे रूप को विकसित करना, जिससे व्यक्ति व्यक्ति का, वर्ग वर्ग का आर्थिक सम्बन्ध समानता के ठोस धरातल पर आधारित हो, और जिससे आज की संकुचित स्वार्थमयी भावना के स्थान पर सहयोग, आत्मीयता और मानवता पनप सके।

प्रसन्नता का विषय है कि आज के कई लब्धप्रतिष्ठ नृ-वैज्ञानिक भी परिवर्तन की गति पर उचित नियंत्रण के सम्बन्ध में सोचने लगे हैं। श्री मैलिनोवस्की—जिन्हें रूथ बेनेडिक्ट भी गुरुवत् मानती हैं, कहने लगे हैं कि 'आज कोई भी जन जाति अपने मूल रूप में अछूती नहीं बची है'* , इसलिए किसी भी जाति के स्वतंत्र सांस्कृतिक आदर्श का स्वप्न देखना व्यर्थ है। इतना

* Uncontaminated native does not exist any more

ही नहीं, अफ्रिका के सम्बन्ध में विचार करते हुए आप कहते हैं कि “विकास और प्रभाव ग्रहण की गतियाँ साधारण रूप में जितनी भिन्न दिखाई पड़ती हैं, उतनी ही नहीं”, * अर्थात् स्वतः विकास से संस्कृति में जो परिवर्तन होते हैं वे ही दूसरों से ग्रहण करने पर भी हो सकते हैं। इससे निश्चित है कि बुद्धि पूर्वक संस्कृति का आदान-प्रदान उतना ही सम्भव है, जितना अपने आप विकास से। वे आगे कहते हैं—“अफ्रिका का सांस्कृतिक परिवर्तन उस परिवर्तन से मूल रूप में भिन्न नहीं होगा, जिसके द्वारा योरोप के पिछड़े देश कृषि की स्थिति से नवीन (पूँजीवादी) रूप में ढल रहे हैं, बदल रहे हैं”^१ अर्थात् परिवर्तन की गति सर्वत्र साधारणतया समान ही है। यदि अफ्रिका या किसी भी पिछड़े देश को नवीन युग के साधन दिये जायें तो वह उसी तरह बदलेगा, जिस तरह आज यूरोप के कई देश बदल रहे हैं।

अद्यतन मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र अपने प्रयोग, विवेचन और विश्लेषण से इस निर्णय पर पहुँच चुका है कि सामाजिक मान्यताएँ (Social norms) अनुभव और क्रिया के नियंत्रण में प्रधान भाग लेती हैं परन्तु यदि व्यक्ति और समूह को ऐसी ठोस भौतिक स्थिति का सामना करना पड़ता है, जिसमें प्रचलित सामाजिक धारणाओं, मान्यताओं और आदेशों से संघर्ष या विपरीतता हो तो भौतिक आवश्यकता से उद्दीप्त भावना (material stimulating conditions) ही कई अवस्थाओं में मूल निर्णायिका बन जाती है। इतना निश्चित है कि यह स्थिति आज के आधिभौतिक युग की है। धर्म और लोकाचारों के जागृत और जीवित रहने पर भी सांस्कृतिक आदर्शों में भौतिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होते हैं, परन्तु धीरे धीरे अपनी गति से, समयानुसार। लेकिन आज तो जीवन-विधि के संस्कार ही संस्कृति के मूल नहीं तो कम से कम प्रधान, निर्णायक अवश्य बन बैठे हैं। यह संसार का और युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, परन्तु हम इसे सौभाग्य में परिणत भी कर सकते हैं। युग के मनीषी इसी रूप में सोच रहे हैं, इसी दिशा में हमें ले जाना चाहते हैं। प्रयोग ने स्पष्ट कर दिया है कि एक मानव

* Evolution and diffusion are processes not so different as they appear at first sight.

1. Cultural change in Africa does not differ profoundly from that which is transforming the rural backward countries of Europe from peasant communities into a new type—The Dynamics of Social change : An Inquiry into Relations in Africa.

के जीवन काल में भी परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं के सुखद या दुखद रूप देखे जा सकते हैं और इनका प्रभाव चरित्र पर भी संलक्षित हो सकता है। समाज आखिर व्यक्तियों का ही तो समूह है ! क्या किसी जाति या समाज को सामूहिक रूप में उचित दिशा की ओर ले जाना सम्भव नहीं है ? यदि व्यक्ति के लिए सम्भव है तो जाति के लिए भी अवश्य है। विश्वास है सामाजिक आर्थिक योजनाओं द्वारा जीवन विधि के नियंत्रण का यह नव अनुष्ठान अन्धकार भेद कर नव युग का सुनहला प्रभात ला सकेगा और लायेगा; जिसमें सांस्कृतिक आदर्श का जनोपयोगी और जगोपयोगी मंगलमय रूप निखर उठेगा।

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य (ethos)—सामान्य अर्थ में किसी भी संस्कृति के मूल-रूप को—जो दूसरी संस्कृतियों से उसकी विशिष्टता स्थापित करता है, सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की संज्ञा दे सकते हैं। संस्कृति के सम्पूर्ण विषय-वस्तु (contents) को, उन सभी निर्मातृ-तत्त्वों को—जिनसे मिलकर संस्कृति के अमूर्त परन्तु शक्तिशाली रूप का निर्माण होता है, कुछ नृवैज्ञानिक सांस्कृतिक-रूप (eidos) नाम देते हैं और इन रूपों के मिलने से, प्रत्येक रूप से भिन्न जो एक तत्त्व निर्मित होता है, उसे वैशिष्ट्य (ethos)। यदि संस्कृति को हम जल मानें तो हाइड्रोजन और आक्सीजन को, जिनसे जल का निर्माण हुआ है, उसके 'रूप' कहेंगे और इन दोनों गैसों से भिन्न; किन्तु इन्हीं से मिलकर जो द्रवशीलता, शीतलता आदि तत्त्व उत्पन्न हो गये हैं, उन्हें वैशिष्ट्य नाम देंगे। परन्तु सांस्कृतिक-वैशिष्ट्य और सांस्कृतिक आदर्श के बीच सीमा-रेखा खींचना जरा कठिन जान पड़ता है। वैशिष्ट्य के नाम पर कुछ विद्वानों ने संस्कृतियों के संक्षिप्त नामकरण करने का प्रयत्न किया है। ये नाम प्रधान रूप में संस्कृति द्वारा उत्पन्न प्रवृत्तियों से ही सम्बन्ध रखते हैं; जो सांस्कृतिक आदर्श के अन्तर्गत आ जाता है। इसलिए यहाँ दोनों घूम-फिर कर एक ही बन जाते हैं और इससे उलझन और भी बढ़ जाती है। आइडोज (eidos) और इथोज (ethos) दोनों ग्रीक शब्द हैं। 'आइडोज' से अंग्रेजी का 'आइडल (idol)' शब्द व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है मूर्ति, रूप, स्वरूप और प्रतिमा एवं 'इथोज' से 'इथिक्स' (ethics) बना है, जिसका अभिप्राय आचार और उचित-अनुचित के निर्णय से है। वैशिष्ट्य या इथोज में 'आचार' का सूक्ष्म-भाव अवश्य रहना चाहिए। इसके लिए इसकी परिभाषा होनी चाहिये संस्कृति द्वारा प्रेरित आचार और लोकाचार की धारणा अथवा वे मूल्य और विचार जिन्हें संस्कृति में सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है; और भौतिक-उपयोगिता का बहुत ही कम विचार

करते हुए, जिनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना समाज अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानता है ।

सारांश यह है कि सांस्कृतिक रूप (eidos) का अर्थ है सांस्कृतिक विषय-वस्तु, आदर्श द्वारा प्रेरित या जागृत मनस्तत्त्व तथा वैशिष्ट्य का अभिप्राय, है सांस्कृतिक मूल्य या मूलभूत धारणा ।

खण्ड तीसरा

[सामुदायिक-जीवन]
(**Group Life**)

चौथा प्रकरण

[सामाजिकता का मानसिक आधार]

बहुत प्राचीन काल से ही यह कहा जाता है कि 'मनुष्य सामाजिक जीव है'। वह अपने जीवन के लिए समाज पर निर्भर है तथा उसकी मनुष्यता समाज में ही अंकुरित, पल्लवित तथा प्रस्फुटित होती है। हम समाज से झुँझलाते हैं, घबड़ाते हैं और कभी-कभी संघर्ष भी करते हैं, परंतु उससे अलग होकर रहना हमारे लिए असम्भव हो उठता है। हम अपने कार्यों की समाज से स्वीकृति चाहते हैं और समाज-विरोधी कार्य करते हुए संकोच करते हैं और डरते हैं। इस संघर्ष तथा एकरूपता (confirmity) का सामंजस्य ही हमारा सामाजिक जीवन है। हम स्वयं एक हैं और इस एक को बनाए रखना चाहते हैं। इस एक का प्रकाशन आत्म-भाव (ego) है और इसको बहु का अंग मानकर बहु के अनुरूप ढालने का प्रयत्न सामाजिकता है। जहाँ इस एक के अहम् की तृप्ति में बाधा पड़ती है, वहाँ हम दुखी और व्याकुल हो उठते हैं और कभी-कभी लड़ भी पड़ते हैं। हमारी यह लड़ाई सदा नहीं चल सकती और हमें किसी न किसी रूप में सामंजस्य की स्थापना करनी ही पड़ती है। इसी को प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट 'असामाजिक सामाजिकता' (The unsocial socialableness) कहते हैं।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य की सामाजिकता के पीछे कौन-सा तत्त्व है, जो उसे समाज से बांधे रखता है और यह तत्त्व जन्मजात है या समाजोपलब्ध (socially acquired)। यह मनोविज्ञान का प्रश्न है और समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हमें इसकी गहराई में जाना आवश्यक नहीं है, अस्तु हम संक्षेप में ही विभिन्न मतों की चर्चा करेंगे। हम साधारणतया इस संबंध के मतों को तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम मत संगलनता (gregariousness) और सामुदायिक सहज-भाव (herd instinct) के नाम से इसे एक अलग भाव ही मानता है। दूसरा मत इसे किसी अन्य सहज भाव से उत्पन्न स्वीकार करता है तथा तीसरा विश्वास करता है कि यह पूर्णतया समाजोपलब्ध है।

(१) संलग्नता (Gregariousness)—पुराने मनोवैज्ञानिक यह विश्वास करते थे कि समाज से संलग्न रखनेवाला एक अलग भाव है, जो सहज और जन्मजात है। जानवर भी अपनी जाति के साथ झुंड में ही रहना पसंद करते हैं। वे केवल जाति की चेतना (consciousness of Kind) से ही अवगत नहीं रहते, वरन् उसमें अपने को मिला देने में ही आनंद पाते हैं। मानव में भी यह चेतना और भावना रहती है। वह भी समाज में रहना इसलिए चाहता है कि उसके भीतर यह सहज-भाव मौजूद है। भारतीय दार्शनिक अपना अहम् विराट् में लीन कर देना ही ज्ञान मानते थे। मनुष्य के विचार उसके विवेक (Conscience) इसी सामुदायिक भावना से उत्पन्न हैं। मानव के जिन कार्यों में समाज या समुदाय की अस्वीकृति का भय रहता है, उसे करने में वह हिचकता है। यही हिचक विवेक-बुद्धि कही जाती है। उसका धर्म भी इसी भावना का फल है।

कुछ लोग इस चेतना को कई विभिन्न भावों का समुदाय मानते हैं जिनमें अनुकरण, सहानुभूति तथा निदर्श (imitation, sympathy and suggestibility) भी हैं, परन्तु इससे यह विषय और भी उलझ जाता है। ये भाव मानसिक विकास के विभिन्न स्तरों की उपज हैं, जिनका संबंध मानव के भिन्न-भिन्न ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक प्रणालियों से है। इस सहज भाव की अवस्थिति का खण्डन तीसरे मतवालों ने किया है, जिनकी चर्चा आगे होगी।

इसी मद्द्वालों के साथ नवीनतम मनोविश्लेषण-शास्त्र के पण्डित युंग का सिद्धांत भी रखा जाना चाहिए। युंग 'सामूहिक अवचेतन मानस' (collective unconscious) की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार मानव के अवचेतन मानस में केवल फ्रायड की कामवासना ही नहीं रहती और न एडलर का अहम्; अपितु एक सामाजिक वासना भी रहती है जो मानव को समाज से एकाकार कराने का प्रयत्न करती है, समाज को सुखी बनाने की प्रबल इच्छा रखती है और उसे समाज का कृपापात्र बनाए रखना चाहती है। व्यक्तिगत अतृप्त-इच्छाओं से भरे हुए व्यक्तिगत अवचेतन-मानस से परे सामूहिक अवचेतन-मानस रहता है; जिससे उसकी नैतिक भावनाओं और सामाजिकता का उदय होता है। युंग के अनुसार नैतिक बुद्धि का आधार समाज के लोकाचार ही नहीं, वरन् उसका जन्मजात सामूहिक-अवचेतन मानस है।

युंग यह मानता है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत अवदमित वासनाएँ अनेक विकार उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार सामाजिक और नैतिक अवदमित

भावनायें भी । हमारा पाप भी हमें पागल बनाता है और हममें विक्षिप्तता उत्पन्न करता है ।

(२) अन्यभाव से व्युत्पन्न—मानव की सामाजिकता को किसी अन्य सहज भाव (instinct) से उत्पन्न माननेवालों में तीन दल प्रसिद्ध हैं । एक दल वात्सल्य को मूल मानता है, दूसरा दल काम को और तीसरा अहम् को ।

(क) वात्सल्य को मूल मानने वालों का कथन है कि मानव की सारी सामाजिक प्रेरणाओं का जन्मदाता यही वात्सल्य है । उनके अनुसार मानव की सारी उच्च भावनाएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इसी से निकलती हैं । आरम्भ में यह मातृत्व में रहता है; पीछे पितृत्व में भी परिणत हो जाता है । बालक की असहाय्यवस्था से माता-पिता उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं और उनके प्रति एक मोह, संलग्नता उत्पन्न होती है । यही सहायता या दया की प्रेरणा आगे चलकर अन्य जीवों के प्रति भी विकसित हो जाती है । इसमें कोई संदेह नहीं कि वात्सल्य एक ऊँचा भाव है और परिवार में इससे कई परार्थ की भावनाएँ विकसित होती हैं, जो मानव-समाज के निर्माण में बहुत सहायक हैं; परन्तु इसी भावना से सारी ऊँची भावनाओं का विकास मान लेना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता । यह कैसे माना जा सकता है कि यही मातृत्व पितृत्व में परिणत हो गया ? मातृत्व में एक सहजता है पितृत्व में वह कभी नहीं है ।

(ख) फ्रायड ने मानव के सभी भावों को राग और द्वेष (Libido and Thanatos) से उत्पन्न माना है । सामाजिकता को भी वह उन्हीं से संचालित मानता है । सामाजिक जीवन दोनों के संघर्ष का सामंजस्य है । द्वेष बड़ा व्यापक भाव है । वह निकटस्थ सम्बन्धियों में भी मौजूद रहता है । परन्तु इस द्वेष की भयंकरता को राग या काम संयमित करता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि फ्रायड का यह काम व्यापक है । पृथक् जीवित पदार्थों को मिलानेवाली तथा उनको एक साथ जुटाये रखनेवाली प्रेरणा ही काम्य है । शायद हमारे यहाँ भी पहले काम का यही व्यापक अर्थ लिया जाता था और इसी से ऋग्वेद के नासादि सूक्त में काम को प्रथम ही उत्पन्न माना है ।

फ्रायड के अनुसार मानव की सारी कोमल भावनायें अवदमित वासनाओं के उन्नयन या शोधन (sublimation) के फल-स्वरूप उत्पन्न होती हैं । जब मनुष्य की कोई वासना अवदमित हो जाती है, उसकी पूर्ति नहीं हो पाती तो वह अवचेतन मानस में चली जाती है और लक्ष्य बदल कर दूसरे-

रूप में प्रकट होती है, कभी कला रूप में फूटती है, कभी देश-प्रेम के रूप में, कभी भक्ति में । इस व्यापक राग में—जिसमें सारा समाज या सम्पूर्ण मानव समा जाते हैं, तथा संकुचित यौन में भी संघर्ष रहता है । मानव के अन्तर में बैठे हुए द्वेष या विनाश से समाज को बचाने के लिए इस व्यापक राग की अत्यन्त आवश्यकता है । इसी से समाज यौन-सम्बन्धों पर नियंत्रण करता है । सांस्कृतिक विकास के लिए द्वेषात्मक प्रवृत्ति पर तथा यौन-सम्बन्धी वासना पर त्याग और संयम आवश्यक हो जाता है । यह दमन दोनों ओर फैलता है । भीतर जाकर विवेक बुद्धि का रूप ग्रहण करता है और बाहर समाज के नेता या समाज के प्रति प्रेम के रूप में फूटता है । यह अवदमित वासना की अति-पूर्ति है ।

सम्भव है, हमारे कई भाव जिनमें कुछ सामाजिक-भाव भी सम्मिलित हैं, वासना के लक्ष्य-परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और उनमें कोमलतादि यहीं से आरोपित होती हो, परन्तु सम्पूर्ण सामाजिक प्रेरणा को कामवासना का परिवर्तित रूप मानना, ठीक नहीं जान पड़ता ।

सामाजिकता की प्रेरणा एक विस्तृत उद्देश्य और कारण को लेकर चलती है, इसे किसी भावना से सम्बन्धित कर देना उपयुक्त नहीं है । इसका उद्देश्य मानव का वृहदीकरण है, इससे मानव समाज के विभिन्न अंगों से विभिन्न रूपों में आवद्ध होता है, जिनमें काम या राग भी एकरूप हो सकता है । परिवार, राज्य, धर्मतंत्र आदि समाज की संस्थाओं से मानव का सम्बन्ध किसी एक वासना के प्रकार में नहीं बाँधा जा सकता । परिवार में यौन का बहुत बड़ा हाथ है, परन्तु वह अकेले नहीं है, उसके साथ जीवन की अन्य आवश्यकतायें भी शामिल हैं (वात्सल्य को तो फ्रायड कामवासना का ही रूप मानते हैं) । राजतंत्र और धर्मतंत्र में काम का बहुत ही कम दर्शन होता है । सम्भव है कि इनमें रुचि उत्पन्न करने वाला काम हो, भक्ति और धार्मिक, राजनीतिक नेता के प्रति उत्पन्न होनेवाला आकर्षण किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों में अवदमित वासना का शोधित रूप भी हो; परन्तु सारे समाज में इसकी अवस्थिति मानना विचित्र-सा लगता है । अर्थतंत्र विचारा तो इतना रूखा है और जीवन की भौतिक ठोस आवश्यकताओं से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वहाँ से काम को भागना ही पड़ेगा । परन्तु हमारे समाज का यह खास अंग है ।

(ग) जिस प्रकार फ्रायड कामवासना को मूल प्रवृत्ति मानते हैं, उसी प्रकार एडलर के अनुसार सबसे प्रबल आत्मप्रकाशन (Self assertion) की भावना है । जब इस प्रकाशन में बाधा पड़ती है तो मानव में कभी तो द्वेष या विनाशात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और कभी आत्महीनता की ग्रंथि

(inferiority complex) पड़ जाती है । गिन्सबर्ग ने एडलर का बिना नाम लिए हुए फ्रायड के द्वेष (aggression or thanatos) को आत्म-प्रकाशन का एक तीव्र और प्रचण्डात्मक रूप माना है । उनके अनुसार द्वेष कोई मूल प्रवृत्ति नहीं है, एक ओर आत्मभावना, स्वामित्व या शक्ति का आस्वादन, दूसरी ओर आत्मप्रकाशन में बाधा की स्थिति या बाधा की आशंका अथवा स्वतंत्रता का अपहरण ही द्वेष या विनाश को उत्पन्न किया करता है । घृणा भी इसी प्रकार की चीज है । फ्रायड ने प्रेम में घृणा की स्थिति भी देखकर द्वेष को मूल प्रवृत्ति माना है । गिन्सबर्ग के अनुसार इसका सम्बन्ध स्वतंत्रता खोने के भय से और प्रेम के बन्धन को सीमित करने के उद्देश्य से है । कहने का अभिप्राय यह है कि अत्यधिक प्रेम में मानव अपनी स्वतंत्रता खो देता है, इसीसे आत्म-प्रकाशन की भावना उस प्रेम में थोड़ी घृणा घोल देती है; ताकि प्रेम का बन्धन थोड़ा सीमित हो जाय और उससे उत्पन्न होने वाली परतंत्रता से थोड़ी रक्षा हो सके ।

आत्म-प्रकाशन और अहम् (ego) जो आत्महीनता की ग्रन्थि (Inferiority complex) उत्पन्न करता है, उसकी अति-पूर्ति मानव अन्य क्षेत्रों में करता है, यह अति-पूर्ति समाजोपयोगी भी हो सकती है और समाज विरोधी भी । मानव का यह आत्मप्रकाशन संकुचित ही हो, ऐसी बात नहीं है । उनका 'स्व' विस्तृत भी होता है । हम अपने परिवार को अपने अहम् का ही एक अंग मानते हैं और दूसरे परिवार के सामने हमारा 'स्व' एक वचन न होकर बहुवचन हो जाता है । यही भावना व्यापक होकर जाति तथा देश तक चली जाती है । उपनिषदों में याज्ञवल्क्य ने मंत्रेयीजी से कहा है—

“नवैजायायै कामया जाया प्रिया भवति ।

आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ॥”

अर्थात् स्त्री के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती अपने लिए प्रिय होती है ।

परन्तु अहम् को व्यापक या संकुचित बनाना संस्कृति का काम है । विभिन्न जातियों की इस सम्बन्ध की धारणाओं में विभेद है । इससे प्रश्न उत्पन्न होता है—क्या आत्मप्रकाशन मूल प्रवृत्ति है और क्या यह हमारी सामाजिकता का मूलाधार है ? आज का मनोविज्ञान विशेषतया प्रयोगिक मनो-विज्ञान इसे मूल प्रवृत्ति नहीं मानता । (हम अभी इस पर विचार करेंगे ।) यह समाज से उपलब्ध प्रवृत्ति है, न कि जन्म से । वस्तुतः यह व्यक्तित्व की एक विशेषता है और निस्संदेह प्रधान विशेषता है, क्योंकि हमारा प्रत्येक कार्य आत्म-प्रकाशन का रूप है और आत्म-पूर्ति का एक साधन है । यह परिस्थिति के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, कहीं समाज-विरोधी बनता है, कहीं

समाजोपयोगी । कहीं उससे संघर्ष की भावना उत्पन्न होती है और कहीं सारे समाज को अपना समझ कर सर्वस्व उत्सर्ग कर देने की चेतना । आज का समाज अधिक व्यक्ति-प्रधान है, इसीसे आत्मप्रकाशन पर अधिक जोर दिया जाता है ।

अस्तु हमारी सामाजिकता न तो वात्सल्य की देन है, न केवल काम की और न आत्म-प्रकाशन की । ये सभी कुछ-न-कुछ अपना हाथ बँटाते हैं, तोभी इनसे मिलकर भी पूरी सामाजिकता नहीं बन पाती । उसके लिए हमें भीतर के साथ ही बाहर भी टटोलना होगा ।

सामाजिकता समाज की ही देन—जीव या मानव की सामाजिकता यदि मूल-प्रवृत्ति (*instincts*) होती तो जन्म के साथ ही शिशु में हम उसका आभास पाते, अथवा यौन-भावना के समान अपने आप इसके भी विकसित हो जाने के लक्षण मिलते; किन्तु शिशु मानस का अध्ययन करने वाला हरेक व्यक्ति जानता है कि दो महीनों तक वह न तो किसी मनुष्य के लिए हँसता है, और न किसी आकर्षण का परिचय ही देता है, उसके लिए मनुष्य और दूसरे जीव समान हैं । किसी अन्य शिशु को सम्पर्क में लाने पर वह उसकी उपेक्षा ही करता है । प्रायः दो मास का होने पर वह पहले-पहल मुस्काता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक गेसेल के मतानुसार ४० सप्ताह या एक वर्ष के आसपास 'आत्म-अन्वेषण (*self discovery*) की दिशा में आगे बढ़ता है । लेटे हुए या बंटे हुए उसके हाथ अपनी गति में अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं और इनका प्रयोग वह अपने भौतिक अस्तित्व (*physical self*) का अन्वेषण करने के लिए करता है ।' चाहे जो हो, अपने आरंभिक दिनों में वह अपने से भी अपरिचित रहता है । इस आत्म-अन्वेषण के साथ वह अपने सामाजिक सम्बन्धों का भी पता नहीं लगा लेता । समाजको, अपने से बाहर अन्यो को, वह प्रायः डेढ़ वर्षों की आयु में जान पाता है और पहले जो वस्तुयें केवल अपने लिए थीं उन्हें दूसरों को भी देने लगता है ।

इस समय तक की स्थिति को हम तीन सोपानों में बाँट सकते हैं । प्रथम सोपान में शिशु का सम्बन्ध केवल अपनी जीवात्मक या प्राकृतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित रहता है । इन आवश्यकताओं में भी भूख प्रधान रहती है । अपनी आवश्यकताओं से बाहर संसार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसके सामने गंद, खिलौने टाँग दिये जाते हैं । थोड़े दिनों के बाद वह उन्हें पकड़ता है और मुँह में डालता है । कई विद्वानों का अनुमान है कि १८ मास की आयु तक किसी मूर्ति, चित्र या खिलौने से उसे प्रेम नहीं रहता । उन्हीं वस्तुओं की ओर वह आकर्षित होता है, जिनसे

मिलते-जुलते पदार्थ या व्यक्ति उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता पहुँचाते हैं। वह गेंद और पक्षी से स्नेह नहीं करता, वरन् उन्हें आकृति-साम्य से स्तन समझ कर दूध पीना चाहता है।

दूसरे सोपान में वह प्राकृतिक आवश्यकताओं से आगे बढ़ता है। उसमें खेलने की प्रवृत्ति आती है और ऐसे पदार्थों में भी रुचि लेने लगता है जिनसे सीधे प्राकृतिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु इस स्थिति में भी वह आत्म-केन्द्रित ही रहता है। अपने सिवाय किसी अन्य से सचेत नहीं रहता।*

इस दूसरे सोपान में ही वह समाज से सचेत होने लगता है और तीसरे सोपान में अपनी संकुचित सोमा से, अपने आनन्द सिद्धान्त (Pleasure principle) से बाहर आकर समाज में प्रविष्ट होने का श्रीगणेश करता है और समाज के भी अस्तित्व का आभास पाता है।

मानव की मूल प्रवृत्ति (instincts) क्या हैं—एक है या अनेक है, इस सम्बन्ध में बहुत पुराने जमाने से ही विद्वान् विचार करते आ रहे हैं और सबो ने अपने-अपने मत स्थिर किये हैं। फ्रायड, एडलर, तथा युंग आदि मनोविश्लेषण-शास्त्रियों ने सारी प्रेरणाओं के मूल में किसी एक ही प्रवृत्ति को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। परन्तु वर्तमान प्राणिशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक उनकी मान्यतायें स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं हैं। दोनों का सम्मिलित अध्ययन करने वाले विद्वान् इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जीव और उनके समान मानव भी अपनी कई जीवात्मक प्रेरणाओं तथा आवश्यकताओं को लेकर ही आता है और इन्हें ही हम मूल प्रवृत्ति मान सकते हैं। न तो फ्रायड के समान इनमें से किसी एक को सबके मूल में मान लेना वैज्ञानिक है और न इनसे बाहर की किसी प्रवृत्ति को इनके ऊपर लादना। इन मूल प्रवृत्तियों (basic instincts) की संख्या के सम्बन्ध में भी थोड़ा बहुत मतभेद है, किन्तु वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। मुजफ्फर शरीफ ने प्रधानतया सी० टी० मारगन पर निर्भर करते हुए निम्न मूल प्रवृत्तियाँ निर्धारित की हैं—

भूख

प्यास

कार्य-निद्रा (विश्राम)-चक्र ^१

* He is conscious of nothing but his own subjectivity—J. Piaget

1 [Activity sleep (rest)-cycle]

श्वास

यौन

तापमान-नियमन (शीत तथा गर्मी के अन्तर का बचाव) ^१

बच्चे को दूध पिलाना

परित्याग (मल-मूत्र) ^२

शारीरिक चोट से बचाव ^३

इन मूल प्रेरणाओं में यौन और दूध पिलाने की प्रेरणायें बड़े होने पर समय पाकर आती हैं, जब प्रौढ़ होने पर नारी या पुरुष ग्रन्थिरस (Female or male hormone) रक्त में घुलकर अपना प्रभाव लाता है, परन्तु शेष को शिशु लेकर ही इस जगत् में आता है। हरेक प्रेरणा के उत्पन्न होने का कोई न कोई आन्तरिक कारण होता है। भूख लगने पर मांसपेशियाँ सिकुड़ने लगती हैं और इससे वेदना होती है। पानी का अभाव होने पर प्यास लगती है। यह आन्तरिक कारण सामयिक होता है, हरेक प्रेरणा एक बार तृप्त हो जाने पर नियत समय के बाद पुनः उत्पन्न होती है। यह काल अलग-अलग प्रेरणाओं में भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार अलग-अलग आयु और संस्कृति के अनुसार प्रत्येक प्रेरणा का समय-चक्र (Periodical cycle) अलग-अलग होता है। श्वास के लिए एक सेकेण्ड बहुत है परन्तु भूख का चक्र कई घंटों के बाद आता है। प्रत्येक आन्तरिक प्रेरणा सामयिक है और स्वतः संचालित होती है। सी० टी० मारगन के अनुसार प्रत्येक की तीन व्यावहारिक विशेषतायें (behavioural aspects) होती हैं—

(१) प्रत्येक प्रेरणा की आवश्यकता सामान्य क्रिया-शक्ति बढ़ा देती है, भूख प्यास लगने पर शिरायें संचालित हो जाती हैं और शरीर तथा अंग अपने आप कार्य करने लगते हैं।

(२) बिना किसी बाह्य उत्तेजना के भी प्रत्येक प्रेरणा में उसके अनुरूप व्यवहार होने लगता है। जिन प्रेरणाओं की तुष्टि के लिए कोई बाह्य पदार्थ आवश्यक नहीं हैं वे तो स्वयं अपना काम कर लेती हैं, श्वास, मलमूत्र त्याग आदि स्वयं हो जाते हैं, किन्तु जिनकी तुष्टि के लिए बाहरी पदार्थ जरूरी हैं, उनमें भी अनुकूल अंग संचालित होने लगते हैं।

^१ Temperature regulation - avoidance of cold and heat differentials

^२ Evacuation, urination and defecation

^३ Avoidance of organic injury

(३) 'उत्तेजना की परिस्थिति या उपस्थिति में विशिष्ट रूप से उसे समझ जाने और अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की शक्ति', सभी प्रेरणाओं में है। बच्चा स्तन मुँह में आ जाने पर स्वाभाविक रूप में ही समझ जाता है और मुँह चलाने लगता है।

मानव-शिशु असहाय रहता है। प्राकृतिक प्रेरणायें तथा इनकी व्यावहारिक विशेषतायें अपना काम स्वतः करती हैं। निद्रा, श्वास, मल-मूत्र-परित्याग आदि के कार्य तो स्वयं हो जाया करते हैं; किन्तु भूख आदि के लिए वह पूर्णतया अन्यो पर निर्भर करता है। इनकी तृप्ति के लिए नवजात पशु जितनी चेष्टा कर लेता है उतना भी वह नहीं कर सकता। पशु माँ का स्तन खोजने लगता है, किन्तु मानव-शिशु अंतर्द्वियां सिकुड़ने पर केवल रो सकता है। उसकी सारी आवश्यकतायें अन्यो द्वारा ही तृप्त हो सकती हैं, इसलिए उसकी इन्द्रियां जब कुछ विकसित हो जाती हैं, और वह अपने से बाहर की दुनिया से परिचित होता है तो अपने को समाज में लोगों द्वारा घिरा हुआ पाता है।

इन मौलिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त प्यार के कारण उसके लिये कई नई आवश्यकतायें भी निमित्त कर दी जाती हैं। प्रायः ८-१० मास का होने पर वह गोदी में लेने, उछालने, झूलाने के लिए व्याकुल हो उठता है। झूलने-उछलने में उसे आनन्द आने लगता है। उसके कपोलों की त्वचायें चुम्बन की गर्मी से एक गुदगुदी और आनन्दप्रद गर्मी का अनुभव करती हैं। गोदी और चुम्बन उसके परिचय का क्षेत्र और भी विस्तृत कर देते हैं। वह माता तक ही सीमित नहीं रह जाता। वे सारे लोग, जो किसी न किसी रूप में कोई-न-कोई आवश्यकतायें पूरी करते हैं, उसके लिए, उसके आनन्द के लिए जरूरी हो जाते हैं और वह अपने विकास-काल में उनसे अपनापन स्थापित करते जाता है। जो खेलने की प्रवृत्ति सामाजिकता तथा स्ववादितता (Autism or narcissism) के सन्धि-काल में ही आती है, वह अंगों के साथ विकसित होकर और भी बहुरूपी और व्यापक हो जाती है। यह प्रवृत्ति विकास-काल में एक वृहद् समाज की नोंव डालती है।

आन्तरिक उत्तेजनाओं के साथ ही जीव बाह्य-उत्तेजनाओं (external stimuli) से भी प्रभावित होता है। इन बाह्य उत्तेजनाओं में कुछ तो ऐसी हैं जो आन्तरिक आवश्यकताओं की ही तुष्टि करती हैं; परंतु उनमें ऐसी उत्तेजनाओं की भी संख्या काफी है जो स्वतः नवीन प्रतिक्रियाओं

१—Readiness to perceive and to reach to stimulus situation in particular ways—Morgan

की भी जननी हैं। ये शिशु की ज्ञानेन्द्रियों को आघात पहुँचाती हैं या आनन्दमय गुदगुबी देती हैं। जिस तरह आँतों के सिकुड़ने पर वह रोता है उसी तरह बाह्य आघात से भी। जोर की धमस या आवाज उसके कानों को धक्का देती हैं, भयंकर चमक से उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं। इनसे भी कांपने, आँख मूँदने आदि की क्रियायें स्वतः होती हैं। रंग या मूर्तियाँ १२-१३ मास के बाद ही उसकी आँखों को स्वतंत्र रूप में आनन्द देने लगती हैं। बाह्य-उत्तेजनाओं से उत्पन्न संवेग (emotions) भी मूल प्रेरणाओं के समान ही सार्वभौतिक और प्राकृतिक हैं। शिशु में उनका बीज स्पष्ट रूप में मौजूद रहता है। ये संवेग या तो दुःखात्मक होते हैं या सुखात्मक। संवेग के उत्पादक कारण प्रधानतया बाहरी होते हैं तथा आन्तरिक प्रेरणाओं की तुष्टि के अभाव एवं बाधा की स्थिति में भी संवेग उत्पन्न होते हैं। संवेगों की उत्तेजना बाहरी होने के कारण समाज द्वारा वे सीधे नियंत्रित, नियमित तथा परिचालित होते हैं।^१

मूल-प्रेरणायें, उनकी व्यावहारिक प्रतिक्रियायें तथा संवेग जीव-मात्र की मौलिक विशेषतायें हैं; किन्तु मानव समाज के मूल्यों, तथा आदर्शों (Social values and norms) को ग्रहण करने और आगे बढ़ाने में अन्य जीवों से इसलिए आगे बढ़ जाता है कि प्रकृतिने इसे सीखने की तथा ग्रहण करने की अपार शक्ति दी है। इसीलिए आज के मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मूल मानव-प्रकृति का अर्थ है—‘ये शारीरिक आवश्यकतायें तथा इनके साथ ही सीखने में प्रायः असीम आकार ग्रहण करने वाली उसकी बुद्धि की कोमलता और लचीलापन जो नवीन प्रतिक्रियात्मक आदर्श, नव नव रुचि और मूल्य ग्रहण करने की एवं बहुसंख्यक प्रतीकों, प्रत्ययों, तथा अस्त्रों को धारण की और उपयोग की उसकी क्षमता में दिखाई पड़ता है।’^२ कहने का अभिप्राय यह है कि मानवेतर जीव जिन आवश्यकताओं को लेकर इस धरती के जीवन में प्रवेश करता है, मानव-शिशु भी उन्हीं को लेकर आता है। परंतु अन्य-जीव इनकी तुष्टि से सम्बन्धित पदार्थों और उनके

१—संवेगों की संख्या के भी सम्बन्ध में मतभेद है। वाटसन ने भय, क्रोध और प्रेम तीन संवेग माने हैं, अन्य विद्वानों ने भी अपनी अलग-अलग सूचियाँ बनाई हैं। सामान्यतया भय, क्रोध, घृणा और आश्चर्य (Startle) आदि प्रधान संवेग माने जा सकते हैं।

2—It is these organic needs plus almost infinite plasticity in learning i. e. the capacity to acquire new reaction patterns, new tastes and new values, to acquire and manipulate a host of symbols, concepts, and tools—M. Sherif—An outlines of the Social Psychology.

सामान्य-स्वरूप के परिचय तक ही सीमित होकर रह जाता है । इसके विपरीत मानव को प्रकृति ने ग्रहण करने, धारण करने तथा सीखने और जानने की अनन्त-रूप-प्राप्ति, कोमल और लचीली शक्ति दे रखी है जिसके बल पर ही वह मानव बनता है । वह ज्योंही आत्म-परिचय से ऊपर उठकर अन्यो के अस्तित्व का आभास पाता है त्योंही समाज को, उसके आदर्शों को माता के दूध के साथ ही पीने लगता है । वह इन्हें विरासत में पाता है, बनाये रखता है । इतना ही नहीं, वह जो कुछ पीता है उसे सुरक्षित रखने तक ही सीमित होकर नहीं रह जाता, वरन् प्रतिक्रिया के नवीन ढाँचों, नवीन मूल्यों को धारण करने की भी उसमें अपार शक्ति है एवं प्रतीकों, प्रत्ययों तथा अस्त्रों के, नवीन आवश्यकता के अनुसार, असीम उपयोग करने, मोड़ने तथा सुधारने की विचित्र क्षमता भी मिली हुई है ।

प्राणिशास्त्रियों का अनुमान है कि इस शक्ति का स्रोत मानव-मस्तिष्कका वह भाग है, जो त्वचा, जीभ आदि उच्चारण के अवयवों और नेत्र आदि अंगों का संचालन करता है । इस विकसित मस्तिष्क के सहारे ही वह प्राप्त-ज्ञान की रक्षा करता है और बाह्य जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रतिक्रिया का अनुभव करता है । इस ज्ञान-क्षेत्र के दूसरे पदार्थ के कुछ अंशों को आपरेशन द्वारा निकाल देने पर यह देखा गया है कि सामाजिक आदर्शों की चेतना बहुत कम हो जाती है । इसके बाद कोई मनुष्य समाज का विचार किये बिना, शिष्टाचार तथा संकोच छोड़कर ऐसी बातें भी करने लगता है, जिनका वह साधारण स्थिति में जीभ से उच्चारण भी नहीं कर सकता । उसकी चिन्ता और उदासी दूर हो जाती है । वह जोरों से हँसता है और शीघ्र क्रोधित हो जाता है । सिर में जोरों की चोट लगने पर भी वह अपनापन भूल बैठता है । पुरानी स्मृतियों और कभी-कभी आत्म-परिचय भूलने के भी उदाहरण मिलते हैं ।

मानव-शिशु अन्य जीवों से भिन्न होते हुए भी पूरे अर्थों में मानव नहीं रहता । प्रेरणाओं, संवेगों के साथ उसमें वह शक्ति छिपी रहती है, जिससे वह आगे चलकर समाज के साथ एकाकार होता है और पूरे मानव के रूप में विकसित हो जाता है । उसकी मूल प्रेरणाओं तथा समाज द्वारा उत्पन्न नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति में जो मनुष्य, जो जीव, जो साधन सहायक होते हैं, वे सब उसे अधिक से अधिक समाज में लीन करते जाते हैं । केवल मनुष्य ही नहीं, जीवित प्राणी ही नहीं, भौतिक अभौतिक सारे वातावरण, सारे साधन, सारे सामान, सारे प्रतीकों तथा भावनाओं का उसके लिए मूल्य होता जाता है । उनके ही बीच, पारस्परिक अंतःक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से वह धीरे-धीरे समाज को ग्रहण करता जाता है । समाज उसे अपना बनाता है, इसका

प्रतिदान देकर वह अपने को भी समाज का बनाने की चेष्टा करता है । इसके फलस्वरूप कुछ ही दिनों में वह समाज से केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही संलग्न नहीं रहता, वरन् इसलिए रहता है कि उसके बिना वह रह ही नहीं सकता । सामान्य दृष्टि से ऐसा जान पड़ने लगता है कि समाज से उसका सम्बन्ध प्राकृतिक है ।

अकाल आदि के समय प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होने के कारण सामाजिकता लुप्त-सी हो जाती है, सामाजिक आदर्श नष्ट हो जाते हैं, उनका कोई भी मूल्य उसके लिए नहीं रह जाता । यह भी इस तथ्य का प्रमाण है कि हमारी सामाजिकता प्राकृतिक या जीवात्मक नहीं; वरन् व्युत्पन्न है । गत द्वितीय विश्व-युद्ध के समय अमेरिका के मिनेसोटा विश्वविद्यालय में अर्द्ध-भूखमरी पर किया हुआ प्रयोग प्रसिद्ध है । उच्च शिक्षा-प्राप्त, ऊँची नैतिक भावना वाले व्यक्तियों को कई महीनों तक जान-बूझकर आधी भूख-मरी की हालत में रखा गया और उनके व्यवहारों तथा मानसिक स्थिति का निकटता से अध्ययन किया गया । यह देखा गया कि उनकी सामाजिक भावना बहुत कम हो गई । जो घूमने-फिरने और सिनेमा देखने कभी अकेले नहीं जाते थे वे भी किसी को साथ लिए बिना, अन्धों की चिंता छोड़ कर चल देते थे । आपस में बातें बहुत कम करते थे । ऐसे कार्य करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था, जिन्हें वे साधारण स्थिति में कभी नहीं कर सकते । भोजन के बाद ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी थाल चाटने में हिचकते नहीं थे । इन पंक्तियों के लेखक को काफी दिनों तक जेल के भीतर रहने से यह अनुभव हुआ है कि वहाँ अच्छे-अच्छे शान्त, संयमी और प्रतिष्ठित व्यक्ति भी क्रोधो, झगड़ालू और लालची हो जाते हैं । बाहर से नितान्त भिन्न एक नई दुनिया में, नये समाज, नयी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति तथा नये सामाजिक-मूल्यों तथा आदर्शों का निर्माण हो जाता है ।

हमारी सामाजिकता व्युत्पन्न है, मूलतः हमारी जीवात्मक-प्रेरणाओं की तुष्टि के ही सिलसिले में पैदा हो गई है, इसलिए यह नगण्य है, इसका मूल्य कम है अथवा प्राकृतिक आवश्यकतायें ही मानव-समाज का एकमात्र उद्देश्य हैं; ऐसा कहना समाजीकरण की मूल-शक्ति के सम्बन्ध में अपनी अज्ञता प्रदर्शित करना है । साधारण व्यवहार में भी देखा जाता है कि हम जीवात्मक प्रेरणा अथवा भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जो समाज या समुदाय बनाते हैं, उनमें भी वह आवश्यकता ही एकमात्र लक्ष्य नहीं रह जाती; वरन् समुदाय, उसके सदस्य तथा नियम प्रधान पड़ जाते हैं । चोरों, डाकुओं तथा बदमाशों में भी दल के लिए त्याग की भावना आ जाती है, सामाजिक भावना से जीवन-

पापन करनेवालों की तो बात ही अलग है । जब सामयिक रूप में क्षणस्थायी संगठित समाज में भी यह अपनत्व देखा जाता है तो जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, जिसके एक-एक मूल्य और मान्यतायें हमने पी ली हैं, आत्मीकृत करके पचा लिया है, उसमें कितनी शक्ति होगी; यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है । स्त्री-पुरुष का प्रणय वासनात्मक है, वह जीवात्मक प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है जिसे हम 'काम' कहते हैं, किन्तु कुछ ही दिनों का संसर्ग, संपर्क उनको तुच्छ वासना से ऊपर उठा देता है । उनके प्रणय का ध्येय वासना-पूर्ति तक ही सीमित होकर नहीं रह जाता, उसमें वासना गौण पड़ जाती है और व्यक्ति प्रधान बन बैठता है । इस नवीन उत्पन्न मोह या हार्दिक सम्बन्ध का मूल्य वासना से कम नहीं, बहुत अधिक है, इस प्रकार के मोह पशुओं तथा अन्य जीवों में भी होते हैं; किन्तु उनका अविकसित-मस्तिष्क तथा भाषा-ज्ञान का अभाव इसमें स्थायित्व नहीं आने देता । मनुष्य की स्थिति इससे भिन्न है, उसकी स्पर्शेन्द्रियाँ और उसकी सूक्ष्म-दृष्टि इस सम्पर्क की बारीकियों को ग्रहण करने, धारण करने एवं उन्हें बनाये रखने में बहुत अधिक समर्थ हैं । इसीलिए वह गहरा हो जाता है, इसको स्थायी रूप देने में भाषा और वाणी का भी कम योग नहीं होता । साथ ही पशु अपने जीवन की सामान्य आवश्यकतायें स्वतंत्र रूप में ही अपने आप पूरी कर लिया करते हैं । एक शिम्पंजी का जोड़ा केवल वासना के लिए ही मिलता है, खाने का प्रबन्ध दोनों अलग-अलग स्वतंत्र-रूप में कर लिया करते हैं, किन्तु मानव का सारा जीवन—भोजन-निवास-स्थान, एक साथ गुथ जाता है ।

माता सन्तान का जन्म देती है और उसे पालती तथा दूध पिलाती है, यह एक प्राकृतिक प्रेरणा है । परन्तु अन्य जीवों के समान इस प्रेरणा-तुष्टि की आवश्यकता समाप्त हो जाने पर मानव अपना सम्बन्ध नहीं भूल जाता । माता अपनी सन्तान के लिए सब कुछ निष्ठावर करती रहती है, अपनी कई प्राकृतिक आवश्यकताओं के त्याग के लिए हर क्षण प्रस्तुत रहती है । यह आजीवन-सम्बन्ध किसी प्राकृतिक प्रेरणा से कम शक्ति-शाली नहीं है । मानव किसी स्वार्थ से भी मित्र बनाना चाहता है, बनाता है और इसके लिए प्राकृतिक आवश्यकताओं का वलिदान भी करता है । सम्मान के लिए त्याग एक साधारण बात है । पद के लिए वरिष्ठता स्वीकार करनेवाले, भूखों रहनेवाले, कई दिनों तक नींद, विश्राम से वंचित रहनेवाले व्यक्तियों का अभाव नहीं है । सम्मान किसी प्राकृतिक आवश्यकता की तृप्ति का साधन नहीं है । हम केवल इसीलिए पद की कामना नहीं करते कि उससे हमें जीवन की अधिक सुविधायें मिलेंगी; वरन् जब अपना उद्देश्य आप है, जो मूलतः और पूर्णतः समाज की देन और

सामाजिक-प्रेरणा की ही तृप्ति है। यदि उससे जीवन की सुविधायें मिल जाती हैं तो और भी वह काम्य बन जाता है। परन्तु सुविधायें एकमात्र प्रेरक नहीं हैं। जहाँ कोई लाभ नहीं होता वहाँ भी लोग पब के पीछे पागल दिखाई पड़ते हैं।

कुछ पहले के मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि समुदाय में व्यक्तिगत-मानस से परे स्वतंत्र-रूप में एक समुदायिक-मानस उत्पन्न होता है, जिसमें व्यक्ति अपना स्वतंत्र-अस्तित्व खो देता है और समुदाय का एक अंग-मात्र रह जाता है। आज का प्रायोगिक मनोविज्ञान यह तो मानता है कि समुदाय में ऐसे तत्त्व, ऐसी मानसिक-स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो साधारण अवस्था में व्यक्ति में नहीं दिखाई पड़ती; किन्तु वह यह नहीं मानता कि व्यक्ति से परे संगठनात्मक लक्षण या स्वरूप (Supra-individual organisational features) तथा परे के मनोविज्ञान (Supra-psychology) बाहर से आते हैं। वह यह मानता है कि “ये प्रकट होनेवाले गुण और उत्पन्न-स्वरूप जो निभ्रान्त-रूप में समुदाय की परिस्थितियों में दिखाई पड़ते हैं व्यक्ति के मौलिक मनोविज्ञान में ही निहित रहते हैं।”*

उपयुक्त अवसर पाकर ये जग पड़ते हैं। सूखी मिट्टी में सोंधी मुरभि सोई रहती है, पानी पड़ने पर ही निकलती है। ठीक इसी तरह मौलिक जीवात्मक प्रेरणाओं से ही व्युत्पन्न होकर भी मानव की सामाजिकता जीवात्मक से परे (Supra-biological) का तत्त्व है, जिसके सामने मूल जीवात्मक हेतु और प्रेरणायें गौण पड़ जाती हैं। समाज इनमें संयम तथा नियंत्रण ही नहीं ला देता, वरन् उनको नये स्वरूप प्रदान कर देता है, उन्हें इस तरह मोड़ लेता है और नई आकृति में ढाल लेता है कि वे अपनी नग्न प्राकृतिक-स्थिति में नहीं रह जातीं। साथ ही उनसे अलग अनेक नई प्रेरणायें, इच्छायें और अभिलाषायें गढ़ लेता है, जिनकी तुष्टि भी जीवन का चरम-साध्य तथा लक्ष्य बन जाती है। अल्पकाल-व्यापी समुदाय भी जब व्यक्ति को इस तरह अभिभूत कर लेता है कि उसमें एक सामुदायिक-मनोविज्ञान-सा काम करने लगता है, तब जो समाज हमारे सम्पूर्ण जीवन पर छाये रहता है उसका सम्पूर्ण जीवात्मक प्रेरणाओं को अपने रंग में रँग देना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसलिए मानव-प्रकृति का अर्थ प्राणिशास्त्र की दृष्टि से भले ही मूल-जीवात्मक प्रेरणाओं से हो, परन्तु समाजशास्त्र की दृष्टि से उसका अभिप्राय हो जाता है—सम्पूर्ण

* Emergent qualities and products that unmistakably appear in a group-situations are embedded in the basic psychology of the individual—Ibid.

जीवात्मक और सामाजिक प्रेरणाओं का समवाय; जिन्हें सारा भौतिक और अभौतिक आवेष्ठन रूप, रंग और आकार दिया करता है। इसीलिए इस आवेष्ठन का रंग उनमें अत्यन्त गाढ़ा रहता है। इस रंग की उपेक्षा करना मानवता को भूलना है।

फ्रायड, एडलर और जुंग के समक्ष योरप के सम्पन्न-मानसिक-रोगी थे जिन्हें साधारण भोजन-वस्त्र से वंचित होने की परिस्थिति नहीं थी। इसलिए मूल आवश्यकताओं में एक काम ही ऐसा था, जिस पर सामाजिक ग्रंथुश अधिक थे। कामोद्दीपक वातावरण में बड़ी आयु तक अविवाहित रहने तथा अन्य कई सामाजिक कारणों से—जिनका विवेचन इस स्थान पर उपयुक्त नहीं होगा, फ्रायड को काम-जन्य रोगी अधिक मिले। उसने उनका सूक्ष्म-विश्लेषण किया तथा चेतन और अवचेतन मानस की कल्पना की। उसके अनुसार चेतन मानस में हमारे सारे सामाजिक संस्कार मौजूद रहते हैं, और अवचेतन-मानस में केवल वासनायें अपने नग्न-रूप में निवास करती हैं। वास्तव में अवचेतन-मानस न तो मस्तिष्क का कोई अंग है और न कोई स्थिर मानस-तत्त्व। समाज के नियंत्रण और प्रतिबन्ध ही संस्कार-रूप में प्रति-बन्धक (Censor) और अवचेतन मानस के जनक हैं। वे मूल-प्रेरणाओं और सामाजिक नियंत्रण के द्वन्द्व के फल हैं। जिस समाज में प्राकृतिक वासनाओं पर जितना ही अधिक नियंत्रण होगा और जहाँ व्यक्ति और समाज के संघर्ष के अवसर जितने ही प्रबल होंगे, वहाँ चेतन और अवचेतन-मानस की प्रेरणायें उतनी ही विपरीत होंगी, प्रतिबन्धक उतना ही कड़ा होगा, तथा मूल-कामनाओं को पूरा करने के लिए उतने ही दुराव और छिपाव की जरूरत पड़ेगी। आज के योरप और सभ्य-जगत् में यह विपरीतता बहुत अधिक बढ़ गई है। यही कारण है कि मनोविश्लेषण-शास्त्रियों को इस अन्तर पर अधिक निर्भर करना पड़ता है।

काम एक मूल-प्रेरणा है और अवदमन से मानसिक-विकार अधिक उत्पन्न हो रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है; परन्तु काम का ही दमन सब कुछ नहीं है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि मानव की जीवात्मक प्रेरणाओं से सामाजिक प्रेरणायें अधिक शक्तिशाली होती हैं, यदि साधारण-तया जीवात्मक आवश्यकतायें तुष्ट होती रहें। इसलिए अवदमन केवल काम का ही नहीं करना पड़ता, परिस्थिति-वश अन्य प्रेरणाओं का भी करना पड़ता है जिनमें सामाजिक प्रेरणायें भी हैं। इसलिए आज की मानसिक-विकृति का कारण एकमात्र काम का ही नहीं, अन्य प्रेरणाओं का दमन भी है। एडलर ने इस अभाव को देखा और व्यक्ति की सारी प्रवृत्तियों का एक चित्र-रूप उन्हें अहम् और आत्म-प्रकाशन में दिखाई पड़ा। नवीन

मनोविज्ञान के अनुसार 'अहम्' कोई जन्मजात तत्त्व नहीं है, वरन् व्युत्पन्न है। नव-जात शिशु में, जड़-मूर्खों में तथा मानव-समाज से अलग पले हुए बच्चों में अहं नहीं रहता। यह मानव की अपनी विशेषता है। अहम् का अभिप्राय उन प्रवृत्तियों और भावनाओं की सम्बद्धराशि से है जो मानव-मन के भीतर पदार्थों, व्यक्तियों, समुदायों और संस्थाओं के सम्बन्ध में अपना रूप बना लेती हैं। हम जिन्हें अपना समझते हैं, जिनसे किसी भी रूप में हम सम्बन्धित हैं, वे मिलकर हमारे अहं का निर्माण करते हैं। मुझको, मैं और मेरी की सम्बद्ध प्रवृत्तियों का नाम ही अहं है। इसके निर्माण में बाहरी जगत् के पदार्थों, व्यक्तियों, तथा समाजों द्वारा अन्तर में उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रिया ही मूल कारण है। आत्म-प्रकाशन इसी अहं की तुष्टि का नाम है। जब मनुष्य समाज के वातावरण एवं जीवन की परिस्थितियों के कारण साधारण से अधिक भावुक और अपने मान-अपमान आदि के सम्बन्ध में अधिक सचेत हो जाता है तब उसके अहं का विस्तार (ego-expansion) हो जाता है, वह आत्मकेन्द्रित और आत्मार्थी बन जाता है। वह अपने लिए, अपनी प्रतिष्ठा के लिए, धन-सम्पत्ति के लिए रात दिन मरता रहता है। इनमें बाधा होने से वह विकार-ग्रस्त बन जाता है। आज की व्यक्तिवादी सभ्यता ऐसे ही मनुष्यों के निर्माण की ओर जा रही है। फलतः आज का समाज; और विशेषतया सभ्य कहा जानेवाला समाज, सत्त्व, धन और पद के पीछे मरने वाले मानवों, स्त्रियों और पुरुषों, का जमघट हो रहा है। इसीलिए एडलर अहं और आत्म-प्रकाशन को ही मानव-मात्र की मूल प्रेरणा मानना ठीक समझ बैठे। यह युग की विशेषता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु इसे न तो मूल प्रवृत्ति मान सकते हैं और न मानव-मात्र का अनिवार्य धर्म। मूल-प्रवृत्ति स्वीकार करने का अर्थ है इसे शाश्वत, स्थिर तथा सनातन-तत्त्व मानना—भले ही अभिव्यक्ति के रूप में विभेद हो। अहं और उसकी अभिव्यक्तियाँ परिवर्तन-शील हैं और इसके परिवर्तन में 'प्रमुख सामाजिक-आर्थिक वर्गों के सदस्यों के परिवर्तन-शील सम्बन्धों' का प्रधान हाथ रहता है। इतना ही नहीं, यह अहं भी स्वयं सामाजिक विकास के विशिष्ट सोपान में ही व्युत्पन्न और विकसित हुआ है।

एडलर ने व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर ही अधिक जोर दिया, आत्म-प्रकाशन के ही मापदण्ड से सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन की प्रेरणा दी। उन्होंने बताया कि महापुरुष भी अपनी हीनता-ग्रन्थि की क्षतिपूर्ति के लिए ही सब कुछ करते हैं। जुंग को इस मापदण्ड में एक अभाव दिखाई पड़ा। उसने अनुभव किया कि सामाजिक आदर्शों से च्युत होने की तीव्र चेतना भी

मानसिक विकृति उत्पन्न करती है । मनुष्य समाज में केवल अपना स्वार्थ लेकर ही नहीं जाता, वरन् अपने से बाहर जाकर दूसरों से अनेक सन्बन्धों में आवद्ध होने की, अन्यो से प्रतिदान प्राप्त करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उसके भीतर मौजूद रहती है । इस प्रवृत्ति की अवहेलना और इसका दमन भी वैसे ही विकार उत्पन्न करते हैं जैसे काम और आत्म-प्रकाशन का दमन । इसलिए जुंग ने काम तथा अहं के साथ ही सामूहिक-अवचेतन-मानस को भी एक स्तर निर्धारित किया । अवचेतन मानस केवल अतृप्त मूल-प्रेरणाओं का ही संगम स्थल नहीं है, वरन् उसमें ऐसी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ और कामनायें हैं जो मूल प्रवृत्तियों से संस्कृति द्वारा संस्कृत और विकसित होकर व्युत्पन्न हुई हैं । हम सामाजिक अवचेतन मानस को उस प्रकार की प्रेरणाओं से बना हुआ मान सकते हैं । नरहत्या सबसे बड़ा पाप है, हमारे यहाँ हत्यारे विक्षिप्त तक हो जाते हैं । शेक्सपियर का मैकबेथ राजा की हत्या करके हाथ धोता है, पर रक्त किसी भी तरह नहीं छूटता । परन्तु न्यूगिनी-वासी और नागा के लिए यह एक सामान्य धार्मिक कृत्य है, जिसमें कोई भी विक्षोभ-कारिणी शक्ति नहीं है । वास्तव में जुंग का यह मानस जन्मजात नहीं समाज की ही देन है । फ्रायड, एडलर और जुंग ने सीमित श्रंशों में आज के मानव को समझाने के लिए सुन्दर कुंजियाँ दी हैं, जिनके बिना मनस्तत्व का यह गुप्त-भण्डार हमारी बुद्धि के लिए अगम्य ही बना रह जाता । परन्तु उनके द्वारा बताई प्रवृत्तियाँ मूल नहीं हो सकतीं । उन्होंने जिन्हें हमारी सामाजिकता की जननी रूप में सामने रखा है, वे सामाजिकता की बेटियाँ हैं, हुई हैं ।



पाँचवाँ प्रकरण

[समुदाय का स्वरूप और वर्गीकरण]

समुदाय का स्वरूप

मानव-समाज एक विस्तृत तत्त्व है। इसके भीतर संघटित-असंघटित, चेतन-अचेतन, ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, सहयोगात्मक-प्रतिस्पर्धात्मक आदि सम्पूर्ण मानव के प्रति होनेवाले मानव के व्यवहार आ जाते हैं। इस विस्तृत समुदाय का पता पाने के लिए हमें उसके परिचित तट से ही आरम्भ करना पड़ता है। यह तट समुद्र का ही एक भाग है, परन्तु हमारे लिए दुर्गम नहीं है, वहाँ तक हमारी पहुँच हो सकती है। हमारा समाज समुदाय में बँटा हुआ है, हम समाज का अनुभव समुदाय से ही करते हैं और समुदाय ही हमको घेरे हुए है। हम समुदाय में रहते हैं, समुदाय में जीते हैं और आवश्यकतानुसार नये समुदाय बनाते हैं। जीवन में विभिन्न समुदायों से हमारा इतना घनिष्ठ सम्बंध स्थापित हो गया है कि उनके वाह्य-प्रतीक हमारे साथ लग गये हैं, कभी नाम के साथ उपाधि बनकर, कभी वस्त्रों में परिधान बनकर, कभी शरीर में शृंगार बनकर और कभी झंडे एवं राजनीतिक दल के बिल्ले के रूप में। टाई क्रास का एक रूप है, जिसे वस्त्र के रूप में परिणत कर दिया गया है। तिलक, माला त्रिपुण्ड, प्रत्यक्षतः सम्प्रदाय के चिह्न हैं। समुदाय से हमारा सम्बन्ध जताने के लिए सभी भाषाओं में विभिन्न शब्दों का विकास हो चुका है। हम एकाधिक समुदायों के सदस्य हैं।

समुदाय समाज-शास्त्र के लिए आवश्यक है, किन्तु इसकी रूपरेखा क्या है, इसकी कौन-सी सीमा है इस विषय में सारे समाज-शास्त्री एकमत नहीं हैं।

समुदाय व्यक्तियों का समूह है। कई व्यक्ति मिलकर ही समुदाय बनाते हैं, किन्तु ऐसे सारे समूह समुदाय नहीं कहला सकते। एक स्थान पर एकत्रित अनेक व्यक्तियों का झुण्ड जिनमें आपस में किसी प्रकार का सम्पर्क या सम्बन्ध नहीं होता और न भावों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आदान-प्रदान होता है, सामान्य समूह-मात्र (aggregation) है। हम किसी पार्क में या मैदान में टहलने के लिए जाते हैं। हमारे समान ही वहाँ सैकड़ों या हजारों आने-जानेवाले हैं। हमें भान होता है कि हम अकेले नहीं हैं, एकान्त का अनुभव नहीं हो पाता, किन्तु इससे अधिक इन लोगों से हमारा कोई सम्पर्क या सम्बन्ध नहीं है। हमारा यह एकत्रीकरण सांयोगिक है। हम एक दूसरे को देखते हैं, पर देखते ही भर हैं, इससे अधिक नहीं। यही स्थिति ट्रेन में सहयात्रा करनेवालों की भी है। यह किसी भी स्थिति में समुदाय नहीं कहला सकता।

इस सामान्य समूह से थोड़ी अधिक पारस्परिकता या समरुचि किसी एक ही उद्देश्य से बिना संगठन के एकत्रित सम्मेलन में मिलती है। किसी खेल या सिनेमा के लिए अथवा किसी नेता का भाषण सुनने के लिए जब हम इकट्ठे होते हैं, तो हमारी रुचि एक ही होती है, खेल, सिनेमा या भाषण; परन्तु हममें पारस्परिक भाव-विनिमय इतनी अल्प मात्रा में होता है कि इसे भी समुदाय नहीं कहा जा सकता। परन्तु आगे चलकर यह समुदाय में परिणत हो सकता है। भाषण सुनने के पश्चात् किसी दल या संस्था का जन्म दिया जा सकता है। कभी-कभी यह किसी समुदाय की स्थापना का प्रथम सोपान बना करता है, इसे हम अर्द्ध समुदाय (Quasi-group) या समुदायाभास कह सकते हैं।

समूह और अर्द्ध-समुदाय से भिन्न जब स्थायी अपनापन या कालव्यापी अपनत्व की धारणा आती है या मौजूद रहती है तो समुदाय का जन्म होता है। समुदाय के लिए केवल समरुचि ही आवश्यक नहीं है। वरन् उसमें थोड़ा-बहुत स्थायित्व भी होना चाहिए, जो उसके सदस्यों में अपनेपन की भावना ला सके। रास के कथनानुसार 'जो कुछ भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को दूसरों से अलग करता है, और रुचि-समानता का आधार बनता है, काल-व्यापी समूह बनाता है, समुदाय का निर्माता कहा जा सकता है।'*

इससे ही स्माल ने सरल शब्दों में और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'बड़ी या छोटी किसी भी संख्या के ऐसे व्यक्तियों के लिए—जिनके बीच साथ-

* Whatever marks off certain persons from others or establishes a community of interests is a group-maker.

साथ समझे जाने योग्य सम्बन्ध ढूँढ़े जा सकते हैं; समुदाय, सुविधाजनक समाज-शास्त्रीय उपाधि है।^१

कुछ विद्वानों ने एकत्व के साथ ही 'स्पष्ट संगठन' तथा 'सतत सम्पर्क' को भी आवश्यक माना है। गिन्सबर्ग ने स्पष्ट संगठन शब्द का प्रयोग नहीं किया है, ज्ञातव्य ढांचा प्रयोग किया है। यह ढांचा शब्द अस्पष्ट है। एक जन-जाति एक जातीय समुदाय (ethnic group) है। इनमें किसी स्पष्ट संगठन का अभाव रहते भी स्वजाति और अपनेपन की भावना बनी रहती है। उनमें अनेक समताएँ हैं। यदि उनके इस रूप को गिन्सबर्ग साहब ज्ञातव्य ढांचा (recognisable structure) मानते हैं तो हमें समुदाय के लिए इसकी शर्त मानने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि समुदाय के लिए 'सम्बन्ध' अनिवार्य है; किन्तु यह सम्बन्ध क्रियात्मक भी हो सकता और निष्क्रियात्मक तथा अनिश्चित (suspended) भी।^२ अनिश्चित (suspended) सम्बन्धों में स्पष्ट संगठन और उसके ढांचे नहीं मिल सकते। गिन्सबर्ग के समान ही मैक-आइभर साहब की परिभाषा में भी थोड़ा असावधान रहने पर भ्रम उत्पन्न हो सकता है। उन्होंने "उन सामाजिक व्यक्तियों के समूह को समुदाय माना है, जो स्पष्ट सामाजिक सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं या लाये जाते हैं।"^३

आपके अनुसार सामाजिक सम्बन्धों में पारस्परिकता (reciprocity) और परस्पर अभिज्ञता (mutual awareness) स्वतः आ जाती है। अभिज्ञता का अर्थ केवल अपनत्व की भावना से ही है, व्यक्तिगत परिचय से नहीं। सतत-सम्पर्क समुदाय की सीमा संकुचित कर देता है, वास्तव में सतत-सम्पर्क से उत्पन्न समुदाय उसका एक वर्ग मात्र है, सारे समुदाय इसीके आधार पर आधारित नहीं माने जा सकते। अनेक समुदाय ऐसे भी हैं जो सारे सदस्यों में सतत-सम्पर्क नहीं बनाये रख सकते।

1—The term 'group' serves as a convenient sociological designation for any number of people larger or smaller, between whom such relations are discovered that they must be thought of together.—General Sociology

2—Group is an entity of two or more persons in active or suspended psychic interaction.—Gensberg

3—By a group we mean any collection of social beings who enter into distinctive social relationships with one another—society

समुदाय का वर्गीकरण

विभिन्न विद्वानों ने अनेक आधारों पर समुदाय के वर्गीकरण किए हैं : ई० ई० यू. बैंक ने सभी वर्गीकरणों का सार लेकर उन्हें सात कोटियों में बांटा है। वे ये हैं—

(१) जातीय नृवैज्ञानिक (ethno-anthropological)—इसके अनुसार मानव-समाज को विभिन्न प्रजातियों (races) में बांटा जाता है। यह वर्गीकरण जितना ऐतिहासिकों तथा नृवैज्ञानिकों के काम का है, उतना समाज-शास्त्रियों के नहीं।

(२) साधारण सामाजिक—इसके अन्तर्गत कई प्रकार के वर्गीकरणों को रखा गया है। भाषा-समुदाय, स्थानीय तथा देशज, संघर्षात्मक तथा सहयोगात्मक आदि के आधार पर जितने वर्गीकरण हुए हैं, सब इसमें आ जाते हैं।

(३) संस्कृति तथा विकास के सोपानों पर आधारित—जैसे विकसित, अर्द्ध विकसित आदि।

(४) गठन (Structure) पर आधारित—जैसे हर्वर्ट मिलर का लम्ब समुदाय तथा समतल समुदाय (Vertical or horizontal groups)।

(५) क्रिया पर आधारित—जैसे, राजनीतिक, कुटुम्ब आदि।

(६) सामाजिक सम्पर्क के परिमाण पर आधारित—जैसे, स्वसमुदाय और पर-समुदाय।

(७) समुदाय के सदस्यों को बांधनेवाले बंधन की प्रकृति पर आधारित—जैसे, स्वतः उद्भूत और पूर्व निर्धारित, स्वतंत्र तथा अवलंबित समुदाय आदि।

जान-बूझकर इसका विस्तार नहीं किया गया है। वस्तुतः सारे वर्गीकरण के आधार अपने-अपने स्थान पर आवश्यक हो सकते हैं, किन्तु उन सबको या उनमें से किसी एक को हम समुदाय का पूर्ण वर्गीकरण नहीं मान सकते।

समुदाय के वर्गीकरण के उद्देश्य सामान्यतया तीन हो सकते हैं—

(१) समुदाय के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को स्पष्ट करना,

(२) संगठन की रूप-रेखा समझना,

(३) समुदायों के उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त करना।

प्रथम उद्देश्य के लिए वर्गीकरण का आधार होना चाहिए सम्पर्क की गहनता का तारतम्य (degree of intimacy of contact)। चैंपिन ने इस आधार पर समुदायों के तीन वर्ग किए हैं—

(१) प्राथमिक सम्पर्क समुदाय (Primary contact group)

(२) माध्यमिक समुदाय (Intermediate group), कुछ विद्वान इससे सीमान्त-समुदाय (marginal) भी कहते हैं ।

(३) गौण सम्पर्क समुदाय (Secondary contact group)

प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने उन समुदायों को रखा है जिनमें प्रत्यक्ष संपर्क रहते हैं, जैसे परिवार, क्लब आदि । द्वितीय में वे आते हैं जिनमें प्रत्यक्ष सम्पर्क तो होता है, किन्तु वह ऊपरी होता है, गहरा नहीं; जैसे ग्राहक-दुकानदार का सम्पर्क । अप्रत्यक्ष सम्पर्क वाले समुदाय तीसरे के अन्तर्गत हैं । प्राथमिक तथा गौण समुदाय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनका स्वतंत्र रूप में विवेचन आगे किया गया है ।

संगठन के स्पष्टीकरण के लिए कई प्रकार के वर्गीकरण किये गये हैं और किए जा सकते हैं । स्थूल रूप में दो वर्ग हो सकते हैं, स्पष्ट तथा अस्पष्ट । स्पष्ट से अभिप्राय उन समुदायों से है, जिनमें संघटन और उसका स्वरूप साफ दिखाई पड़ता हो, यह निर्मित भी हो सकता है और विकसित भी । समुदाय के उद्देश्य अनेक होते हैं, किन्तु उनमें समरुचि और देशज दो मुख्य हैं । दूसरे और तीसरे को मिलाकर समुदायों के निम्न वर्ग हो सकते हैं ।

(१) रुचि भावना सम्पन्न (interest grouping) ।

इस प्रकार के समुदायों का आधार कोई रुचि या स्वार्थ होता है । ये समुदाय शक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं । इसके भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) अस्पष्ट संगठनात्मक—इन समुदायों में संगठन का स्वरूप अस्पष्ट होता है, उसके सदस्य एकत्व का आभास पाते हुए भी किसी स्थूल संगठन में आवद्ध नहीं भी रह सकते हैं । जैसे—वर्ग, जाति, वर्ण आदि । इनमें दो रूप हैं—

(१) रक्तज—जिनकी रुचि एकता रक्त की अभिन्नता से उत्पन्न हुई हो, जाति, वर्ण आदि इसके उदाहरण हैं ।

(२) भौतिक—जिनमें रुचि की एकता किसी भौतिक स्वार्थ के कारण हो, जैसे—वर्ग, पूँजीपति, मजदूर आदि ।

(ख) स्पष्ट संगठनात्मक—जिनमें संगठन का रूप स्पष्ट तथा साफ हो, जैसे परिवार, राज, धर्म आदि ।

(२) देशज (Territorial)—इस प्रकार के समुदायों का आधार देश या स्थान होता है । इसके अन्तर्गत सामान्य रूप में जनपद तथा स्पष्ट रूप में कबीला, राष्ट्र, देश, शहर, ग्राम तथा पड़ोस हैं । देशज में सारे समुदाय अस्पष्ट संघटनात्मक हैं, स्पष्ट संघटनों में आवद्ध होते ही उनके नाम

तथा रूप बदल जाते हैं, वे शुद्ध या कोरे देशज नहीं रह जाते, रुचि-सम्पन्न हो जाते हैं ।

मानव का समुदाय मूलतः रुचि-प्रधान है । वह समूहवद्ध होता है कई भावनाओं तथा कारणों से प्रेरित होकर; किन्तु समूह-वद्धता में समरुचि कहीं न कहीं आ ही जाती है, कहीं वह स्थूल रहती है और कहीं सूक्ष्म । जबतक रुचि नहीं आती तबतक समूह बनता ही नहीं । जो समुदाय विकसित है, निर्मित नहीं, उनमें भी समरुचि रहती है । देशज को भी एक दृष्टि से कुछ लोग परिवार आदि के समान ही समरुचि-सम्पन्न मानते हैं । रुचि साधारणतया दो प्रकार की होती है, स्थूल और सूक्ष्म । स्थूल रुचि का अभिप्राय उन वस्तुओं या तत्त्वों की रुचि से है, जिनमें भौतिकता होती है और जिनको जानने के लिए रुचि-सम्पन्न-व्यक्ति के अन्तर तक जाने की आवश्यकता नहीं होती । आर्थिक-रुचि इसका सीधा उदाहरण है । सूक्ष्म रुचि को समझने तथा स्पष्टीकरण के लिए हमें भौतिक वस्तु के साथ ही अन्तर में भी जाने की आवश्यकता पड़ा करती है । इसके भी दो प्रकार हैं । प्रथम भौतिक सूक्ष्म रुचि है जो पूर्णतया भौतिक होते हुए भी संस्कृति के साथ हमारे हृदयों में प्रविष्ट कर गई है और हमारे अन्तरंग का एक अंग बन गई है । हिन्दुओं की जातीय भावना या रुचि इसका सुन्दर उदाहरण है । दूसरी सूक्ष्म रुचि सांस्कृतिक या मानसिक है । इसमें भौतिकता बहुत कम रहती है । इनके साथ ही ऐसी रुचियाँ हैं, जिनमें स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ऐसी घुली-मिली हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है ।

इस रुचि-भेद के आधार पर समुदायों के निम्न भेदोपभेद होंगे—

(१) स्थूल रुचि समुदाय

उदाहरण—आर्थिक समुदाय, खेल-कूद के क्लब आदि ।

(२) सूक्ष्म रुचि समुदाय,

(क) भौतिक—रक्तज (जातिवर्ण आदि)

(ख) मानसिक—धार्मिक, कलात्मक,

(३) मिश्र रुचि समुदाय—परिवार, राजसत्ता, जनपद, पड़ोस आदि ।

रुचि और समुदायों के सम्बन्ध पर रास ने जोर दिया है; किन्तु मैक आइभर तथा पेज ने इसका अत्यधिक विस्तार किया है ।

इतना स्मरण रखना चाहिए कि ये सब वर्गीकरण के साधन पूर्ण वैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते । आगवर्न तथा निमकॉफ ने इस सम्बन्ध में इसीलिए लिखा है कि 'ये वर्गीकरण या तो अत्यधिक स्थूल तथा स्पष्ट हैं अथवा अत्यधिक स्वेच्छाचरितापूर्ण ।'

प्राथमिक समुदाय

समुदाय का एक उपयोगी वर्गीकरण प्राथमिक (Primary) और गौण (Secondary) के रूप में भी किया जाता है । (हम इसका उल्लेख कर चुके हैं ।) यह विभेद स्पष्ट होते हुए भी समाज-शास्त्र के लिये बहुत कुछ उपयोगी है । प्राथमिक शब्द का जनक कूले (C. H. Cooley) है । वह कहता है—

“प्राथमिक समुदाय से मेरा अभिप्राय उन समुदायों से है जिनकी विशेषता घनिष्ठ आमने-सामने के समागम तथा सहयोग हैं । वे कई अर्थों में प्राथमिक हैं, परन्तु प्रधानतया वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण के मूल हैं ।” मानव कई तरह के सामाजिक सम्पर्कों में आता है । कुछ सम्पर्क ऐसे हैं जिनमें हम दूर ही दूर रहते हैं । राह चलते साथी, पान की दूकान के साथी और किसी संगत के साथी की घनिष्ठता में बड़ा विभेद है । ऐसे नेता—जिनके भाषण हम दूर-दूर से ही सुनते हैं, हमारे लिए महत्त्वपूर्ण रहते हुए भी, मित्र नहीं बन सकते । हमारा उनका सम्बन्ध आमने-सामने, मुँहा-मुँहीं का सम्बन्ध नहीं हो सकता । हम बचपन में जिन व्यक्तियों के साथ लट्टू नचाते थे, जिनके साथ गुल्ली-डंडा या आँख-मूँदौवल खेलते थे, जिन्हें कई बार हलाया, जिनके कारण कई बार रोया, जिनके विरुद्ध कई बार नालिशें हुईं, उनका जो प्रभाव हम पर पड़ा है, उसकी तुलना क्या इन राह-चलते साथियों के साथ की जा सकती है ? बड़े होने पर जिनके साथ हम काम करते हैं, जिनसे हमारा हँसी-ठट्टा चला करता है, जिनके साथ चाय के प्यालों पर घंटों गप्पें लड़ा करती हैं, उनकी समता में बड़े-बड़े राजनीतिक नेता और धार्मिक गुरु भी हम पर अपना असर नहीं डाल सकते । हम कह सकते हैं कि हमारे सारे सामाजिक ढाँचे हमको ढँके हुए हैं । परन्तु इनमें हमारे पास जो हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्पर्क हम अनुभव करते हैं, वे हमारे प्राथमिक समुदाय के व्यक्ति हैं । इन प्राथमिक समुदायों में भी सबसे महत्त्वपूर्ण है परिवार ।

इसके विपरीत जिस समुदाय के सदस्यों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता, जिनकी घनिष्ठता उतनी नहीं बढ़ जाती, उसे गौण समुदाय (Secondary-group) कहा जायेगा । राजतंत्र का विराट ढाँचा व्यक्ति की दृष्टि से गौण ही होगा, यद्यपि समाज की दृष्टि से आज के युग में वह सर्वसाधन और शक्ति-सम्पन्न समुदाय है ।

प्राथमिक समुदाय की विशेषतायें

जीवन में एक आवश्यक तथा शक्तिशाली तत्त्व होने के कारण हमें प्राथमिक समुदाय की विशेषताओं में थोड़ा गहरा उतरना चाहिए । उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) मानव स्वभाव से ही प्राथमिक समुदाय बना लेता है। यह संसर्ग-जन्य है। जिस किसी परिस्थिति में मानव रहेगा, जहाँ कहीं भी रहेगा, अपनी आरम्भिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज की सहज आवश्यकता से वाध्य होकर कुछ लोगों से घनिष्ठता बढ़ा लेगा। इस घनिष्ठता में जहाँ जड़ जमी कि प्रारम्भिक समुदाय का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भिक समुदाय का हर सदस्य प्रतिनिधि बनकर ही नहीं मिलता, व्यक्ति के रूप में मिलता है। परिस्थितियाँ एकत्र करती हैं। स्थूल जीवन एक साथ मिलाता है; परन्तु इस सम्मेलन की चेतना मानव का अंतरंग स्वतः उत्पन्न करता है; वह इस सम्मेलन को गहरा बना देता है। परिवार प्राथमिक समुदाय का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है। शिशु यहीं से मूल स्वरूप ग्रहण करता है। परन्तु खेलों के समूह, अध्ययन समाज (Study-circles) ग्रामीण जीवन भी कम काम के नहीं हैं। मानव जीवन अपना सम्पूर्ण रस इन्हीं से लेता है।

आधुनिक काल में बड़े-बड़े कारखानों, शहरों तथा अन्य स्थानों में भी प्राथमिक समुदाय बन जाया करते हैं और उनका प्रभाव केवल व्यक्तियों पर ही नहीं पड़ता, वरन् उत्पादन-कार्य तथा हड़ताल आदि पर भी पड़ता है। इस ओर समाज शास्त्रियों का ध्यान थोड़े ही दिनों पहले गया है, तो भी इस विषय पर काफी अनुसंधान हो चुके हैं और हो रहे हैं।

(२) प्राथमिक समुदाय के बीच हर मानव खुलता है। अन्यत्र वह सावधान रहता है। अपनी बोली तथा कार्यों में सोच सोच कर चलता है। फल यह होता है कि उसका असली स्वरूप बनावट के आवरण में ढका रहता है। इससे एक ओर वह स्वतः तृप्ति नहीं पाता, दूसरी ओर उसके सम्पर्क में आने वाले उसे समझ नहीं पाते। परन्तु प्राथमिक समुदाय में 'अतिपरिचयादवज्ञा' (अत्यन्त परिचय उपेक्षा पैदा करता है) के अनुसार उसकी सावधानी दूर हो जाती है, उसका चोगा वह उतार कर फेंक देता है। इससे उसको थोड़ी तृप्ति मिलती है और उसकी सहानुभूति, उसका प्रेम तथा उसकी घृणा खुलकर खेलती है। उसका आन्तरिक विस्तार होता है।

इस समुदाय का सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत होता है, अप्रत्यक्ष और अव्यक्तिगत नहीं; हम एक दूसरे से सीधा प्रेम और सीधी घृणा करते हैं। हमारे सहयोग तथा संघर्ष प्रच्छन्न नहीं होते; साफ और खुलेआम होते हैं। इसीसे हम एक दूसरे की भावनाओं, धारणाओं के सीधे हिस्सेदार होते हैं।

(३) प्राथमिक समुदाय सहज है, मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का ही फल है, इसमें संदेह नहीं; परन्तु एक-रुचि भी कम आवश्यक नहीं है। कभी-कभी रुचि से ही संसर्ग होता है और संसर्ग से मोह या प्रेम। परन्तु कभी-

कभी रुचि पीछे आती है, संसर्ग पहले होता है । चाहे जो हो, रुचि, संसर्ग-जन्य आनन्द और एकता की भावना सभी आवश्यक है ।

मनुष्य की रुचि और अनुभव पर समुदाय का क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में कुछ अनुसंधान हुए हैं; जिनमें दो उल्लेखनीय हैं । एक ही सुगन्धि १७ व्यक्तियों को दी गई और उनके आनन्द की तीव्रता एकान्त में तथा समुदाय में अलग-अलग पूछी गई । यह देखा गया कि समुदाय में अति-चारिता नहीं रही ।

दूसरा प्रयोग विचार पर हुआ । १५ व्यक्तियों से नैतिकता-सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये और बहुमत का निर्णय सुना दिया गया और फिर उन्हीं प्रश्नों पर राय ली गई । देखा गया कि अब उत्तर बहुमत के निर्णय के निकट आ गये और विरोधियों में से बहुतों ने अपना पुराना मत बदल दिया । इन प्रयोगों से यह निर्णय निकलता है कि समुदाय में हमारी 'अति' सामान्य के निकट आ जाती है ।

ये प्रयोग उस समय के हैं जबकि ठंढे मन से निर्णय का अयसर रहता है । भावुक क्षणों में जब हम समुदाय के निकट जाते हैं, तो उत्तेजना और भी अधिक प्राप्त होती है । जनसंघातों (Crowds) में थोड़ी-सी बात भी किस तरह उत्तेजना का कारण बन जाती है; यह आगे स्पष्ट किया जायगा । यहाँ हमें इतना ही जानना है कि समुदाय में हम एक दूसरे की उत्तेजना ग्रहण करते हैं, एक दूसरे को उत्तेजित करते हैं, सामान्य रुचि की उपलब्धि में तीव्रता लाते हैं । हमारा पारस्परिक आदान प्रदान स्पष्ट ही नहीं, अस्पष्ट भी होता रहता है ।

हम समुदाय में दूसरों से सीखते हैं, ग्रहण करते हैं । यद्यपि कभी-कभी इस ग्रहण का आभास भी हमें नहीं मिलता । निकट सम्पर्क में हम उनसे भी लेते हैं जिनके व्यक्तित्व से, ज्ञान से, प्रतिभा से या शक्ति से प्रभावित हैं; उनसे भी लेते हैं, जिनसे प्रेम करते हैं । इतना ही नहीं, उनसे भी लेते हैं जिन्हें हम शत्रु समझते हैं और जिन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं ।

प्राथमिक समुदाय में हम एक सतत सम्पर्क में रहते हैं, अस्तु उससे उत्तेजना, तीव्रता, विचार का सतत ग्रहण होता रहता है । हम समुदाय के ढाँचे में अज्ञात रूप से ही ढलते रहते हैं । प्राथमिक समुदाय की यह शक्ति राजनीतिज्ञ, विशेषतया मजदूर दलवाले, जानते हैं । महात्मा जी का रचना-त्मक कार्य-क्रम इसी आधार पर आधारित है । बापू चाहते थे कि हमारे कार्य-कर्त्ता ग्रामों में बस जायँ तथा ग्राम-सेवा के द्वारा ग्राम-निवासियों से प्राथमिक समुदाय में बँध जायँ । इससे केवल गाँवों की भलाई ही नहीं होती

चरन् वे सेवकों से चुपचाप विचार अभ्यास तथा धारणा ग्रहण कर आगे बढ़ते हैं। श्री जयप्रकाश नारायण जी भी रचनात्मक कार्यों पर जोर देते हैं। वे जानते हैं कि गांवों में झाड़ू लगा देने से ही धूल के साथ समाजवाद उड़कर लोगों के दिमाग में नहीं घुस पड़ेगा; परन्तु झाड़ू लगाने वाले नेता ऊँचे मंच से नीचे उतर आयेंगे और प्राथमिक समुदाय के सदस्य बनकर किसानों में अपना विचार फैलायेंगे। मजदूर दलवाले मजदूरों में घुसकर काम करते हैं। यह काम सबसे महत्वपूर्ण होता है।

(४) सम्पर्क का अर्थ शारीरिक सम्पर्क से ही नहीं है। शारीरिक की अपेक्षा मानसिक सम्पर्क अधिक आवश्यक है। कई बार तो बिना प्रत्यक्ष दर्शन के भी प्रेम उत्पन्न होता है, इसके विपरीत वेश्या के सम्बन्ध को हम न तो प्रेम कह सकते हैं न प्राथमिक सम्पर्क। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पत्र-व्यवहार या अन्य मानसिक सम्बन्ध दोःप्रकृतियों में ही हो सकते हैं और दो व्यक्तियों से ही समुदाय नहीं बना करना (प्रद्युम्नि सिन्हा ने इसे भी समुदाय माना है)। इसके साथ ही प्राथमिक समुदाय के लिए जो निकटता आवश्यक है, वह स्थूल सम्पर्क से ही हो सकती है। वेश्या का सम्पर्क प्राथमिक नहीं कहा जा सकता, परन्तु एक वेश्या को केन्द्र बनाकर जो समुदाय बनता है, वह यदि निश्चित हो जाय या उसके सदस्यों में निकटता आ जाय तो हमें उस प्राथमिक समुदाय मानना ही पड़ेगा। यदि आन्तरिक एकता को प्राथमिक समुदाय की अनिवार्य शर्त माना जाय तो संसार में इसके कभी ही कभी दर्शन हो सकते हैं। एकता और द्वन्द्व, प्रेम और रोष, सहयोग और स्वार्थ, आदर्श और व्यवहार, नीचता और उच्च विचार—ये सभी एक सीमा तक प्राथमिक समुदाय में रह सकते हैं और रहते हैं।

(५) विस्तार प्राथमिक समुदाय का बाधक है। यदि किसी समुदाय के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक हो जाय कि उनमें व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रह सके तो हम उसे प्राथमिक समुदाय नहीं कह सकते। जितने क्षेत्र के व्यक्ति प्रत्यक्ष सम्बन्ध में बँधे हुए हैं, उतने ही को प्राथमिक कहा जा सकता है। राजनीतिक दलों के विस्तृत सदस्यों में जितने निकट रहने के कारण आपस में मिलते-जुलते हैं, वही प्राथमिक हैं। एक सिद्धान्त माननेवाले और एक साथ निकट-निकट काम करने वाले आसानी से समुदाय बना लिया करते हैं।

(६) प्राथमिक समुदाय में समानता आवश्यक है, परन्तु पूर्ण समानता असम्भव है। मनुष्य अनेक कारणों से परस्पर इतना भिन्न है कि कोई भी दो व्यक्ति एक-से नहीं हो सकते। परन्तु समुदाय बनाने के लिए इतना आवश्यक है कि इसमें बँधनेवाले मनुष्य इतनी भिन्न-भिन्न, धारणा विचार-आचार के नहीं

हों कि उनका एक साथ रहना कठिन हो जाय । सभी अपनी व्यक्तिगत विशेषता छोड़कर नहीं मिला करते और न मिल सकते हैं । उनमें एकता बनाए रखनेवाली कई चीजें हो सकती हैं :—

(क) कभी-कभी उनकी समान-रुचि की भावना इतनी तीव्र होती है कि वे अपने विभेद भूल जाते हैं और उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता, यदि जाता भी है तो बिलगाव नहीं रह पाता । विशेषतया अगर किसी विरोधी की तलवार सर पर हो, या वह इतना प्रधान और स्पष्ट हो कि आँखों से ओझल नहीं हो सके तो आपस का मतभेद छिप जाता है । वस्तुतः एकता सबसे मजबूत सम-शत्रु के रहने पर ही होती है । इसीलिये चतुर राजनीतिज्ञ सही या काल्पनिक शत्रु का आभास सदा दिलाया करते हैं और उनके यहाँ कभी शान्ति या आराम का काल नहीं रहा करता । रह-रह कर वे संकट की स्थिति की घोषणा, काल्पनिक रूप में भी, किया करते हैं ।

(ख) मानव पूर्ण रूप में समान रहने पर एकता में उतना शीघ्र नहीं बंधता जितना एक दूसरे का पूरक बनने पर । समान में तो प्रायः प्रतिद्वन्द्विता हो जाया करती है, क्योंकि समान रहने पर वे समान वस्तु के ग्राहक या इच्छुक हो जाया करते हैं, जिससे कलह अनिवार्य है । एक ही विषय के समान विद्वान् समान-मर्यादा, समान-पद के अधिकारी होते हैं, परन्तु ये सबोंको मिलना असम्भव है । कालेज के आचार्य एक ही हो सकते हैं, एक को बड़ा तथा दूसरे को थोड़ा छोटा बनना ही पड़ेगा । राजनीति में तो यह झगड़ा और भी तीव्र होता है और एक दल में स्पष्ट और अस्पष्ट, भीतर ही भीतर, कई उपदल बनने का मूल कारण नेतागिरी की यह स्पृह ही है । विभिन्न नेता अपने-अपने अनुयायियों को लेकर अपनी अलग-अलग रचनाएँ रचा करते हैं । नेता और उनके वाहनों का प्रेम बड़ा गहरा होता है, क्योंकि दोनों एक दूसरे के अभाव के पूरक हैं । समरुचि रहते हुए आवश्यक विभिन्नता भी ठोस एकता के लिए जरूरी है । कई पशुओं का समूह तो एक नर तथा कई मादाओं से ही बना करता है । वास्तव में इसके लिए पृथ्यात्मिक समरुचि अधिक काम करनेवाली होती है । प्राणी जहाँ कहीं थोड़ी बहुत संख्या में इकट्ठे होंगे, उसमें मतभेद तो होगा ही, परन्तु यह मतभेद कई तत्त्वों की उपस्थिति के कारण संघर्ष का रूप नहीं ग्रहण कर पाता । इनमें तीन मुख्य हैं—

(१) किसी ऐसे की उपस्थिति—जिसे भय से, श्रद्धा से या प्रेम से सभी बड़े माना करते हैं; पारस्परिक कलह का शमन किया करती है । इस व्यक्ति की धाक अज्ञात रूप में भी काम करती है । उसका रोब और उसके

बड़प्पन की भावना झगड़े पनपने नहीं देती । अन्य लोग उससे इतने प्रभावित रहते हैं कि आपस का भेद भूल जाया करते हैं । वह एक केन्द्र-विन्दु है जिसके चारों ओर अन्य लोग चक्कर काटा करते हैं । इसके अतिरिक्त वह स्वार्थ के कारण या सबकी भलाई की भावना से संघर्ष मिटाने की चेष्टा किया करता है । प्रथम तो उसका प्रयत्न रहता है कि विभेद का अवसर ही नहीं आये; यदि आता भी है तो डाँट-डपट कर, समझा-बुझाकर और अपने अधिकार एवं सदिच्छा का उपयोग कर टालने की कोशिश करता है

(२) मानव को अपनी सामाजिकता की भावना और स्वार्थ से बाध्य होकर दूसरों के साथ रहना ही पड़ता है । इसीलिए वह मतभेद टालता रहता है और यदि दैनिक जीवन में छोटे-मोटे झगड़े उत्पन्न हों भी जाते हैं तो वह सामयिक तीव्रता को शीघ्र भूल जाता है । यह कहा जाता है कि एक साथ रहने वाले घड़े कभी न कभी आपस में टकरायेंगे ही, परन्तु टकरा कर भी वे अपना अपना स्थान ले लेते हैं । यही स्थिति मानव की भी है, वे लड़कर भी मिल जाते हैं । अधिकांश यह मिलन स्वाभाविक तथा समय-सापेक्ष है, समय पर अपने आप ठीक हो जाया करता है । परन्तु कभी कभी इसमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समझौता भी होता है । प्रत्यक्ष समझौते का अर्थ बात-चीत करके, कभी किसी मध्यस्थ की सहायता लेकर और कभी बिना उसके भी स्वतः एक बीच का रास्ता निकाल लेने से है । अप्रत्यक्ष का अभिप्राय बिना बातचीत किए ही एक दूसरे का विचार करते हुए अपनी सीमा निर्धारित कर लेने से है, इसे राजनीति में अभिसमय (Convention) कहते हैं ।

इस समझौते के अतिरिक्त व्यक्ति बहुमत के रुख पर अपने को ले चलने की कोशिश करता है । बहुमत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मतभेद मिटाता रहता है । 'पंच की जो रुचि सो हमारी', यह भारतीय गाँवों का पुराना बहुप्रचलित वाक्य है । कभी कभी तो मतभेद रखनेवाले व्यक्तियों में योंही समय पाकर सामंजस्य स्थापित हो जाता है ।

पुरातन और नूतन युग में प्राथमिक समुदाय

पुराने जमाने में मानव का सम्बन्ध इतने विभिन्न प्रकार के समुदायों से नहीं था, जितना आज है । वह अपनी संकुचित सीमा में रहता था, जिससे बाहर बहुत कम जाता था तथा उसके अपनेपन तथा परायेपन के भाव बहुत तीव्र थे । इसका फल यह होता था कि सारे समुदाय जिनमें वह जीता था, पलता था, काम करता था और मिलता-जुलता था, प्राथमिक थे । गौण समुदाय दूर की चीज थी जिससे वह या तो उपेक्षा का भाव रखता था या घृणा का । उसके आसपास वे ही लोग रहते थे जिनसे उसका काल्पनिक

या वारतविक रवत-सम्बन्ध था और जिनके सहयोग से वह जीवन में आगे बढ़ता था । वे उसके नृत्य के, क्रीड़ा के, उत्सव के, गप्प के साथी थे । उसका सारा सामाजिक जीवन इन इने-गिने लोगों तक ही सीमित था ।

आवागमन के साधन जितने बढ़ते गये उतना ही उसका सम्पर्क बढ़ता गया । मानव आज विभिन्न समुदायों से सम्बन्धित है, जिनमें कइयों से उसका दैनिक प्रत्यक्ष मूहों-मुहों (face to face) सम्बन्ध है और कइयों से अप्रत्यक्ष । इससे प्राथमिक समुदाय की भावना वैसी तीव्र नहीं रह गई, जैसी पुराने जमाने में थी । आज तो वह एक ऐसे मंदिर, मस्जिद या चर्च में प्रार्थना करता है—जिसमें इसकी मित्र-मंडली के थोड़े ही लोग आते-जाते हैं; एक राजनीतिक दल का सदस्य है; जिसका विरोध उसके मित्रों में कई करते हैं; एक ऐसे स्थान पर काम करता है—जिसे उसके पड़ोसियों ने कभी पूरी तरह देखा भी नहीं; और इनके अतिरिक्त छिप-छिपकर ऐसे लोगों के सहवास में घंटों व्यतीत कर देता है—जिनकी कल्पना परिवार वाले भी नहीं कर सकते । साथ ही धर्म तथा राजनीतिक दलों का क्षेत्र तथा स्वरूप भी इतना व्यापक हो गया है कि वह अपने धार्मिक गुरुओं तथा नेताओं से दूर-दूर से ही परिचित है । शायद उनकी कीर्तियाँ सुन रखी हैं, कभी कभी धर्मोपदेश तथा भाषण सुने हैं एवं सामाचार-पत्रों से उनकी खबरें पढ़ी हैं । प्राचीन काल में यह सम्भव नहीं था ।

आज का शहरी जीवन गौण समुदायों की भरमार तथा प्राथमिक समुदायों की भावना के अभाव का सुन्दर नमूना है । एक ही पड़ोस की बात कौन कहे, एक ही घर में रहने वाले एक दूसरे को नहीं जानते । एक व्यक्ति कहीं काम करता है, दूसरा कहीं । एक किसी बग़व का सदस्य है, दूसरा किसी का । इसका फल यह होता है कि पड़ोसियों में पाई जानेवाली सहानुभूति, अपनापन, मित्रता बहुत उस रूप में नहीं मिल पाती । यदि कोई मरा तो किसी सरकार समिति को खबर करनी होगी या किसी प्रकार टांग-ढूँगकर कहीं फूँक देना होगा । एक कमरे में कोई मर रहा है दूसरे में फोनोग्राफ 'किस्मत हमारे साथ है, जलने वाले जला करे', गा रहा है ।

भारतवर्ष अभी तक गांवों का देश है, इसी से जीवन का यह रूप वहाँ थोड़े से शहरों में ही मिलता है । गाँव वाले जब प्रथम प्रथम नगरों में जाते हैं या किसी के सम्पर्क में आते हैं तो पूरा परिचय पाने की चेष्टा करते हैं । विहातियों के इस वर्ताव से कभी कभी शहरी ऊब जाते हैं । इसका सुन्दर उदाहरण आपको ट्रेन में या ट्राम में यात्रा करने के समय मिलेगा । एक विहाती बात-चीत आरम्भ करने पर सामान्य परिचय से ही संतुष्ट नहीं हो सकता,

वरन् आमदनी, आय, परिवार आदि की पूरी रिपोर्ट चाहेगा । इसका कारण यही है कि उसमें प्राथमिक समुदाय की भावना बनी हुई है । गाँवों के लोग लगे-लगे खेतों में काम करते हैं । आवश्यकतानुसार एक दूसरे की सहायता के लिए दुःख में, सुख में, मरने में, जीवन में, हर्ष में, विषाद में साथ-साथ रहते हैं । मनोबिन्द के साधन सीमित परन्तु ऐसे हैं, जिनके लिए पड़ोसियों की सहायता आवश्यक है । गाँवों में यदि छप्पर उठाना पड़ा तो सभी दौड़ेंगे । सिचाई के लिए बारी-बारी से एक दूसरे के खेतों में काम करेंगे । जिन कामों के लिए शहर में पैसे खर्च करने होंगे, वहाँ देखते-देखते थोड़ी कर लिए जायेंगे ।

सामुदायिक भावना का सबसे बड़ा प्रमाण आप गाँवों के नाते-रिश्ते में देखेंगे । जाति-पाँत, धार्मिक-विभिन्नता, ऊँच-नीच के बताव आदि के कारण ग्राम जर्जर हैं, इसमें संदेह नहीं, तो भी वहाँ अपनत्व के भाव बड़े तीव्र हैं । चाचा, भतीजा, भाई, बहन आदि के नाते, जाति-विजाति, धनी-गरीब, नौकर-मालिक, प्रजा-जमींदार आदि के भेद रहते हुए भी बने हुए हैं, जिनसे उनके सम्बन्धों में एक मधुरता आज भी जीवित है । एक ब्राह्मण का लड़का बूढ़े को भी चाचा कहेगा; भले वह शूद्र उसे ब्राह्मण होने के नाते मिलने पर प्रणाम करे । इतना ही नहीं, उस शूद्र को उन सभी मजदूरों तथा व्यंग्थों का अधिकार है जो स्वजातीय चाचाओं को मिला हुआ है । वह बूढ़ा तुम कहेगा, शाप नहीं, तथा बालक आप कहेगा, तुम नहीं । मालिक तथा नौकर की भी यही स्थिति है । नौकर को डाँटने की, तुम कहने की पूरी स्वतंत्रता है । यदि वह लड़कपन से उसे गोदी में खिला चुका है, तो भी मालिक सामने चारपाई पर बैठने नहीं देगा, सारा काम लेगा; परन्तु वहाँ से बरने जाने वाले वस्त्रों तथा आभार का बहुत बड़ा अंश उसे प्रदान भी करेगा । इसका फल यह होता है कि ऐसे सम्बन्धों में अर्थ की प्रधानता रहते हुए भी अपनत्व के कारण एक सोह तथा एक व्यक्तित्व बना रहता है । कभी-कभी नौकर मालिक के वस्त्रों की पुत्रवत् धार करने लगते हैं और उनके लिए बड़े से बड़े त्याग करने की प्रस्तुत रहते हैं । शहर के ऐसे सम्बन्ध तो पूर्णतया आर्थिक हो जाते हैं । अस्तु उनमें मधुरता का कहीं लेश भी नहीं रहता । धनियों के वस्त्र बूढ़े नौकर को भी तुम कहेंगे और वह उसे आप कहेगा । नौकर उन वस्त्रों को खेलाते हैं, साथ घुमाते हैं; परन्तु एक बड़ी वस्तु—सच्चे प्रेम, से व्यक्तिगत कर देते हैं, और इस कारण कभी-कभी तो बुरी आदतों में भी फँसा देते हैं ।

प्राथमिक समुदाय और व्यक्ति

प्राथमिक समुदाय व्यक्ति के निर्माण का मूलभूत हेतु है, यह विभिन्न प्रसंगों में कहा जा चुका है । आज का मनोविज्ञान यह मानता है कि शिक्षा अपनी दो

वर्षों की आयु से ६ वर्षों तक, जिनलोगों के सम्पर्क में रहता है, और आता है वे लोग उस पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। उसकी प्रकृति में वे ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि अलग करना असंभव हो जाता है। इस अवस्था में बालक अपने को दूसरे के स्थान पर रखता है और दूसरे उसके सम्बन्ध में जो धारणा बनाए रखते हैं उसके अनुरूप अपने को ढालता है। हम कह सकते हैं कि दूसरे उसके दर्पण है। वस्तुतः होता यह है कि कुछ दिनों तक नवजात शिशु के अनुरूप ही माता-पिता अपने को बनाए रखते हैं, धीरे-धीरे उसमें आत्म-चेतना आती है, परन्तु ३ वर्षों के बाद तो नियंत्रण आरम्भ हो जाता है, जिससे ३ वर्ष से प्रायः ६ वर्षों तक एक प्रकार का आन्तरिक संघर्ष शुरू हो जाता है। तत्पश्चात् बच्चा प्रशंसा के लिए अपने में अनुरूपता लाने की कोशिश करता है। इस अवस्था में यदि नियंत्रण बुद्धिमानी से नहीं हुआ तो बालक विद्रोही बन जाता है और आवारा हो जाता है। बालक का विद्रोह तीन कारणों से प्रायः हुआ करता है :—

(१) बुद्धिहीन नियंत्रण, (२) बच्चे बच्चे से होनेवाले वर्त्ताव में भेद, (३) पिता की कड़ाई और माता की उदारता। परन्तु यदि पिता घर में आदर और सम्मान का पात्र है तो विद्रोह नहीं पनप पाता। आरम्भ में मिलनेवाले नवागन्तुकों और अतिथियों का वर्त्ताव यदि प्रेमपूर्ण नहीं रहा तो बालक जीवन भर के लिए लज्जिला बन जायेगा। शैतानियत का प्रधान कारण पारिवारिक प्रेम का अभाव हुआ करता है। शिशु को बालकपन में जिन साथियों से प्रति-द्वन्द्विता करनी पड़ती है वे अगर उसपर विजयी होते हैं तो उसमें हीनता ग्रन्थि (inferiority complex) और यदि वह विजयी होता रहा तो उसमें गुरुता ग्रन्थि (Superiority complex) पैदा हो जायेगी। परिवार के समान ही आस-पास के लोग भी बालक के निर्माण में अपना हाथ बँटाते हैं।

मानव का निर्माण बचपन में होता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बड़े होने पर उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मानव क्षण-क्षण बदलता रहता है। हम कह सकते हैं कि व्यक्ति परिस्थितियों के चक्र पर डोलता हुआ मृत्तिका-पिंड है, जिसको आकृति देने वाला कुम्भकार का हाथ प्राथमिक समुदाय है। बालक गीली मिट्टी है जिसको पात्र बनाने में हाथ को आसानी होती है; परन्तु आयु बढ़ जाने पर यह मिट्टी सूख जाती है और बिल्कुल नवीन रूप देना जरा कठिन हो जाता है। व्यक्ति के निर्माण में इस गौण तथा प्राथमिक समुदाय की तुलनात्मक शक्ति के लिए एक रूपक काम में लाया जा सकता है। व्यक्ति एक हवा से भरा रबड़ का गेंद है जो चारों ओर से प्राथमिक समुदाय से दबा हुआ है और इस प्राथमिक समुदाय के ऊपर गौण

समुदाय लदा है । इतना स्पष्ट है कि इस गेंद को निश्चित रूप में पिचकाने, दबाने वाला निकट का ही बोल होगा, परन्तु इसमें दबाने की शक्ति देने वाला ऊपर का भार भी है ।

नीचे के चित्र से यह भेद स्पष्ट हो जायेगा ।

भीतर का छोटा वृत्त व्यक्ति है, दूसरा वृत्त प्राथमिक समुदाय है तथा बड़ा वृत्त गौण समुदाय ।



र = रक्तज समुदाय

दे = देशज

रा = राज्य

अ = अर्थतंत्र

ध = धर्म

हमारा परिवार तीन ओर से घेरता है—रक्तज, देशज तथा धर्म । अस्तु, इन तीनों में तीन विभाग किये जा सकते हैं, प्रथम-प्राथमिक (जन्मना परिवार) द्वितीय-प्राथमिक (गाँव पड़ोस, मठ-मन्दिर) तथा गौण । कुछ दिनों पहले तक आर्थिक संस्था या अर्थतंत्र में भी परिवार प्राथमिक समुदाय था, क्योंकि प्रायः

अधिकांश लोग परिवार का ही व्यवसाय करते थे, परन्तु अब वह स्थिति बदल रही है यद्यपि पूरी नहीं बदली, किसानों तथा घरेलू व्यवसायों में बनी ही है ।

यह चित्र भारत की स्थिति देखते हुए बनाया गया है । हर समुदाय अपनी शक्ति के अनुसार स्थान घेरता है । योरप में क्लब आदि में भी व्यक्ति-निर्माण की शक्ति है; परन्तु हमारे यहाँ खेल आदि के संगठन देशज हैं; वे उतने व्यापक नहीं बन पाये हैं । इस चित्र का यह अर्थ नहीं है कि सब व्यक्तियों के लिए विभिन्न समुदायों की शक्ति एक-सी है ।

प्राचीन अविश्राजित समाज में मानव का प्रधानतया एक ही स्व-समुदाय था । वह जिस परिवार, जाति या वंश में जन्म ग्रहण करता था, मुख्यतया उसी द्वारा निर्मित समुदाय में मिलता जुलता और घूमता-फिरता था एवं जीवन की सम्पूर्ण श्रेयणा ग्रहण करता था । इसलिए उसका एक ही प्राथमिक समुदाय था, जिससे उसके आचार-विचार तथा चरित्र का निर्माण होता था । व्यक्तिगत विशेषतायें और विभिन्नतायें कुछ न कुछ होती ही थीं और होंगी ही; परन्तु वे उतनी प्रचण्ड नहीं पड़ती थीं । अत्यधिक अन्तर को समाज किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था । किन्तु आज के युग की परिस्थिति भिन्न हो गई है । आज तो एक ही मनुष्य अनेक प्राथमिक समुदायों से सम्बन्ध रखता है । काम और जीविका के अलग, निवास के अलग और मनोरंजन के अलग पड़ोसी, साथी और समुदाय हैं, इनके अतिरिक्त परिवार, जाति आदि वास्तविक और जन्मजात समुदाय हैं ही । इसीलिए व्यक्ति के निर्माण में किसी एक प्राथमिक समुदाय का हाथ नहीं रह गया है । इन विभिन्न प्राथमिक समुदायों में किसका प्रधान हाथ रहता है, इस विषय पर सामाजिक-मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रयोग किये हैं । इनमें टी० एन० न्यूकूम (T. N. Newcomb) का बेनिंगटन अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है ।

बेनिंगटन कालेज में २५० अनुदार और प्रचीन विचारवाले सम्पन्न-परिवारों की लड़कियाँ एक उदार वातावरण में रखी गईं और उनके विचारों के परिवर्तन और स्थिरता का अध्ययन किया गया । जो कुछ दिनों बाद तक प्राचीन विचारों की ही बनी रहीं, उनमें कुछ ऐसी थीं, जो अपने अनुदार विचार से परिचित थीं और कुछ ऐसी थीं जो अपने को अनुदार स्वीकार नहीं करना चाहती थीं । इन बालिकाओं में प्रायः सब अपने परिवार तथा माता पिता से मानसिक रूप में घनिष्ठ-भाव से संलग्न थीं । ये परिवार को ही अपना लक्ष्य मानती थीं, और किसी भी रूप में माता-पिता को अप्रसन्न करने या उनके विचारों से विपरीत जाने के लिए तैयार नहीं थीं । कालेज के नये समुदाय की प्रतिष्ठा, पद, जनप्रियता आदि के लिए उनके हृदय में विशेष

स्थान नहीं था। इसके विपरीत जो लड़कियाँ अपना विचार बदलकर उदार बन गईं, उनमें कई मानसिक कोटियाँ थीं। कुछ तो इसलिए बदलीं कि वे इस नवसमुदाय के साथ एकाकार होना चाहती थीं, उससे अलग रहना या पिछड़ी होने का प्रमाण देना उन्हें इष्ट नहीं था। कुछ इस समाज में पद लेना चाहती थीं, और बिना उदार विचारधारा रखे ऐसा संभव नहीं था। कुछ लड़कियों को अपने माता-पिता से उतना मोह नहीं था, और कुछ संतुष्ट भी नहीं थीं, इसलिए उनके विचार छोड़ देने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई और अवसर मिलते ही उन्होंने उनका परित्याग कर दिया। कुछ बालिकाओं को माता-पिता से मतभेद नहीं रहते हुए भी उनसे स्वतंत्र बनने की वासना थी; और उन्हें विश्वास था कि विचार बदल लेने से वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित कर सकेंगी।

इस प्रयोग से स्पष्ट है कि जिसकी वृत्ति जिस समुदाय में रमती है, जो जिस समुदाय में अपनापन पाता है, उसीके विचार ग्रहण करता है। मनोवैज्ञानिक ऐसे समुदाय को अभिदिष्ट समुदाय (Reference group) कहते हैं। “कोई व्यक्ति जिस समुदाय या समुदायों से अपने को सम्बन्धित करता है, वे उसके लिए अभिदिष्ट-समुदाय हैं”^१ यह अभिदिष्ट-समुदाय उसका वास्तविक समुदाय भी हो सकता है; और कोई दूसरा भी। कालेज की सदस्या रहते हुए भी जो बालिकायें परिवार को ही अपना लक्ष्य समझती थीं उनके लिए परिवार ही अभिदिष्ट था। उनका माप-दण्ड परिवार की ही विचार-धारा तथा मान्यतायें थीं। जो बालिकायें कालेज के वातावरण, सम्मान आदि में ही अपनापन पाती थीं, उनके लिए दोनों एक थे। कालेज के विचार ही उनके माप-दण्ड थे। जहाँ कई अभिदिष्ट समुदाय होते हैं, व्यक्ति उनमें से एक से सक्रिय (Positively) और हादिक रूप में सम्बन्धित रहता है; और अन्यो से निष्क्रिय रूप में (Negatively) ही जुड़ा रहता है। कई बालक तथा बालिकाओं के लिए परिवार, स्कूल तथा साथी सब अभिदिष्ट रहते हैं, उनका सम्बन्ध सबों से रहता है, परन्तु उनमें कोई सक्रिय रहता है, कोई निष्क्रिय। “अनेक अवस्थाओं में (शायद सबों में) एक समुदाय से निष्क्रिय-रूप में सामाजिक-प्रवृत्तियाँ अभिदिष्ट या सम्बन्धित करने पर दूसरे समुदाय से सक्रिय-रूप में अभिदिष्ट होती हैं।”^२

1. The individual relates himself in any society to a group or groups, these are his reference groups—M. Sherif (An Outline of the Social Psychology)

2. In many cases (perhaps in all) the referring of social attitudes to one group negatively leads to referring them to another group positively—Ibid.

इसका अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति किसी समुदाय के विचारों और प्रवृत्तियों को अपना मापदण्ड या स्थिर-बिन्दु नहीं मानता तो उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ उस समुदाय के अनुसार रूप ग्रहण नहीं करतीं। इससे दूसरे समुदाय के मापदण्ड उसके लिए सक्रिय हो जाते हैं, और वह उन्हींसे अपने विचार तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ ग्रहण करने लगता है। इसके विपरीत एक से सक्रिय रूप में सम्बन्धित होने पर और उसको ही अभिदेश रूप में ग्रहण करने पर दूसरे समुदाय या समुदायों का सम्बन्ध उतना सक्रिय नहीं रहता; निष्क्रिय हो जाता है।

यह ध्रुव-सत्य नहीं है कि परस्पर विरोधी या विपरीत विचार या प्रवृत्ति जगानेवाले अभिदिष्ट-समुदायों में कोई न कोई पूरा सक्रिय या निष्क्रिय हो ही जायगा। कभी कभी व्यक्ति कड़ियों से सामान्य रूप में सम्बन्धित रहता है, वह किसी एक में इतना लीन नहीं होता कि वही सक्रिय बन जाय। ऐसी स्थिति में वह कुछ इसका और कुछ उसका लेकर एक मिश्रित-रूप बना लेता है। एक मेरे मित्र की लड़की पिता द्वारा बनाये हुए पायजामा और कोट तथा साथ ही माँ के आदर्श पर नाक में नथुनी पहनती है। आज के अनेक व्यक्तियों के लिए माँ और पिता की तरह अलग-अलग विचार देनेवाले अभिदिष्ट समुदाय मौजूद हैं। नथुनी और कोट-पायजामा एस साथ होने पर स्थूल होने के कारण हमारी आँखों में गड़ सकते हैं; महाकवि अकबर को पतलून के नीचे की धोती और पाकेट में पड़ी हुई सुरती खाने की चुनौटी विनोद का साधन बन सकती है^१ परन्तु अपनी सूक्ष्मता के कारण प्रवृत्तियों और विचारों में सामान्य विपरीतता नहीं खलने पाती। यह लड़की बड़ी होने पर, सम्भव है, कोट-पायजामा वाली वेशभूषा की ओर जाय या नथुनीवाली अथवा मिश्रित रूप ही ग्रहण किये रहे। वह किस ओर झुकेगी, यह उस समय की परिस्थिति, किसी अभिदिष्ट समुदाय से हार्दिक रूप में सम्बद्ध होने आदि अनेक तत्त्वों पर निर्भर करता है। विचारों की भी यही स्थिति होती है। परस्पर विरोधी जान पड़ने वाले विचार भी उतने विरोधी नहीं होते, उनका मिश्रण हो सकता है। आज के परिवार, जाति, स्कूल-कालेज, राजनीतिक समुदाय मिलकर मिश्रित प्रवृत्ति और विचार के व्यक्ति ही अधिक उत्पन्न कर रहे हैं। यह मिश्रण भी मनोवैज्ञानिक रूप में दो प्रकार का हो सकता है। (१) विभिन्न आधारों से लिए हुए विचारों का एक ऐसा समन्वित-रूप निखर सकता है, जिसमें व्यक्ति एक निश्चित मापदण्ड और आधारशिला पाकर स्थिर हो जाय। संसार के विचारों के इतिहास में समन्वय के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

^१ पाकेट में पड़ी चुनौटी है, पतलून के नीचे धोती है।

(२) यह मिश्रण समन्वित (integrated) नहीं होने पर व्यक्ति को अस्थिर और आधार-हीन भी बनाये रख सकता है। इस स्थिति में उसे कोई मापदण्ड नहीं मिल पाता और वह डोलता रहता है, कभी इस ओर जाता है कभी उस ओर झुकता है। आज का समाज नवीनता, प्राचीनता, पाश्चात्य, पूर्वीय आदि अनेक विचारों के संघर्ष में अस्थिर तथा आधार-हीन ही अधिक हो रहा है। आज की यह सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्या है।

सारांश यह है कि प्राथमिक समुदाय से ही व्यक्ति बनता है, जहाँ कई प्राथमिक समुदाय होते हैं वहाँ वह सक्रिय रूप में अभिविष्ट समुदाय द्वारा निर्मित होता है, अथवा मिश्रित रूप—समन्वित या असमन्वित, ग्रहण करता है। यह सक्रियता और निष्क्रियता न तो अज्ञात व्यापार है और न स्पष्ट स्थूल तत्त्व। यह कई सामाजिक और व्यक्तिगत परिस्थितियों, संस्कारों और भावनाओं पर निर्भर करती है। परिवार से असन्तोष ने भी उन बालिकाओं में से कुछ को बदला और नये समाज में मिलनेवाले पद तथा सम्मान ने भी। जो व्यक्ति एक परिस्थिति और मनोदशा में किसी समुदाय से प्रभावित हुआ, वह सदा उसी से प्रभावित होता रहेगा, यह समझना ठीक नहीं है। भविष्य का निर्णय उस समय की स्थिति और मनोदशापर निर्भर करेगा। अगर वे ही बालिकायें कुछ दिनों तक अपने घरों में छोड़ दी जायँ और फिर कालेज में इकट्ठी की जायँ तो अधिक सम्भावना है कि उनमें से कइयों के निर्णय उलट जायँ। कई अनुदार उदार बन जायँ और कई उदार अनुदार।

अन्तर्समुदाय, समुदाय-वाह्य एवं स्वजात्याकर्षण

(In group, outgroup and ethnocentrism)

मानव जिन विभिन्न समुदायों से सम्बन्ध रखता है उनके प्रति उसका एक अपनापन का भाव रहता है, उन समुदायों से सम्बन्धित व्यक्तियों को वह अपना समझता है, अपरिचित होने पर भी यदि उनसे कभी मुलाकात होती है और एक समुदाय से सम्बन्ध की बात ज्ञात हो जाती है तो उन्हें वह अपना प्रेम देने लगता है। उसे मालूम पड़ता है कि उसका अपना कोई आदमी मिल गया। उत्तर प्रदेश तथा बिहार के कोई दो व्यक्ति अन्य प्रदेशों में मिलने पर अपनापन का अनुभव करने लगते हैं और यदि एक जिले के निवासी हुए तो क्या कहना? उत्तर भारत में साथ रहने वाले दक्षिण भारतीय एक दूसरे के गहरे मित्र हो जाते हैं तथा यही बात दक्षिण में निवास करने वाले उत्तर भारतीय के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। देशज समुदाय से भी अधिक शक्तिशाली भारत में धार्मिक एकता, उसमें भी जातीय एकता और उसमें भी

स्वगोत्र हुआ करता है । भारतीय मिलते ही धर्म तथा जाति पूछेंगे । हिन्दुओं को तो इतने से ही संतोष नहीं होगा, वे गोत्र तथा मूल भी पूछ बैठते हैं ।

हम जिन व्यक्तियों को अपने समुदाय का समझते हैं—चाहे वह समुदाय प्राथमिक हो या गौण, वे अन्तर्समुदाय के अन्तर्गत आते हैं; और हम जिन्हें अपने से बाहर समझते हैं, वे समुदाय-बाह्य हैं ।

अन्तर्समुदाय में इस अपनेपन की भावना को कभी-कभी स्वजात्याकर्षण (ethnocentrism) कहते हैं । आरंभिक काल में मानव में एक ही समुदाय था, वह था स्वजाति का, कबीले का तथा जन का । समाज के सारे अंग इसी में समा जाते थे । अभी भी हिन्दुओं में स्वगोत्र तथा स्वजाति की भावना उसी की देन है । मानव में यह भावना इतनी प्रचण्ड है कि वह अपनी जाति तथा समाज को ही सर्वश्रेष्ठ समझता है । हर जाति अपने को विधाता की विशिष्ट उत्पत्ति मानती है । उसकी दृष्टि में दूसरी सारी जातियाँ नीच हैं और बेकाम हैं । एक यूनानी अपने को हेलेनीज्—यूय से उत्पन्न, मानता है परन्तु शेष लोग अगम्य तथा बर्बर हैं । एक हिन्दू परमात्मा का प्रिय है, शेष लोगों को परमात्मा फूटी आँखों से भी नहीं देखता । संसार की अनेक जन-जातियों के नाम का अर्थ होता है 'मनुष्य' । मैक्सिको की जूनी जाति का 'जूनी' मनुष्य वाचक है । भारत में भी संताल अपने को 'होड़होरोन' कहते हैं । होड़ का अर्थ होता है 'मानव' तथा होपोन का बाल-बच्चे, सम्पूर्ण का अर्थ हुआ 'मानव के बाल-बच्चे' । नृत्त्व-शास्त्रियों का अनुमान है कि उरांव का अपना कड़वा तथा माले भी मनुष्यवाची है । अपनी जाति के बाहर मनुष्य है, इसमें भी सन्देह रहता है । हर देश के लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने वहीं सर्वप्रथम अपनी मृष्टि आरम्भ की । सब अपनी-अपनी लिपि को, अपने-अपने वस्त्र को तथा अपने-अपने धर्म को संसार में सर्वोत्कृष्ट मानते हैं । इतना ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् तथा बुद्धिमान् भी अपने सिद्धान्त तथा संस्था के सर्वश्रेष्ठत्व पर हृदय से विश्वास करते हैं । अर्द्धसभ्य तथा आरम्भिक जातियों में स्व-जाति-भावना बड़ी प्रबल है । कोई भी व्यक्ति अन्य जाति का होने पर उनमें सम्मिलित नहीं हो सकता । कभी-कभी तो उसे रहने की जगह भी नहीं मिलेगी, खाने-पीने आदि अन्य आतिथ्य की बात ही अलग है । कई हिमालय की जातियों में यह सहन नहीं किया जाता कि उस जाति की कोई स्त्री अन्य जाति के व्यक्ति से कभी मिले—भले ही वह वैश्या-सी ही बयो न हो । संतालों में गैर-संतालों से सम्बन्ध उतना ही भयंकर है जितना सगोत्र सम्बन्ध । इसमें भी भयंकर 'घिटलाहा' होता है और लूटपाट, रक्तपात को धर्म बना देता है ।

आज के समाज में मानव विभिन्न समुदायों में बँटा हुआ है; अस्तु स्वजात्याकर्षण का जोर कम हो गया है; और दिन-पर-दिन होता जा रहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका अभाव हो गया है। अभी भी वह आकर्षण बना हुआ है। भारतवर्ष में तो हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष तथा वर्ण-व्यवस्था के कारण यह एक शक्तिशाली तत्त्व है, जाति, धर्म, गोत्रादि का विचार इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हमारे देश में अनेक लिपियाँ हैं, सभी अपनी-अपनी लिपि को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक मामले में सुधारक तथा विद्रोही भी लिपि-सुधार के नाम पर जल उठते हैं। उन्हें इस कार्य में संस्कृति के विनाश की ही आशंका हो जाती है। हिन्दु मुसलमानों से साम्प्रदायिकता छोड़ने की अपील करते हैं; मुसलमान हिन्दुओं से; परन्तु अपना कोई नहीं छोड़ना चाहता।

योरप तथा अमेरिका में भी स्वजात्याकर्षण बना हुआ है। किसी भी चर्च का अनुयायी दूसरों के चर्च को स्वीकार करना नहीं चाहता। अमेरिका में हबिश्यों के साथ होने वाला वर्तवि तो पूरा असम्भवा-पूर्ण है। स्वजात्याकर्षण किन्हीं अंशों तक तथा समाज के विकास-क्रम की किन्हीं आवश्यकताओं में लाभप्रद भी है, और किन्हीं अंशों तक मध्यता के विकास में बाधक भी।

छठा प्रकरण

अर्द्ध-समुदाय या समुदायाभास (Quasi-groups)

समुदाय के जिन विभिन्न रूपों की चर्चा की गई है वे थोड़े बहुत समय तक टिकनेवाले हैं, उनका प्रभाव मानव-समाज पर और संघटन पर स्थायी रूप में पड़ता है; परन्तु मानव कई बार ऐसे समूहों में सम्मिलित होता है, जो पानी के बुद्-बुद् के समान क्षणिक हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनका असर हमारे समाज पर नहीं पड़ता, क्योंकि हमारी कोई व्यक्तिगत या सामूहिक क्रिया हमारी प्रकृति से भिन्न नहीं होती और हम पर अपनी छाप बिना छोड़े नहीं जाती, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसका प्रत्यक्ष या स्थायी प्रभाव अन्य सामाजिक समुदायों जैसा नहीं पड़ता और वे असंगठित, सामयिक तथा सहसा उद्भूत हैं। इस प्रकार के समूहों में जन-संघात (crowd), जनता (Public) और गूथ (herd) हमारे विशेष काम के हैं। अस्तु उन्हें समुदाय के अन्तर्गत नहीं गिनते हुए भी समुदाय के साथ ही उनके सम्बन्ध में थोड़ी जानकारी कर लेना आवश्यक है।

समुदाय की परिभाषा स्पष्ट करते हुए अर्द्ध-समुदाय की चर्चा की गई है। वस्तुतः ये क्षणिक समूह अर्द्ध-समुदाय कहे जा सकते हैं। उसी प्रसंग में समूह (aggregate) अर्द्ध-समुदाय (Quasi group) का भेद भी बतलाने का प्रयत्न किया गया है।

जनसंघात [Crowd]

जन संघात क्षणस्थायी जनसमूह है जो शीघ्र उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है। संस्था इसमें आवश्यक तत्त्व है, यद्यपि कोई अधिकतम की या न्यूनतम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। संघटित होकर चलने वाला जनसमूह जनसंघात नहीं कहा जा सकता, इसीलिए संघटित जुलूस जन-संघात नहीं है। कुछ विद्वानों की राय में इस जुलूस का दर्शक-समाज जन-संघात अवश्य कहा जा सकता है। “जन-संघात में केवल सम्मेलन

व्यक्ति से व्यक्ति का शारीरिक सम्बन्ध निर्धारित करने वाले निश्चित क्रम का स्थान ले लेता है ।”^१

इसका अर्थ यह हुआ कि जन-संघात में स्पष्ट क्रम या नियम नहीं होता, केवल व्यक्तियों का एकत्रीकरण और सहयोग ही होता है । परन्तु अन्य समाज-शास्त्री केवल सहयोग को ही जन-संघात नहीं मानते, क्योंकि सहयोग तो एक दूसरे को देखते हुए बिना किसी अन्य सम्पर्क के राह चलते लोगों का भी होता है, परन्तु उन्हें हम समूह मात्र कह सकते हैं, जन-संघात नहीं । जन-संघात के लिए एक और अनिवार्य शर्त है । वह है पारस्परिक प्रेरणा की । आंगवर्न ने लिखा है—

“दूसरे सम्बन्धित समुदायों से जन-संघात को सबसे अधिक अलग करने वाली विशेषता है पर्याप्त पारस्परिक उत्तेजना तथा प्रतिदान की, विशेषतया भावनात्मक स्तर पर । उत्तेजना जन-संघात का चिह्न है।”^२ दोनों विशेषताओं को मिलाकर हम कह सकते हैं कि जन-संघात वह असंघटित, सहसा उद्भूत जन-समूह है, जिसमें पर्याप्त पारस्परिक उत्तेजना तथा प्रतिदान हो ।

जन संघात के प्रकार—जन-संघात दो प्रकार के माने जा सकते हैं (१) सम-रुचि जन-संघात (like interest crowd) और (२) सामान्य रुचि जन-संघात (Common interest crowd) ।

समरुचि जन-संघात के अन्तर्गत वे जन-संघात आते हैं, जिनके भीतर सामान्य उद्देश्य नहीं है और जिनके जुट आने का कारण व्यक्तिगत उत्सुकता की तृप्ति मात्र है । कहीं आग लगी, उसे देखने के लिए जनता उमड़ी । इसी प्रकार कोई खेल हो रहा है, लोग इकट्ठे हो गये । यह एकत्रित जन-समुदाय समरुचि जन-संघात कहलायेगा, क्योंकि इसमें एक दूसरे के बिना भी अपनी-अपनी उत्सुकता मिटाई जा सकती है, वरन् अत्यधिक संख्या होने से बाधा ही पड़ती है ।

सामान्य भाषा का दर्शक या श्रोता (audience) शब्द भी बहुत कुछ अंशों में समरुचि जन-संघात ही है । कुछ लोग दोनों में भेद भी करते हैं । दर्शक या श्रोता का ध्यान खेल-तमाशा या भाषण पर ही केन्द्रित रहता

^१ In a crowd mere conjuncture takes the place of definite order controlling the physical relation of person to person—Society.

^२ What most distinguishes the crowd from other related groups is the considerable inter-stimulation and response particularly on the emotional level. Excitement is the mark of the crowd. —Hand book of Sociology.

है, एक दूसरे से उन्हें कोई प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं मिलती। परन्तु जहाँ कहीं समरुचि हुई, वहाँ पारस्परिक प्रेरणा और जन-संघात में होने का स्पन्दन ही जायेगा। खेल देखनेवाले एक दूसरे की मुखाकृति, प्रशंसा, भावुकता, घृणा आदि की मुद्रा से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। साथ ही आलोचना भी होती रहती है, जिसका असर भी एक दूसरे पर पड़ता है।

परन्तु यह जन-संघात का आरम्भिक रूप है। अपने मूर्त अर्थ में जन-संघात तभी आता है, जब उनकी पारस्परिक उत्तेजना स्पष्ट हो, और ऐसा सामान्य रुचि जन-संघात में ही हो सकता है। समरुचि जन-संघात में आसानी से सामान्य-रुचि हो सकती है। मान लीजिए किसी नेता का भाषण सुनने के लिए लोग इकट्ठे हैं। जब तक यह भाषण है तब तक यह जन-संघात समरुचि है। परन्तु नेता ने किसी के अत्याचारों की निन्दा की। लोग उस पर टूट पड़े। यह काम अगर संघटित होकर किया गया—चाहे इस संघटन का आधार कितना ही क्षणिक, कितना ही सहसा उद्भूत क्यों न हो, तो कार्य करनेवाले लोगों को जनसंघात नहीं कह सकते। परन्तु असंघटित जनसमाज जनसंघात ही होगा। कभी-कभी नियंत्रण से बाहर जानेवाले उपद्रव के लिए उद्धत जन संघात को उग्र जनसंघात (mob) कहते हैं। भारत के साम्प्रदायिक दंगों में सामान्य रुचि-जन-संघात का ही हाथ प्रधान रूप में रहा करता है।

जन संघात की विशेषताएँ—यह स्पष्ट किया जा चुका कि आकस्मिकता और पारस्परिक उत्तेजना जन-संघात की अनिवार्य शर्तें हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त उसकी कुछ और विशेषताएँ हैं जो समाज-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अधिक काम की हैं :—

(१) स्वरूप की दृष्टि से जन-संघात दो प्रकार के होते हैं, उग्र और उल्लसित। उग्र जन-संघात में प्रतिकार की भावना रहती है, जो सहसा उमड़ पड़ती है। उल्लसित जन-संघात अपना आन्तरिक आनन्द बाहर उड़ेल देना चाहता है। किसी नेता के विजयोल्लास में अनुयायी नाचने लगते हैं, भले इससे थोड़ी बहुत सार्वजनिक या वैयक्तिक सम्पत्ति का विनाश हो जाय; पर वह जन-संघात का उद्देश्य नहीं होता। नेता के भाषण के लिए कभी कभी बन्धन तोड़ दिये जाते हैं।

(२) 'सारे जन-संघात सामाजिक संगठन की दरारों से होकर उत्पन्न होते हैं'।^१ कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक संगठन में यदि कोई

ऐसी बुराई होती है जिसे जनता अनुभव करती है, उसका सही या गलत प्रतिकार करना चाहती है; परन्तु रास्ता नहीं मिलता, यदि मिलता भी है तो दूर का, तो वह जनसंघात में—विशेषतया उग्र जनसंघात में, परिणत हो जाती है।

भारतवर्ष में साम्प्रदायिक या जातिगत दंगे, मजदूरों के उपद्रव आदि के विश्लेषण से हमें इसकारूप समझ में आजायेगा। हिन्दुस्तान के इतिहास से—सही या गलत, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दिलों में एक विद्वेष और घृणा जम गई है। इसका कभी-कभी किसी सामान्य घटना और अफवाह के कारण विस्फोट हो जाया करता है। दोनों धर्मों के पुनर्जागरण ने, पुराना वैभव पुनः लाने की कल्पना ने, इस घृणा को और बढ़ा दिया है। सभ्य मानव में—विशेषतया पूर्वीय देशों के कृषि-प्रधान समाजों में, धार्मिक पुनर्जागृति एक बड़ा शक्तिशाली साधन है, जिससे आसानी से उग्र-जन-संघातों की सृष्टि की जा सकती है। अफवाह उड़ती है कि अमुक गाँव में गो-कुशी हो गई या किसी ने मस्जिद में सूअर फेंक दिया अथवा किसी व्यक्ति ने किसी विधर्मी की लड़की भगा ली, बस सड़कों पर उग्रजनों की भीड़ लग जाती है। लोग अपने दिमाग का संतुलन खो बैठते हैं, पागल जैसे अत्याचार करने लगते हैं। इसका कारण क्या है? अफवाह या सामान्य घटना? हरगिज़ नहीं। अफवाह तो बारूद में सलाई लगाने का काम भर करती है। बारूद भरा-भरा पहले से तैयार है। इसको दूसरे रूप में यों कह सकते हैं कि लोग अपने मूर्खतापूर्ण विद्वेष और अन्ध घृणा के कारण जो बदला लेना चाहते हैं, उसकी पूर्ति का साधन समाज के पास नहीं होता, अस्तु लोग उभड़ जाते हैं। चतुर अधिकारी या समाज-सेवक ऐसी उत्तेजना के अवसर पर विवाद नहीं करते, मूलभूत भावना को उसी समय दूर करने की चेष्टा भी नहीं करते। वे प्रायः दो कार्य करते हैं, या तो उनकी शक्ति अन्य स्थान पर लगा देते हैं या असत्य रूप में ही सही, उनसे क्षणिक सहानुभूति दिखाते हैं और अपराधी को कड़ा दण्ड देने का विश्वास दिलाते हैं; भले वह कभी-कभी कार्य रूप में परिणत नहीं किया जाता अथवा कार्य रूप में परिणत करने के लिए वह आश्वासन दिया भी नहीं जाता।

मजदूरों के दंगे इससे एक अर्थ में भिन्न होते हैं। उनकी मांगें वर्तमान काल की होती हैं, उनके अभाव या कष्ट दूर करने की चेष्टा समाज या सरकार नहीं करती। यदि करती भी है तो उसमें इतना कानूनी दांव-पेंच, झंझट है तथा इतना समय लगता है कि मजदूरों को संतोष नहीं होता। वे जरा-सा अवसर पाते ही उपद्रव कर बैठते हैं। हड़तालों के समय हमारे देश के मिल-मालिक या उनके एजेंट हमारी साम्प्रदायिक भावना का दुरुपयोग

कर मजदूरों की शक्ति को साम्प्रदायिक दंगों की ओर लगा देते हैं और यदि ऐसा अवसर नहीं मिलता तो आशवासन दिलाते हैं, जो कभी भी पूरे नहीं किए जाते। मिलों के आस-पास साम्प्रदायिक दंगे अधिकांश हड़तालों के समय या हड़तालों के बाद ही होते हैं। अमेरिका के गोरों द्वारा कालों पर किए अत्याचार भी इसी प्रकार के हैं।

(३) जितनी सरलता से मानव की घृणा उत्तेजित की जा सकती है, उतनी सरलता से प्रेम नहीं। वस्तुतः प्रेम की तीव्रता भी विरोधी के प्रति घृणा में अधिक झलकती है। उल्लास में भी जन-संघात उत्पन्न होते हैं; परन्तु उनमें प्रदर्शन की जितनी शक्ति होती है उतनी कोई काम करने की नहीं। घृणा और विद्वेष के कारण विनाशात्मक ही कार्य अधिक होते हैं, रचनात्मक नहीं। यही कारण है कि जन-संघात नष्ट तो करता है, बनाता कुछ भी नहीं। हाँ! उसकी प्रेरणा और उससे उत्पन्न स्थिति का सहारा लेकर बहुत-कुछ बनाया जा सकता है। महात्मा गांधीजी ने रचनात्मक कार्यों पर बहुत अधिक जोर दिया, परन्तु हम स्वराज्य हो जाने के पहले और बाद भी कितने रचनात्मक कार्य कर सके हैं? वस्तुतः हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई ट्रेड कार्य-कर्त्ताओं के द्वारा कम चलाई गई, जन-संघातों का सहारा ही अधिक लिया गया। जन-संघातों का जोश सोडा वाटर की उफान है; परन्तु रचनात्मक कामों में जोश कम चाहिये, होश अधिक।

इसका यह अर्थ नहीं है कि जनसंघातों से कोई लाभप्रद काम नहीं हो सकते। संसार के इतिहास में जनसंघातों ने सबसे अधिक काम किये हैं। नेता जनता को जगाते हैं, उसे अभाव और अभियोगों के सम्बन्ध में जाग्रत कर देते हैं, किन्तु जब भयङ्कर काम के समय आते हैं तब वे अरक्षा और अनिश्चय के भय से उतने कड़े कदम नहीं उठाना चाहते जितने के लिए जन-संघातों की जनता तैयार रहती है। जनसम्भार (mass) समूह की उपस्थिति के कारण जिम्मेवारी का अनुभव नहीं कर पाता और उमड़ पड़ता है। क्रान्तियों का इतिहास बताता है कि जनता के दबाव के कारण और आगे बढ़ जाने से ही नेताओं को आगे आना पड़ता है। जनसंघात से उत्पन्न शक्ति का उपयोग या दुरुपयोग करना नेताओं का काम है। यह उन्हीं की बुद्धि पर निर्भर करता है कि वे इस जागृत शक्ति को उपयुक्त दिशा में मोड़ें अथवा यों ही बरबाद होने दें या गुमराह करें।

(४) सामूहिक संकट-काल में उत्पन्न जनसंघात की एक और चारित्रिक विशेषता होती है। वेग आने पर और उभड़ जाने पर यह बड़ा उग्र होता है, किन्तु किसी भी तरह शान्त हो जाने पर और स्थिरता की स्थिति में जनसंघात

के व्यक्ति निराश होकर अत्यधिक झुक जाते हैं। जेल में इसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। मेरा अपना अनुभव है कि जो राजनीतिक कैदी एकाध बार साधारण से अधिक उग्र हो लेते हैं और कुछ दिनों तक जेल-अधिकारियों के विरुद्ध आन्दोलन में प्रमुख भाग लेते हैं, वे जोश ठंडे हो जाने पर अधिकारियों के अधिक निकट आ जाते हैं और उनके आदेशों का अधिक पालन करने लगते हैं। जर्मन नाजी कैम्पों के विवरणों से भी पता चलता है कि वेग आने पर बालकों की तरह चंचलता दिखाई पड़ती थी, किन्तु वेग उतर जाने पर आत्म-समर्पण होने लगता था। बाहरी समाज में भी यह प्रवृत्ति देखने में आती है, किन्तु वहाँ अनेक घटनाओं तथा परिस्थितियों की उलझनों के कारण इस उत्थान-पतन का स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष नहीं होता। जेल बाहरी संसार से अलग होकर प्रयोगशाला ही बन जाता है; तो भी यह चढ़ाव-उतार बाहर भी बृहद् रूप में होता है। चतुर नेता और शासक इसकी गतिविधि देखकर काम करते हैं। मुसोलिनी ने देशव्यापी हड़ताल और मजदूरों के वेग के बल पर ही सारा अधिकार अपने हाथों में कर लिया था, किन्तु उतार के सहारे मजदूरों के भी अधिकार छीन लिये।

(५) अपने व्यक्तिगत जीवन में मानव अपने में रहता है। वह सावधानी से बरतता है। वह अनुभव करता है कि उसके कार्यों की जिम्मेवारी अकेले उसी पर है। वह अपनी घृणा, अपना विद्वेष सभ्यता तथा शिष्टाचार के नाते और व्यवहारिकता के कारण दबाए रखता है। परन्तु जनसंघात में वह अपनी जिम्मेवारी उतार कर फेंक देता है। वह अनुभव करता है कि उसके कार्यों का उत्तरदायित्व केवल उसी पर नहीं है वरन् बँट गया है। साथ ही समूह में एक दूसरे की उत्तेजना इतनी शीघ्रता से ग्रहण करता है कि उसका अपना अस्तित्व मानों इस उत्तेजना की बाढ़ में बह सा जाता है। मानव की यह स्थिति उल्लसित और उग्र दोनों जनसंघातों में दिखाई पड़ती है। होली के हड़दंग में बूढ़े तथा सभ्य कहे जाने वाले लोग भी ऐसी गालियाँ बकते हैं, जिन्हें जीभ से उच्चारण करना भी अन्य अवसरों पर असम्भव होगा। मानो सब शराब पीकर पागल हो गये हों; वे नहीं रह गये जो होली के पहले थे। राष्ट्रीय त्यौहारों तथा जुलूसों में भी इसी प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। उग्रजन-संघातों में जिनके विनाश की चेष्टा की जाती है; उन्हें ही व्यक्तिगत जीवन में उठ कर स्वागत के साथ कुसियाँ दी जाती हैं।

कभी-कभी विधानसभाओं में भी विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यह सभा निर्वाचित सदस्यों की संगठित तथा निर्धारित सभा होने के कारण जनसंघात नहीं कही जा सकती। परन्तु कभी-कभी किन्हीं समाज विरोधी

विषयों की चर्चा चलने पर सभासद जनसंघात की मानसिक स्थिति में आ जाते हैं। फलतः व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भूलकर फाँसी तक का प्रस्ताव पेश हो जाता है। परन्तु छोटी समिति का निर्माण हो जाने पर वे ही अपने-पन में आ जाते हैं और संस्कार, आवश्यकता, व्यक्तिगत लिहाज आदि के वशी-भूत होकर किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर पाते। फाँसी की बात कौन कहे, वैयक्तिक अपराध के मामले आने पर उनमें से ही कई उल्टे अभियुक्तों की ओर से पंरवी करने लगते हैं।

(६) जन-संघात क्षणिक तथा सहसा उद्भूत है, तथा मानव उत्तेजना की स्थिति में सभ्यता, शिष्टाचार, शालीनता का चोगा उतार कर फेंक देता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जनसंघातों के स्वरूप पर संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसके स्वरूप का निर्धारण तथा उत्तेजना की प्रतिक्रिया दोनों जाति की संस्कृति पर निर्भर करती है अर्थात् जिन कारणों से जन-संघात बनते हैं, वे कारण तथा उनकी तीव्रता जाति के मूल में मौजूद रहती है। धार्मिक जोश तथा पुनर्जागृति की प्रेरणा जनसंघातों को सबसे अधिक जन्म देती है। भारतवर्ष में हिन्दुओं की सभा में जब प्राचीन वैभव की याद दिलाई जाती है तो जनसमाज हाथ फेंकने लगता है, गौरव से सिर हिलाने लगता है, उसकी बाछें खिल-खिल जाती हैं। ऐसी ही मुद्रा कोई एकान्त में दिखावे तो लोग उसे पागलखाने में भेजने की कोशिश करने लगेंगे। भारत ही नहीं, पश्चिमी देशों की भी यही स्थिति है, जहाँ धर्म का वैसा मूल्य नहीं रह गया है। एफ० एम० डेवेनपोर्ट ने 'धार्मिक पुनर्जागृति में आदिम-युगीन मुद्रा' नामक पुस्तक में विस्तार से चित्रण किया है कि किस प्रकार धार्मिक पुनर्जागृति सम्बन्धी सभाओं में लोग ऐसे आचरण करते हैं जिन्हें हम असभ्य युग की या पागलपन की चीज मान सकते हैं। क्या कारण है कि धार्मिक सभाओं में यह विक्षिप्तता की अवस्था अधिक देखी जाती है? वास्तव में प्राचीन काल से ही धर्म से संयत, असंयत असाधारण व्यवहार सम्बन्धित होते आये हैं। साथ ही आज के पहले तक धर्म मानवों के हृदय की सबसे अमूल्य धरोहर थी यह उनके जीवन में घुल-मिल गया था। फलतः जरा पानी पड़ते ही धरती में पड़े बीज की तरह वह लहलहा पड़ता है। हमारे संस्कार जागृत हो जाते हैं, जो वर्तमान युग की बाधाओं के सामने आते ही फुफकारने लगते हैं और निराशा के कारण विक्षोभ में परिणत हो जाते हैं।

राजनीतिक या आर्थिक मामलों में भी जनसंघात बन जाया करते हैं; जो अवसर के अनुसार कभी उल्लसित और कभी उग्र होते हैं। राजनीति का

सम्बन्ध भी हमारी परंपरा तथा संस्कृति से रहा है। हमारी राजनीति केवल बाह्य वस्तु ही नहीं है; जन्मभूमि के प्रति जो हमारी ममता है, जो हमारा संस्कारगत सम्बन्ध है, राजनीति उससे भी अनुप्राणित है। यही कारण है कि जनसंघात के निर्माण में धर्म के बाद राजनीति का ही हाथ रहता है। आर्थिक मामलों में मानव-समाज का व्यक्तिगत क्षोभ, व्यक्तिगत कष्ट सम्मिलित होकर संघात बनाता है। जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध होने पर भी इस प्रकार के जन संघातों का उफान धार्मिक तथा राजनीतिक कारणों की अपेक्षा देर से होता है, परन्तु भविष्य में जीवन की विषमता के क्षोभ से तथा धार्मिक शक्तियों के ह्रास से इस प्रकार के जन संघात ही अधिक होंगे।

(७) ये तो जनसंघातों के सार्वभौमिक कारण हुए। यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो हर जाति के जनसंघातों के स्थानीय कारणों में भी विभेद मिलेगा, एक स्थान पर जिस कारण के आभास मात्र से ही जनसंघात बन जायेंगे वही कारण अन्यत्र बेकार होगा। हिमालय की कई जातियों में जनसंघात के लिए यह अफवाह उड़ा देना काफी है कि उनकी कोई लड़की विजातीय से प्रेम करती है। अमेरिका में भी किसी काले से प्रेम की अफवाह काफी है। यही स्थिति हिन्दू और मुसलमानों की भी है। परन्तु कई जातियों में इस प्रकार की अफवाह का कोई असर नहीं पड़ सकता। जनसंघात के कारण तो संस्कृति सापेक्ष हैं ही; जन संघात की तीव्रता या संयम एवं क्रिया भी संस्कृति पर निर्भर करती है। दिहाती जितनी शीघ्रता से उत्तेजित हो जाते हैं उतनी शीघ्रता से नगर-निवासी नहीं; परन्तु जितना बड़ा जनसमूह शहरों में इकट्ठा हो जाता है, उतना गाँवों में नहीं। शहरों का साधारण हल्ला या सामान्य तमाशा भी हजारों आदमी एकत्रित कर लेता है। साथ ही जितने उत्तेजित नवजवान और किशोर—विशेषतया स्कूलों-कालेजों के अलहड़, मस्त, जीवन की कठिनाइयों से अपरिचित, बाप-दादे की कमाई पर मजे-में दिन बिताने वाले विद्यार्थी, हो सकते हैं उतने बूढ़े और जीवन के किसी पेशे में लगे हुए नहीं। जितना विशोभ शहर के रोज कमाने और रोज खाने वाले मजदूरों, खोमचे वालों, इक्केवालों, गाड़ीवानों में दिखाई पड़ सकता है उतना मकान-मालिक तथा स्थायी सम्पत्ति वालों में नहीं। जीवन के विभिन्न स्तर वालों में ही विभिन्नता नहीं होती वरन् एक स्तर के लोगों में भी विभिन्न जातियों तथा स्थानों में भी विभेद देखा जाता है। भारत के ही पश्चिमी भागों के निवासी-विशेषतया पंजाबी, गाली-गलौज कम करते हैं, शरीर पर आक्रमण अधिक। जैसे व्यक्तिगत जीवन में उनके झगड़े बिना गाली-गलौज, हल्ला-गुल्ला के मार-पीट में परिणत हो जाते हैं वैसे ही उनके जनसंघात भी आक्रमणात्मक अधिक

होते हैं। पूर्वी प्रान्तों के लोग हल्ला-गुल्ला बहुत करेंगे, वस्तुयें बहुत नष्ट करेंगे, परन्तु मार-पीट कम। साथ ही जितनी आसानी से पूर्व में जनसंघात बनते और टूटते हैं, उतनी आसानी से पश्चिम में नहीं बन सकते।

अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस में भी यह अन्तर दिखाई पड़ता है। अमेरिका-निवासी जोश में सार्वजनिक सम्पत्ति की हानि कर देते हैं। एक लेखक के अनुसार वहाँ शहर के सार्वजनिक पार्क में किसी उत्सव के बाद जमीन पुराने समाचार पत्रों, खाली बोतलों और कूड़े-ककट से भरी मिलेगी, आसानी से नियमों का उल्लंघन होगा और जनसंघात भयंकर हो जायेगा। फ्रांस में जनसंघात का रोष संपत्ति पर अधिक प्रकट होगा, परन्तु मानव-शरीर पर कम। इंग्लैंड में सार्वजनिक सम्पत्ति पर हाथ नहीं लगता। सार्वजनिक उत्सवों तथा सभाओं के बाद भी पार्क गन्दे नहीं होते न उनका कोई नुकसान होता है, परन्तु रोष आने पर मानव-शरीर पर अंग्रेज आक्रमण शीघ्र करेगा और मार-पीट भी आसानी से हो जायगी। जर्मन आक्रमणकारी होते हैं हल्ला-गुल्ला कम करते हैं।

सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, उपद्रव उभाड़ने वाले और शान्तिरक्षक अधिकारी विभिन्न स्थानों की इस मनोवृत्ति तथा स्वभाव को समझते हैं और आवश्यकतानुसार इसका सदुपयोग और दुरुपयोग भी करते हैं। जनसंघात के नियंत्रण से बाहर हो जाने पर उसके शमन के तरीके भी स्थान के अनुसार बदला करते हैं। जैसा मैंने पहले ही लिखा है कि उत्तेजित भीड़ को शान्त करने का सबसे सुन्दर तरीका उसका ध्यान और उसकी शक्ति अन्यत्र लगा देना तथा उसके साथ सहानुभूति दिखाकर मांगों की पूर्ति का आश्वासन देना है। परन्तु यह सर्वत्र सम्भव नहीं है। अस्तु अधिकारियों को कड़ाई और दमन का भी प्रयोग करना पड़ता है। इस दमन का फल विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न होता है। कई स्थानों पर जहाँ एक व्यक्ति को चोट लगी, कोई गिरा कि सारा उप्र जनसंघात भाग खड़ा होगा, कहीं-कहीं यह भागनेवाला समूह रास्ते में उपद्रव करता हुआ भागेगा, कहीं-कहीं सीधे। कहीं-कहीं भागना आसान नहीं होगा, दमन पर उतारू हो जाने से बहुत खून-खराबी होगी। चतुर अधिकारी वह हैं जो इस स्थानीय या जातीय प्रकृति को समझता है।

उत्तेजना के आधार—क्या कारण है कि मानव जनसंघात में अत्यधिक उत्तेजित हो जाता है और बह जाता है? यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। विभिन्न विचारकों ने विभिन्न आधार बतलाये हैं। प्राचीन मनोवैज्ञानिक एक सामूहिक मन (collective mind) का अस्तित्व स्वीकार करते थे। इनमें लेबॉन (Le Bon) और मेकडूगल (Mac Dougal) के नाम

विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लोगों का विश्वास था कि जनसंघात में आने पर सामूहिक मन की सामूहिक चेतना व्यक्ति के मन पर छा जाती है, और उसकी व्यक्तिगत चेतना को अभिभूत कर लेती है, वह अपनापन खो देता है। लेबॉन इसे 'जनसंघात के मानसिक एकता का नियम' (Law of the mental unity of the crowd) कहते हैं। यह सामूहिक मन 'मन का मन में मिश्रण होने और प्रत्येक का प्रत्येक से सामान्य भावभूमि पर सहानुभूत्यात्मक सहयोग प्राप्त करने से' उत्पन्न होता है। फलतः इस निर्व्यक्तिकृत (de-individualised) मनोभाव पर सामूहिक नारों का ही प्रभाव पड़ता है।

परन्तु यह व्याख्या आज के मनोवैज्ञानिकों को संतोष नहीं दे सकती। जनसंघात के व्यक्तियों के मन से भिन्न किसी सामूहिक मन का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं, परन्तु यह कल्पना वैज्ञानिक नहीं है। अस्तु, फ्रायड के अनुयायी मार्टिन ने इसे फ्रायड की व्याख्या दी है। उसका कहना है कि आज के युग ने मानव की वासनाओं पर—विशेषतया काम पर, अत्यधिक नियंत्रण लगा रखा है। वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। यह अवदमित वासनाएँ बाहर निकलने के लिए अवसर की ताक में रहती हैं। जनसंघात उन्हीं को एक अवसर देता है, इसी से वे फूट निकलती हैं और मानव जनसंघात में आते ही समाज का नियंत्रण खो देता है। इसके साथ ही फ्रायड विनाश (thanatos) को भी मानव की एक मूल प्रवृत्ति मानता है। जीवन में सावधान रहने के कारण वह छिपी रहती है, परन्तु जनसंघात में उसे अवसर मिलता है और वह अपना काम करने लगती है।

समूह में उत्पन्न चारित्रिक विशेषता के मनोवैज्ञानिक कारणों के सम्बन्ध में फ्रायड ने लिखा है कि 'समुदाय में व्यक्ति एक ऐसी स्थिति में ला दिया जाता है जिसमें उसे अवचेतन प्रवृत्तियों के दबाव उतार फेंकने का अवसर मिल जाता है। इस रूप में जो चारित्रिक-विशेषता प्रदर्शित होती है, वह वस्तुतः स्पष्ट रूप में, उसके अवचेतन का प्रकटीकरण है। इस अवचेतन में मानव-मानस की सम्पूर्ण बुराइयाँ उभड़ने के लिए पड़ी रहती हैं।'

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के अवचेतन-मानस में सारी बुरी भावनाएँ और गन्दी प्रवृत्तियाँ उभड़ पड़ने के लिए अवसर की ताक में बैठी रहती हैं,

1 In a group the individual is brought under conditions which allow him to throw off the repressions of his unconscious instincts. The apparently new characteristics which he then displays are, in fact, the manifestations of his unconscious, in which all that is evil in human mind is contained as a predisposition.—Group Psychology and the Analysis of the Ego.)

परन्तु चेतन-मानस के सामाजिक-संस्कार और प्रतिबन्ध उन्हें दबाये रखते हैं और फूट पड़ने नहीं देते । समुदाय में इस चेतन-मानस के बन्धन टूट जाते हैं और अवचेतन की सारी बुरी प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने का अवसर मिल जाता है ।

किन्हीं श्रंशों तक फ्रायड और उसके अनुयायियों के कथन में सत्यता है, वासनाओं का दमन विकृतियाँ लाता है और वे अपना रूप बदलकर जीवन के अन्य कार्यों में अभिव्यक्त होती हैं; परन्तु काम का दमन ही एक मात्र दमन नहीं है, साथ ही आज का मनोवैज्ञानिक यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि अवचेतन-मानस में केवल बुरी प्रवृत्तियाँ ही भरी रहती हैं । इसलिए सारे जनसंघात या समुदाय को अवदमित वासना और विनाशात्मक प्रवृत्ति की ही उपज मानना ठीक नहीं जान पड़ता । भयभीत पशुओं का झुंड भी अस्वाभाविक क्रियाएँ करता है । पशु को काम-वासना-दमन की वैसी आवश्यकता नहीं रहती और न उसमें चेतन-अवचेतन का द्वन्द्व ही सम्भव है ।

इधर जीवन की आवश्यकताओं से वञ्चित रहने पर उत्पन्न मानसिक स्थिति और संकट-कालीन मनोविज्ञान के अध्ययन की थोड़ी बहुत चेष्टा की गई है । इस अध्ययन से जनसंघात के स्वरूप पर और उसके मनोविज्ञान पर काफी प्रकाश पड़ता है । यह एक सामान्य अनुभव का विषय है कि भूखे रहने पर क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है और सामाजिक आदर्शों की चेतना कम पड़ जाती है । मिनेसोटा-विश्वविद्यालय के अर्द्ध भूखमरी प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है ।^१

भोजन-वितरण के समय वैसे शिक्षित और सम्मानित व्यक्ति भी अनावश्यक उपेक्षणीय बातों पर ही लड़ पड़ते थे । अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान के विपरीत कार्य करने में भी संकोच नहीं रह गया था । गत महा-युद्ध के समय अनेक देशों में अकाल पड़े और भूखे जन-समूह की सामाजिकता किस प्रकार नष्ट हो गई, इसके विवरण सभी भाषाओं में मौजूद हैं । भूख के समान ही अन्य प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अभाव होने और बाधा पड़ने से वैसे ही विकार उत्पन्न होते हैं । काम की भी यही स्थिति है । जिन प्राकृतिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए वाह्य-पदार्थों या उत्तेजना की आवश्यकता पड़ती है, उनमें भूख और काम ही प्रमुख हैं; परन्तु इन दोनों में मुख्यता की दृष्टि से भूख का स्थान प्रथम है । भूख का समय-चक्र (Periodic cycle) छोटा है, वह प्रायः कई घंटों के अन्तर से ही उत्पन्न हो जाती है । भूख से वंचित रहने पर कामदेव स्वतः भाग जाते हैं, परन्तु काम से वंचित रहने पर भूख कमही भागती है ।

१ देखें सामाजिकता समाज की हानि देन, प्रसंग ।

प्राकृतिक आवश्यकताओं से वंचित होने पर जिस तरह विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी तरह सामाजिक-प्रेरणाओं से वंचित होने पर भी होती हैं। इतना सही है कि प्राकृतिक-प्रेरणायें प्रधान पड़ती हैं और उनका अभाव सामाजिक-प्रेरणाओं को नष्ट कर देता है; किन्तु हमने सामाजिकता के कारण जो सामाजिक-आवश्यकतायें उत्पन्न कर ली हैं, वे भी हमारे लिए कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनसे वंचित होने का फल भी वंसा ही गम्भीर होता है। हम जिन प्रथाओं, सामाजिक-आदर्शों, मूल्यों तथा धार्मिक मान्यताओं को अपन जीवन का अभिन्न अंग समझते हैं, जिनकी अवहेलना स्वयं करना या दूसरों द्वारा करते हुए देखना हमारे लिए असह्य हो उठता है, उन सबों में हमारे अन्तर को छूने की उतनी ही शक्ति है जितनी किसी भी जीवात्मक आवश्यकता या प्रेरणा में। जिस तरह भूख हमारे व्यक्तित्व को, चरित्र को, आत्माभिमान और सम्मान की मर्यादा तथा चेतना को नष्ट कर देती है, उसी तरह उनका उल्लंघन और उनपर होने वाला आघात भी हमें आपे से, अपनेपन की मर्यादा से, बाहर कर देता है। हम हिल उठते हैं और सामान्य-चेतना खो देते हैं।

गत युद्ध के समय संकट-कालीन मनोविज्ञान की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है। यह देखा गया है कि तीव्र-संकट भी व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण आदर्शों की चेतना से हीन कर देता है। वह व्यक्तिगत या सामूहिक-रूप में नंगी संस्कारहीन मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का शिकार हो जाता है। यदि वह भागता है तो सिर पर पंर देकर और यदि आक्रमण या प्रतिरोध करता है तो नितांत निर्दय होकर। संकट मानवोचित मध्य-मार्ग का द्वार बन्द कर देता है। सामान्य-संकट में समूहबद्ध करने की शक्ति जगना स्वाभाविक है, यदि भागने की प्रवृत्ति की प्रेरणा प्रचण्ड नहीं पड़े। इस समूह-बद्धता में अंतःसमुदाय की, एकता की भावना भी जगती है परन्तु जितना आपस में अपनेपन का भाव जागृत होता है उससे हजार गुना पर या बाह्य-समुदाय वालों से घृणा का वेग उत्पन्न होता है। संकट के समय मनुष्य अरक्षित हो जाते हैं और स्थापित समाज के मापदंड टूट जाते हैं। परन्तु नये मापदंड खोजने पर भी नहीं मिल पाते, इससे वे आधार-हीन हो जाते हैं। अकाल, महामारी, राष्ट्रीय संकट सम्पूर्ण जाति को विचलित कर जाते हैं। भौतिक-संकट भयंकर होते हैं और सारा समाज ही उनसे हिल उठता है, परन्तु सामयिक धार्मिक या सामाजिक-संकट की भावना भी मानव को एक बार ही उद्वेलित कर देती है।

सारे उग्र-जनसंघात भौतिक या सामाजिक प्रेरणाओं से वंचित होने की अवस्था या भावना और कल्पना अथवा सामूहिक-संकट की स्थिति में ही उत्पन्न होते हैं। भूखमरी के समय सभी लोग मर्यादा का बन्धन तोड़कर सड़कों

पर आ जाते हैं और यह स्थिति उत्पन्न करने वाले किसी भी वास्तविक या कल्पित व्यक्ति या अधिकारी अथवा संस्था के प्रति अपना रोष प्रकट करने में नहीं हिचकते। काम बन्द हो जाने पर मजदूर सङ्कुट की कल्पना मात्र से उस मिल को भी नष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं, जिसमें काम करना चाहते हैं। अमेरिका में ह्विशियों की यंत्रणायें गोरी स्त्रियों के अपहरण तथा भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे गाय की कुरबानी और सूअर के नाम पर ही होते हैं। ये ऐसे कार्य हैं, जिन्हें गोरे हिन्दू और मुसलमान, गलत या सही, बहुत महत्व देते हैं और इस सम्बन्ध में अपने आदर्श के विनाश से उतने ही विचलित हो उठते हैं, जितने प्राकृतिक आवश्यकताओं से वंचित होने पर। एक सामाजिक आदर्श की अवहेलना के लिए अनेक आदर्शों की बलि करने में वे तनिक नहीं हिचकते।

जब जनसम्भार के इस भौतिक या सामाजिक वञ्चन (Mass deprivation) का कारण स्थापित समाज या व्यवस्था रहती है तो एक विचित्र स्थिति आ जाती है। जहाँ कष्ट देने वाला अंग साफ सामने रहता है वहाँ आक्रमण का वही लक्ष्य रहता है। इसलिए किसी भी कारण उत्पन्न होने वाले जनसंघात उधर ही दौड़ते हैं। जबतक वह नष्ट नहीं हो जाता या उसे निर्जीव नहीं कर दिया जाता, तबतक जनसमाज का मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं होने पाता। अमेरिका और भारत की दासता के युग इसके उदाहरण हैं। हमारी सारी पीड़ाओं की जड़ गुलामी समझी जाती थी। कोई भी अल्पकालीन या दीर्घकालीन सामूहिक पीड़ा या वंचन सरकार के विरुद्ध जनसंघात उत्पन्न करने का कारण बन जाता था। ऐसी स्थिति में जनसंघात क्रान्ति के अग्रदूत होते हैं और एक पीड़ा शान्त करने के लिए जनता अनेक पीड़ाओं को निमंत्रण देती है। क्रान्ति इसी पथ से आती है। किन्तु उस पीड़ादायक अंग के समाप्त हो जाने पर भी वञ्चन की अवस्था हमेशा समाप्त नहीं हो जाती। ऐसी स्थिति में जन-समाज की मानसिक स्थिति उलझन में ही पड़ी रह जाती है, जनसंघातों का सिलसिला और भी बढ़ जाता है और शासक परेशान हो जाते हैं, किन्तु जनता के सामने यदि ऐसा शत्रु ला दिया जाता है जो पट्टूच के परे होने के कारण एकता की सृष्टि कर सकता है, जनसंघातों की नहीं, तो धीरे-धीरे स्थिरता आ जाती है और नवीनता के अनुकूल अभिवेश के मापदण्ड और आदर्श (Scale and Frame of reference) निर्मित हो जाते हैं। इसीलिए चतुर राजनीतिज्ञ वास्तविक या कल्पित शत्रु की खोज में रहते हैं। स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान के नेता भारत का भय दिखाकर वंचन की भयङ्कर स्थिति में भी शान्ति बनाये रखते हैं, परन्तु भारतीय जनता के सामने

कोई ऐसा शत्रु नहीं दिखाई पड़ता इसीलिए थोड़ा भी कष्ट जनसंघात की सृष्टि कर देता है। अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद सामान्य वंचन की स्थिति बहुत अधिक नहीं थी; किन्तु तो भी सन्तुलन ठीक करने के लिए गृह-युद्ध की आवश्यकता पड़ी। हिटलर और मुसोलिनी इस स्थिति से बचने के लिए रूस के रूप में प्रधान शत्रु की भावना भरते रहते थे और शक्ति लाने के लिए प्राचीन जातीय गौरव के पुनरुद्धार की सुनहली कल्पना देते थे। वंचन की उत्तेजना अत्यन्त ही विश्वासी होती है और छिद्र पकड़ लेने पर उतनी ही अविश्वासी भी। उसका विश्वास पा लेना अत्यन्त सरल होता है, वैसे ही खो देना भी।

जहाँ वंचन के हेतु में स्थापित सामाजिक व्यवस्था तो होती है, परन्तु आक्रमण का लक्ष्य-विन्दु स्पष्ट नहीं होता, सारी व्यवस्था जिम्मेवार रहती है जिसको सहसा पलट देना कठिन होता है अथवा उसका जो अंग सड़ा रहता है उसे सम्पूर्ण से अलग कर लेना सम्भव नहीं होता, वहाँ जन-समाज को अपना लक्ष्य नहीं मिलता, वह इधर-उधर टटोलता है। ऐसी अवस्था में वह अपना मापदण्ड खो देता है, आधार-हीन होकर कोई पैर रखने का धरातल खोजता है, परन्तु वह मिल नहीं पाता। जनसंघात और उपद्रवों की बाढ़ आ जाती है। क्रान्तियाँ भी होती हैं, किन्तु क्रान्तियों के बाद भी संतुलन स्थापित कर लेना और नवीन सामाजिक आदर्शों और मूल्यों के आधार पर नव-अभिदिष्ट-मापदण्ड का निर्माण कर लेना सरल नहीं होता। इसलिए जन-सम्भार का अन्तर पेन्डुलम के समान डोलता रहता है। यह स्थिति विचित्र बेचैनी और अरक्षा की भावना से जन-मानस को अभिभूत कर लेती है। उत्तेजना का थोड़ा भी अवसर उसे पागल बना देता है। उसमें विचारों और सामूहिक क्रियाओं की दृढ़ता नहीं आ पाती। क्षण-क्षण उसके विचार बदलते रहते हैं। इतिहास में फ्रांस की राज्यक्रान्ति इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। इस विषय के एक अधिकारी विद्वान् का कथन है कि यह क्रान्ति “वास्तविकता तथा राजकीय-नियम या कानून के बीच, संस्थाओं और जीवन-विधि के बीच, लिखित रूप और भावना के बीच दिन-पर-दिन चौड़ी होनेवाली खाई और सम्बन्ध-त्याग के कारण उत्पन्न हुई थी।”*

फ्रांस की राज-क्रान्ति में पहले जो कानून और समाज के लिखित नियम या आदेश थे वे उस काल की भावना तथा कार्य-विधि के विपरीत हो गए थे,

* This revolution arose from the ever-widening divorce between reality and law, between institutions and men's way of living, between the letter and the spirit—A. Mathiez (The French Revolution

वे नितान्त पुराने पड़ गए थे, इसलिए वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट रहा था और बहुत कुछ टूट चुका था । इसलिए जन-सम्भार जीवात्मक और सामाजिक आवश्यकताओं से वंचित हो रहा था । एक ऐसे धक्के की आवश्यकता थी जो कानून आदि को वास्तविकता के धरातल पर लादे । क्रान्ति हुई, परन्तु शान्ति नहीं आई । इसके विपरीत वर्षों तक रूधिर की नदियाँ बहती रहीं ।

क्रान्तियाँ अपने आप विकास के विपरीत प्राचीनता को धक्का देकर सहसा नष्ट कर देती हैं । विकास में वह अपने ही धीरे धीरे मिट जाती हैं । इसीसे उसकी बू अन्तर से नहीं जाती, जोश ठंडा होने पर वह सामने आ जाती है । इस पुरातन को न तो पकड़े रखा जा सकता है और न आसानी से छोड़ते बनता है । इस स्थिति में आधार-हीनता अस्थिर कर देती है । और जन-मानस को शीघ्र ही उद्वेलित होनेवाला बना देती है । यह हालत तबतक रहती है, जबतक कोई-न-कोई आधार नहीं मिल जाता । फ्रांस की राज क्रान्ति के बाद का रक्तपात इसी अस्थिरता का परिणाम था ।

परतंत्रता की स्थिति में भारत का शत्रु प्रत्यक्ष था । इससे हमारी सारी भावना उसीके विपरीत केन्द्रित थी । स्वतंत्रता के पश्चात् वह सामान्य-शत्रु हट गया, किन्तु हमारे अभाव नहीं हटे । इसलिए जन-मानस उत्तेजित तो होता है, किन्तु हमारा मूल-शत्रु सामने नहीं आता, फलतः कभी हम इस पर आक्रमण करते हैं, कभी उस पर । इसके साथ ही भारतीय-स्वतंत्रता ऐसे युग में आई है जब समाज नित नवीन सामाजिक-विचारों का क्रीड़ा-स्थल और नवीन आदर्शों की प्रयोगशाला बन रहा है । हमारे पुराने सामाजिक-आदर्श समाप्त हो गये, आज के जीवन में उन्हें ही पकड़े रहकर हम जीवित नहीं रह सकते; किन्तु हमारे अन्तर से उनकी वासना मिटी नहीं है, जाति-पाति और सम्प्रदाय के रूप में उनके खण्डहर मौजूद हैं, जो नव-निर्माण की ओर बढ़ने नहीं देते । इनके विपरीत नवीनता की विविधता, अस्पष्टता, और बहुरूपता की उलझनें हमें एक धरातल पर पैर नहीं रखने देती । हम भौतिक-अभौतिक वंचन की वेदना का अनुभव तीव्र-रूप में करते हैं, हमारा सन्तोष और हमारी सहनशीलता नष्ट हो चुकी है और कामनायें आकाश छूती रहती हैं; किन्तु अपनी अन्ध-कारपूर्ण परिस्थितियों से अभाव और वंचन का मूल कारण खोज निकालने में हम असमर्थ हो रहे हैं । वंचन की इस मानसिक-स्थिति, नवीनता-प्राचीनता के द्वन्द्व और नवीनता की अस्पष्टता के कारण हम सद्यः उत्तेजित करने वाले विचारों और क्रियाओं में पूरा दुलमुल यकीन और बेपैदी के लोटे बन रहे हैं । हमारा समस्त मानसिक-मापक या स्केल विपर्यस्त हो रहा है । एक ही समुदाय आज जिस दल की सहानुभूति और समर्थन में उग्र-जनसंघात के

रूप में परिणत होता है, कल उसी के विरुद्ध प्रदर्शन करता है और तोड़फोड़ के कामों में आगे बढ़ आता है। स्वतंत्रता के बाद जनसम्भार की यह अस्थिरता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक होते हुए भी समाजशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के लिए एक ऐसी समस्या है, जिसका हल खोज निकालना आवश्यक होते हुए भी कठिन जान पड़ता है।

जनसंघात बन जाने पर या बनने का वातावरण तैयार हो जाने पर फवाहों के द्वारा वही काम लिये जाते हैं, जो वास्तविक घटनाओं से हो सकते हैं। जनसंघात बड़ा विश्वासी होता है और अनुकूल अफवाह पर अविश्वास करना नहीं चाहता। परिस्थिति में जितनी ही अस्पष्टता और उलझने होती है अफवाहों को फैलने तथा पैदा होने का उतना ही अधिक अवसर मिलता है। जनसंघात की विश्वासी और उत्तेजित बुद्धि सम्पूर्ण वातावरण में अपनी मनचाही वस्तु ही देखती है और मनचाही आवाज ही सुनती है। अफवाहें भूत के समान अन्धकार में ही चलती फिरती हैं और अपना काम करती हैं।

उल्लसित जनसंघात में थोड़ा-बहुत तोड़-फोड़ दिखाई पड़ता है और उसमें भी व्यक्ति उत्तेजित होता है अपनापन खो देता है; परन्तु उग्र जनसंघात के समान उसमें उस तरह तीव्रता नहीं रहती और न मानव-मानस की गन्दी प्रवृत्तियाँ ही खुलने पाती हैं। जो तोड़-फोड़ होता है, उसमें विनाश की भावना नहीं रहती। समूह जिस उद्देश्य के लिए एकत्रित है, उसकी पूर्ति करना चाहता है और यदि इस कार्य में कोई उचित-अनुचित बाधा आती है तो वह उसे सहन नहीं कर सकता। जनप्रिय नेता के आगमन पर बने हुए घेरे तोड़ दिये जाते हैं, उसी नेता के ही आदेश भंग हो जाते हैं। इसमें साधारण विनाशात्मक-प्रवृत्ति नहीं काम करती, वरन् प्रतिरोध निवारण के भाव काम करते हैं। इसके अतिरिक्त उल्लास में थोड़ी-बहुत उत्तेजना व्यक्ति को भी होती है, समूह में उसका ही दर्शन होता है। जहाँ जनसमूह उमड़ पड़ेगा, वहाँ जानकर या अनजान में थोड़ी अव्यवस्था होगी ही। हाँ ! उग्र के समान ही उल्लसित जनसंघात में भी व्यक्तिगत जिम्मेवारी की भावना नहीं रहती, जो स्वाभाविक है।

मानव विचार-प्रधान प्राणी है, उसमें विचार करने की शक्ति है, इसमें कोई संदेह नहीं, परन्तु विचार उसके जीवन का मूल नहीं है। वह संस्कार और भावुकता के वश होकर ही अधिक सोचता है। यदि आत्मविश्लेषण कर अपनी कमजोरियों का पता लगाता है तो, सामान्यतया, वे उसे कम ही दिखलाई पड़ती हैं, यदि दिखाई पड़ भी जाती हैं तो उन्हें दूर करना आसान नहीं होता।

कारण यह है कि कमजोरियों को—जो उसकी प्रकृति और भाव प्रवणता के मूल में पंथी हुई हैं, निकाल फेंकना काफी कठिन है। श्री जेनेन्द्र जी ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि जीवन ज्यामिति की रेखा नहीं है, जो निश्चित पथ पर ही चले। इसी प्रकार हितोपदेश का 'अतीत्य ही गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' कथन भी यथार्थ है। वस्तुतः मानव जब कोई सिद्धान्त स्थिर करता है तो बुद्धि से सोच-विचार कर नहीं, अपने कई आन्तरिक और बाह्य प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही। बुद्धि तो उस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए सहायक मात्र होती है और वह उसके पोषण के लिए ही तर्क का सहारा लेता है। कई बार तो बुद्धि हमारे अच्छे-बुरे कार्यों के लिए बहाना ढूँढ़ती है। इसे ही मनो-वैज्ञानिक हेतवारोपण (rationalisation) कहते हैं।

समूह में भी वह अपनी यही भावुकता और भावप्रवणता लिए हुए जाता है। जीवन में बुद्धि कम जागृत रहती है। इसीलिए उसे भावापन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं स्वाभाविक है। जनसंघात व्यक्तियों के आगे ऐसे अवसर देता है जिनसे वे अपनी बुद्धि खो दें। ऐसे अवसर के लिए इस प्रकार के विषयों की उद्भावना और चर्चा आवश्यक है जिनके सम्बन्ध में उनकी धारणा पक्की है, जिन्हें वे दिल से चाहते हों और जिनकी विपरीतता का आभास पाते ही उनका मानसिक संतुलन नष्ट हो जाय। एक हिन्दू गाय को पवित्र समझता है, गाय की हत्या उनकी आत्मा सहन नहीं कर सकती। इसकी चर्चा होते ही वह उग्र हो जाता है अपनापन भूलकर, मानवता खोकर पागल-सा बन जाता है। उत्तेजित जनसंघातों के मूल में इसी प्रकार का एक सामान्य विषय अनिवार्य रूप में रहता है, जो उनमें एकत्रित होनेवाले सभी व्यक्तियों को अत्यधिक प्रिय हो या जिनका उल्लंघन, जिन पर उपस्थित होनेवाली बाधा सबको अत्यन्त मानसिक आघात पहुँचाने में समर्थ हो। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी मानव उत्तेजित हो जाने पर पागल जैसा आचरण करने लगता है। समूह में भी यही स्थिति होती है।

किन्तु व्यक्तिगत उत्तेजना की अपेक्षा सामूहिक उत्तेजना उग्र होती है, यह भी ठीक है और हमें इसका भी कारण ढूँढ़ना चाहिए। एक दिहाती कहावत है कि—'क्रोध बड़ा चतुर होता है' क्रोधी थोड़े बहुत अंशों में क्रोध के आलम्बन से अपनी शक्ति की तुलना कर लिया करता है। जितना वह दुर्बल पर रोष प्रगट करता है उतना सबल पर नहीं। यदि कोई क्रोधी का सहायक और समर्थक मिल जाता है तो उसका क्रोध कई गुना बढ़ जाता है। इसी प्रकार अकेले उल्लास मनाने में संकोच होता है पर यदि दस-पाँच मिल गये तो संकोच की आवश्यकता नहीं रहती। जनसंघात में भय नहीं रह जाता।

जनसमूह के कारण व्यक्ति अपने को सुरक्षित समझता है, अपनी शक्ति का अनुभव करता है। उसके क्रोध को सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन्होंने उसका अहित किया, जिन्होंने उसकी प्रिय वस्तु पर आघात किया, जिनके कारण उसका, उसकी जाति का, उसके वर्ग का अपमान और अहित हुआ उन्हें आज धूल में मिलाया जा सकता है। उसका सम्पूर्ण विद्वेष खुल पड़ता है, प्रतिकार के लिए वह पागल हो उठता है। वह विपरीत फल की जिम्मेवारी से अपने को बरी समझता है, साथ ही वह अज्ञात रूप में ही अनुभव कर लेता है कि अपने शत्रु को मिटा देने का, अपने प्रिय की स्थापना करने का, जातीय अपमानों के बदला लेने का सारा उत्तरदायित्व उस पर, उसके साथियों के साथ, आ पड़ा है, जिसका निर्वाह करना ही होगा।

उल्लास में भी उसकी आशंका, लज्जा भाग खड़ी होती है। उसको इतने लोगों का समर्थन और बल प्राप्त हो जाता है। सामाजिक बन्धन उसकी आँखों के सामने से दूर हट जाते हैं; मानो वह मुक्त हो गया हो।

इनमें निर्देश तथा लय भी काम करते हैं। मानव निर्देश (Suggestion) का शिकार भी आसानी से हो सकता है। जीवन के हर क्षेत्र में वह विभिन्न रूपों में निर्देश पाता रहता है। जब कोई नेता या ऐसा व्यक्ति जिसकी धाक किसी न किसी रूप में समाज पर होती है, कुछ कहता है या सलाह देता है तो समाज के लिए निर्देश ही होता है। उसके महान् व्यक्तित्व से लोग इतने अभिभूत हो जाते हैं कि अपनापन खो बैठते हैं और उसके हाथ की कठपुतली बनकर नाचने लगते हैं। राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक नेता का प्रभाव एक अंश तक उसी रूप में पड़ता है जिस रूप में एक सम्मोहक का अपने आलम्बन पर। सम्मोहक का निर्देश सम्मोहित जिस प्रकार ग्रहण करता है, उसी प्रकार, उससे थोड़ा कम, श्रोता-समाज नेता का भी ग्रहण करता है। नेता की वीरता और त्याग की प्रसिद्धि, सौम्य-आकृति लोगों के द्वारा की हुई उसकी प्रशंसा, सम्मान, उच्चासन आदि अज्ञात रूप से ही जन-समाज को मोहित कर देते हैं। यदि जनसंघात उत्पन्न होने का कारण कोई नेता, आदरणीय वीर हैं तो उसका व्यक्तित्व उत्तेजना का एक प्रधान आधार हो जाता है। परन्तु नेता के अभाव में कभी-कभी अपार संख्या और नरशीर्ष भी अपनी संख्या और बहुलता के कारण निर्देश के हेतु बन जाते हैं। सैकड़ों मनुष्यों की उपस्थिति, हर ओर से सुनाई पड़ने वाली एकोन्मुखी आलोचना, हर ओर से अनुभव की हुई प्रेरणा और उत्तेजना एक दूसरे पर प्रभाव डालती है और व्यक्ति को अभिभूत कर लेती है। मानव बालकपन से ही दूसरों की सम्मतियों से प्रभावित होता रहता है। दूसरों की भावना का वह अनुभव करता

हैं और सहानुभूति की स्थिति में आता है। जनसंघात में इतने लोग एक दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में ही नहीं, मानसिक सान्निध्य में भी आते हैं। अस्तु व्यक्तिगत उत्तेजना से कई गुना अधिक उत्तेजना प्राप्त करना स्वाभाविक है।

संगीत अपनी एकतानता और लय के बल पर ही मानव को भाव-विमग्न करता है। एक ही स्वर अगर नियमित अन्तर से दुहराया जाय तो एक प्रकार का स्पन्दन उत्पन्न करता है। निर्देश भी अगर सम, नियमित और अव्याहत हो तो विशेष प्रभावोत्पादक होता है। वक्ता का हस्त-संचालन, बोलने की गति, कुछ शब्दों-वाक्यांशों और वाक्यों की नियमित पुनरावृत्ति, एक ही विषय को उत्तरोत्तर प्रभावोत्पादक पद्धति से बार-बार लाना ऐसे कार्य हैं जो निर्देश की शक्ति हजारों गुना बढ़ा देते हैं। नेता में जनप्रिय विषयों की उद्भावना की जितनी बुद्धि चाहिए उतना ही व्यक्तित्व और उतना ही अपने अभिप्राय को सरल, सुबोध बनाने के साथ ही एकस्वरमयता, एकतानता और लय के द्वारा जनता का हृदय छूने की शक्ति भी। लम्बे-चौड़े प्रवचनों की अपेक्षा साधारण उपयुक्त नारों का असर अधिक पड़ता है क्योंकि उनमें एक लय होती है।

जनसंघात की शब्दावली में, अलग-अलग व्यक्तियों की हुंकार या उच्छ्वास में भी इतनी लय होती है कि वह स्वतः ही एक सम्मोहन का कारण बन जाती है। एक ही नारा चारों ओर से सुनाई पड़ता है, एक ही भावाभिव्यक्ति करने वाले शब्दों से आकाश गूँज उठता है। एक ही भाव-परक गाने सैंकड़ों कण्ठों से फूटते हैं, एक ही साथ प्रशंसा, स्तुतिपरक, उत्साहजनक शब्द कानों में घुसते हैं, एक ही ताल से सैंकड़ों पैर नाचने के लिए उठते हैं, चलते हैं और थपथपाते हैं। यह सम्पूर्ण एकस्वरता (rhythm) सावधान व्यक्ति की भी आत्म-चेतना दूर करने में समर्थ है।

यूथ मनोवृत्ति (herd sentiment)

यूथ शब्द प्रधानतया पशुओं के झुंड का वाचक है, और अपने पूर्ण अर्थ में वह पशुओं के लिए ही प्रयुक्त होता है। कुछ पशु यूथ से अलग रह नहीं सकते, उनमें अपनी जाति से संलग्नता बड़ी प्रबल होती है, परन्तु किन्हीं श्रृंशों में यह संलग्नता या यूथ से एकाकारता मानव में भी पाई जाती है। अस्तु जिस भावना के कारण मनुष्य अपना कर्तव्य भूलकर यूथ के साथ मिल जाता है, जो प्रवृत्ति यूथ से तन्मय बनाती है उसे यूथ मनोवृत्ति (herd sentiment) कहते हैं। जनसंघात में भी व्यक्ति सामूहिक उत्तेजना से अभिभूत हो जाता है, अस्तु कुछ लोग उसे यूथ मनोवृत्ति कहते हैं, परन्तु दोनों में सूक्ष्म भेद है। इस विभेद के निम्न आधार हैं—

(१) जनसंघात क्षणिक, सामयिक तथा सहसा उद्भूत है। यूथ अपेक्षाकृत स्थायी है। मैक ग्राइभर के अनुसार “जनसंघात जीवन का रूप (mode) नहीं, एक घटना, एक विस्फोट है, कभी-कभी स्थापित सामाजिक आदर्श का उपद्रव है।”^१ परन्तु यूथ मनोवृत्ति एक प्रवृत्ति है, जो थोड़ा बहुत मन में मौजूद है।

(२) यूथ मनोवृत्ति अनुकरणमूलक लगाव (imitative cohesion) है। मानव आरम्भ से ही दूसरों की राय का आदर करना, दूसरों की सम्मति के अनुकूल अपने को ढालना सीखता है। वह अनुकरण करता है अपने को बहुमत के अनुरूप बनाने के लिए या कम-से-कम उसके अनुरूप प्रदर्शित करने के लिए। इस अनुकरण के कारण वह अपना अहम् दबाना सीखता है या दबा लेता है। यूथ मनोवृत्ति अल्पमत छोड़ कर बहुमत को अपनाने के लिए प्रेरणा देती है। जनसंघात में व्यक्ति अनुकरण नहीं करता उत्तेजना ग्रहण करता है; पर यूथ मनोवृत्ति में उत्तेजना या भावुकता कम होती है।

(३) यूथ मनोवृत्ति दुहरा काम करती है, एक ओर तो वह परिवर्तन का विरोध करती है, क्योंकि स्थापित आदर्श में कोई भी परिवर्तन स्वल्प लोगों से ही आरम्भ होता है, दूसरी ओर परिवर्तन का स्वरूप थोड़ा व्यापक हो जाने पर वह शीघ्रता से ग्रहण करने के लिए प्रेरित भी करती है। नये फैशन, नये विचार, नई पद्धति सबके प्रसार में यह सहायक है। नये तरीकों के गाने, नये तर्ज के संगीत, आदि इसके पनपने में काफी सहायता देते हैं। यह मनोवृत्ति जीत के आगे और हार के पीछे रहा करती है। हमारे देश में इसका सबसे बड़ा नमूना किसी साधु की महिमा, किसी देवता की उत्पत्ति आदि में काफी मिला करता है। एक बार एक समाज-सेवक साधु के सम्बन्ध में यह अफवाह फैली कि वे जनता के कष्ट दूर करने के लिए गंगा से मिले थे। गंगाजी ने आदेश दिया है कि सब लोग उनकी पूजा करें। बस भीड़ लगी। जो लोग इस अफवाह का मजाक उड़ाते थे, उनके घरों से भी पूजा की सामग्री पहुँचने लगी। यूथ मनोवृत्ति कभी-कभी समाज के लिए अहितकर भी होती है, इसी से बुद्धिमान लोग इसकी निन्दा करते हैं और जहाँ इसका अग्रन्थ रूप दिखाई पड़ता है वहाँ उसे भेड़िया-धसान-उपाधि दिया करते हैं। श्री गोस्वामीजी को भी इससे ऊबकर एक बार कहना पड़ा—

तुलसी भेड़ी की धसन जड़ जनता सनमान

1 It (crowd) is not a mode of life, but an incident, an eruption sometimes a disturbance of established social pattern, —Society.)

(४) यूथ मनोवृत्ति का जब एकत्रित, व्यापक प्रदर्शन होता है, तब जनसंघात और यूथ का विभेद बड़ा सूक्ष्म हो जाता है । महामारी के भय से, दंगे के आतंक से जो लोग झुंड के झुंड भागते हैं उन्हें हम यूथ कहें या जनसंघात ? भारत में शरणार्थियों का काफला क्या यूथ ही कहलायेगा ? भय से भागते हुए लोग, व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए पलायमान जन-समाज यूथ ही है ? सामान्य राष्ट्रीय या धार्मिक उत्सवों पर झुंड के झुंड निकल पड़ना तो यूथ मनोवृत्ति का परिचायक अवश्य है ; किन्तु जब उत्सवों के समय हर्ष में या क्षोभ में लोग एक दूसरे से उत्तेजना प्राप्त करने लगते हैं, उल्लसित या उग्र बन जाते हैं, तो यूथ न रहकर जनसंघात में परिणत हो जाते हैं ॥ शरणार्थी क्या एक दूसरे से भागने की प्रेरणा ग्रहण नहीं करते ? भय से पलायमान जन-समूह का विक्षोभ क्या जनसंघात की उत्तेजना या उल्लास से भिन्न है ? श्रोता या दर्शक को पारस्परिक प्रेरणा देने के कारण ही जनसंघात में रखना पड़ा है । ऐसी स्थिति में यह सामयिक यूथ मनोवृत्ति का उत्तेजना मूलक प्रदर्शन जनसंघात क्यों नहीं होगा ? वस्तुतः जनसंघात में सम्मिलित करनेवाली प्रेरणा यूथ मनोवृत्ति है, पर उसका सामूहिक विस्फोट जो भय, आनंद और क्षोभ से समन्वित होने के कारण पारस्परिक उत्तेजना का जनक है, यूथ को जनसंघात बना देता है ।

जनता (Public)

जनसंघात उत्तेजित तथा यूथ एकाकार जनसमूह है, इस उत्तेजना तथा यूथ के पीछे एक रुचि—चाहे वह समरुचि हो या सामान्य रुचि, आवश्यक है । इस एक रुचि की एक धारणा ही उत्तेजित कर सकती है या यूथ बना सकती है ; परन्तु एक रुचि होने पर ही एक धारणा होना आवश्यक नहीं है । आज के युग में तो धारणा की भिन्नता ही अधिक सम्भव है । इस विभिन्नता के होने पर न तो यूथ बन सकता है और न जनसंघात, इसे हम जनता कह सकते हैं, अस्तु जनता की परिभाषा हुई—वह जनसमुदाय जिसका सम्बन्ध किसी एक ही सामाजिक वस्तु से हो, परन्तु जिसकी धारणा और जिसके विचार अनिवार्यतः एक-से नहीं हों । चुनाव के एक ही उद्देश्य और रुचि से एकत्रित जनसमाज भिन्न-भिन्न मत रखता है, इसी प्रकार किसी खेल या तमाशा के दर्शक उस खेल या तमाशा के सम्बन्ध में विभिन्न मत, विभिन्न विचार रखते हैं, हम उसे जनता कहेंगे । जनता के लोग आपस में विवाद करेंगे, अपना तर्क पेश करेंगे, प्रभावित भी होंगे परन्तु उत्तेजित नहीं ।

जनता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सब लोग एक स्थान पर इकट्ठे ही हों, जनसंघात और यूथ के लिए एकत्रित होना अनिवार्य शर्त न रहते हुए भी एक प्रकार से आवश्यक है। जनसंघात तो बिना इकट्ठे हुए बन नहीं सकता। परन्तु जनता के व्यक्ति अलग-अलग बिखरे रह सकते हैं या यों कह सकते हैं कि विशेष अवसरों के सिवाय इकट्ठे कम ही होते हैं। हम एक रुचि से सम्बन्धित व्यक्तियों को एक जनता कह सकते हैं।

यूथ या जनसंघात में परिणति—जनता संयमित रहने से अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकती है। यद्यपि किसी की बुद्धि, संस्कार, व्यक्तिगत आवश्यकता, स्वभाव या प्रकृति से परे नहीं जा सकती; तो भी जनसंघात की उत्तेजना और यूथ के अन्धानुकरण की अपेक्षा उसके निर्णय किसी न किसी तर्क के आधार पर थोड़े बहुत अंशों में आधारित होंगे। जिस क्षण वह अपना मानसिक संतुलन खोने लगे, उसी समय समझ लेना चाहिए कि वह जनसंघात में परिणत होने जा रही है। जनता स्वतः बिना किसी प्रयत्न के भी जन संघात या यूथ में परिणत हो सकती है, और प्रयत्न से भी। स्वतः परिणति के लिए कोई ऐसी घटना घटनी चाहिए जो समूची जाति का दिल छू सके। जागृत राष्ट्रों के नागरिक राष्ट्रीय संकट के समय मतभेद भूलकर एक मत और एक विचार के हो जाते हैं। उत्तेजना मिलने पर जनसंघात तथा साधारण स्थिति में यूथवत् बने रहते हैं। राष्ट्रीय आनन्द के विषय भी उसी प्रकार एकता ला देते हैं, परन्तु संकट और सामान्य घृणा में एकता की जो शक्ति दिखाई देती है वह आनन्दोल्लास में नहीं। आनन्दोल्लास क्षणिक होता है, थोड़ी ही देर बाद उल्लास का जोश समाप्त हो जाता है और मानव का अहम् जग पड़ता है। वह स्वार्थवश या अन्य अनेक कारणों से अपना मतभेद सामने ला देता है, जो उल्लास-जनित जनसंघात या यूथ को तुरन्त जनता के रूप में बदल देता है, परन्तु संकट जितनी देर रहता है उतनी देर उसका भय मानव को सटाये रखता है। वह एक सिर पर लटकती हुई तलवार है, जो अलग होते ही गिर पड़ती है। अस्तु इसके भय से जनता यूथ ही बनी रहती है। गत युद्ध के समय संसार के प्रायः युद्धरत देशों में संयुक्त मंत्रिमंडल बने और तब तक टिके रहे जब तक युद्ध चलता रहा।

इन बड़े देशव्यापी कारणों के अतिरिक्त सामयिक कारण भी जनता को जनसंघात के रूप में बदलते हैं। व्यापक, बहुकालव्यापी कारणों से यूथ बनते हैं और उत्तेजक कारणों से जनसंघात। जनसंघात क्षणिक है, अस्तु उनके कारण भी अधिकांश क्षणिक होते हैं कभी-कभी बड़े और व्यापक

कारण भी क्षणिक जनसंघात बना दिया करते हैं, यद्यपि इस प्रकार के जन-संघात भी व्यापक होंगे। हिन्दू-मुस्लिम दंगे सम्पूर्ण देश में स्थान-स्थान पर उग्र जनसंघातों की सृष्टि करते हैं। जनतंत्र के युग में जनता की सम्मति से ही शासक बनते हैं, अस्तु सभी लोग जनता को यूथ बनाने के प्रयत्न में रहा करते हैं। ये प्रयत्न तीन प्रकार के हो सकते हैं :—समयोपयोगी कार्य और योजना, प्रचार तथा विज्ञापन।

साधारण स्थिति में भी कोई दल या व्यक्ति अपने त्याग, साहस और कार्य के बल पर, अथवा अपनी ऐसी योजनाओं के सहारे जिनसे जनता अत्यधिक आकर्षित हो जाय, सम्पूर्ण जनता को यूथ बना सकता है। हमारे सामने कांग्रेस और महात्मा गांधी का ज्वलन्त उदाहरण मौजूद है। महात्मा जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जो नीति अपनाई उससे भारतीय जनता विमुग्ध हो गई, उसने महात्मा जी को अवतार मान लिया। बापू के सामने भारतीय जनता यूथ ही बनी रही और उनके आने पर या उनके आदेशों में बाधा पहुँचने पर जनसंघात में परिणत हो जाती थी। अभी तक कम-से-कम चुनाव के लिए भारत के लोग यूथ ही बने हुए हैं।

जर्मनी और इटली में हिटलर और मुसोलिनी की भी यही स्थिति थी। जर्मन विद्वान मैक्स वेबर ने तो अवतरित नेतृत्व (Chrismatic Leadership) के एक नये सिद्धान्त ही की कल्पना की थी। क्रिस्मा (Chrisma) यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ है 'शक्ति का एक विशिष्ट वरदान, जो एकाध में ही पाया जा सकता है। मैक्सवेबर का कहना है कि संसार का इतिहास बतलाता है कि कुछ लोग नैसर्गिक नेता होते हैं। वे अधिकारी नहीं होते जो लम्बे-लम्बे वेतन लेकर काम करते हैं और जिन्हें पुराना अनुभव होता है, वे तो साधारण जन होते हैं; परन्तु उनमें ईसा, नेपोलियन, जूलियस सीजर जैसी ईश्वरदत्त शक्ति होती है। वे अपने महत्त्व से परिचित होते हैं। जनता भी उन्हें शीघ्र पहिचान लेती है और वे संकट से राष्ट्र या जाति का उद्धार करते हैं।

इस अवतरित नेतृत्व के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसी दल के सहारे ही नेता बन सकता है (साधु महात्मा बनने के लिए ही दल की आवश्यकता नहीं होती)। कोई भी व्यक्ति ईश्वर से वरदान लेकर आता है या नहीं; यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि महान् नेता अपने दल के द्वारा जो कार्यक्रम रखता है, वह जनता का प्रिय होता है। जनता परिवर्तन चाहती है, कुछ नये के लिए बेचैनी का अनुभव करती है, परन्तु वह नवीनता क्या हो और किस रूप में लाई जाय, यह समझ

नहीं पाती। महापुरुष इसे समझता है और जनता को समझाने की शक्ति रखता है। जनता की मानो आँखें खुल जाती हैं। वह अनुभव करती है कि यही तो वस्तु थी जिसकी उसे चाह थी। उसका दिल उमड़ पड़ता है, वह यूथ बन जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जनता आजादी के लिए बेचैन थी, परन्तु उसे पथ नहीं मिल रहा था, वह कुछ ठोस रूप में सक्रिय होना चाहती थी। आतंकवाद जनक्रान्ति (mass revolution) में परिणत नहीं हो सकता, अस्तु जनता बम फेंकने वालों की वीर रूप में पूजा तो कर सकती थी; परन्तु उसके लिए यूथ नहीं बन सकती थी। उदार-दलीय नेता कानूनी उलझनों में ही लिपटे रहने के कारण कार्य के लिए व्यग्र जनता की कल्पना नहीं छू सकते थे। बापू ने इस जाग्रतोन्मुख छिपी शक्ति की करवटें देखीं और उसे जगाने के लिए उपयुक्त समयोपयोगी आवाजें दीं। वह उठी और उनके पीछे आँख मूँद कर, सम्मोहित के समान दौड़ पड़ी और दौड़ती रही जबतक बापू की पदध्वनि और पुकारें सुनाई पड़ती रहीं।

कभी-कभी यह नवीनता की बेचैनी पीढ़ियों की घृणा और विद्वेष के सहारे भी उठती है और बढ़ती है। हिटलर को आगे बढ़ने में जितनी सहायता मृत जर्मनी को उठाने की क्षमता से मिली उसके कई गुना अधिक यहूदी जाति के प्रति दिल में जमी घृणा-वितृष्णा तथा वर्साई-सन्धि के अपमान के प्रतिकार की प्रेरणा से प्राप्त हुई। जिन्ना का नेतृत्व भी हिन्दु-मुस्लिम विद्वेष और एक दूसरे के प्रति सदियों की आशंका से जगा और पोषित हुआ।

छोटे क्षेत्र, एक गांव या शहर में भी, एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और जनोपयोगी कार्यों से इतना प्रिय बन जाता है, उसके व्यक्तित्व में इतनी निर्विशेषतादिनी शक्ति आ जाती है कि जनता उसके सामने धाक से या श्रद्धा से नत होकर अपना विरोध भूल-सी जाती है।

भारतवर्ष में प्रधान रूप से तथा संसार के अन्य देशों में गौण रूप से, उच्च-वंश की धाक, परम्परा तथा भय भी जनता को एकमत करने में समर्थ हो जाता है। भारत के संस्कार में आज तक जन्मना ऊँच-नीच का भेद थोड़ा बहुत बना हुआ है (यद्यपि यह अब अधिक दिन रहनेवाला नहीं है)। इससे उच्चवंश का व्यक्ति सामने होते ही उसकी महानता की प्रेरणा थोड़ा झुका देती है, जिसमें मतभेद दब-सा जाता है। मानव भौतिक और मानसिक भय के कारण भी इतना पिस जाता है और उसमें इस प्रकार हीनता की भावना घर कर लेती है कि वह अपना तथा अपने मत की स्वतंत्रता का मूल्य ही नहीं आँक सकता। भयप्रद प्राणी की महानता के सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है।

किन्तु उच्चवर्ग की कल्पना तथा भय के कारण स्थापित यूथवत् एकता स्थायी नहीं हो सकती, ये दोनों घूँ के धरोहर हैं जिनके नष्ट होने में क्षण भी नहीं लगता ।

प्रचार (Propaganda)

प्रचार आज के युग का एक महान् अस्त्र है । आज यह एक प्रधान सामाजिक शक्ति है । प्रचार भी एक कला है, जिसके लिए योग्यता और अनुभव की आवश्यकता है । आज हर क्षेत्र में प्रचार काम कर रहा है । जनता राजनीतिक दलों में, विभिन्न पेशों में, विभिन्न स्वार्थों में, तथा विभिन्न श्रेणियों में बँटी हुई है । हर दल जनता को यूथ बनाना चाहता है । इतना स्पष्ट है कि प्रचार करनेवाले का कोई हेतु होता है, कोई स्वार्थ होता है—चाहे वह स्वार्थ भौतिक और व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक या अभौतिक । प्रचार जन-सम्मति को अपनी ओर मोड़ने का एक प्रधान साधन है ।

प्रचार एक सहज शब्द है, जिसकी विस्तृत व्याख्या तथा परिभाषा की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए; पर बहुजनोपयुक्त होने के कारण ही इसकी स्पष्ट सीमा रेखा का निर्धारण जरूरी हो जाता है । प्रचार मनुष्य के विचार पर असर डालते हैं । मनुष्य जब समझ जाता है कि श्रमिक चीज प्रचार है तो उसकी ओर से सावधान हो जाता है, इससे प्रचार का मतलब हल नहीं हो पाता । इसलिए प्रचार इस रूप में प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है कि वे व्यक्ति जिनको प्रचार का शिकार बनाना है, समझ ही नहीं सकें कि हम प्रचार के प्रभाव में हैं । प्रचार अचेतन अवस्था में धावा बोलता है; परन्तु यह पूर्णतया प्रयत्नज है । प्रचार-कर्त्ता जानता है, जान-बूझकर प्रचार करता है ; परन्तु अधिकांश छिपा रहता है । यदि सामने आता भी है तो प्रचारक बनकर नहीं, जनता का शुभेच्छु बनकर । इसीसे एक विद्वान प्रचार की परिभाषा देता है “विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में किसी एक पक्ष की ओर जनता की भावनात्मक प्रवृत्ति को मोड़ना, प्रायः अप्रत्यक्ष साधनों से, प्रचार कहलाता है” ।*

प्रचार का स्वरूप—राजनीति में प्रचार-कला से अभिन्न व्यक्ति जानता है कि सामूहिक संकट की स्थिति जनता को मतभेद भुलाने की प्रेरणा दिया

1. Conscious promotion of emotional attitude on one side of controversial subjects, usually by indirect means,—Propaganda and Promotional Activities by N. D. Lasswell etc.

करती है। पहले ही कहा जा चुका है कि संकट जनसमाक जो स्वतः यूथ बनाने में कितना समर्थ होता है, अस्तु समय-समय पर छोटे-बड़े कारणों को लेकर संकट (emergency) और संक्रान्ति की घोषणा शासनरत दल के लिए बड़ा लाभप्रद होता है; और ऐसा सदा किया जाता है। इस कार्य में सफलता समय तथा प्रचार कार्य की निपुणता पर निर्भर रहा करती है। आज भारत में कांग्रेस भी संकट की चर्चा समय-असमय किया करती है। परन्तु इस शब्द से कान अभ्यस्त हो गये और अतिपरिचयादवज्ञा के अनुसार वास्तविक संकट आने पर भी जनता हिलती-डुलती नहीं। अब यह नारा फेल कर रहा है।

इसकी चर्चा कई बार चलानी पड़ी है कि धृणा और विद्वेष जनता को शीघ्र उत्तेजित कर दिया करते हैं। राजनीतिज्ञ इस तथ्य से अभिज्ञ हैं, अस्तु किसी सामान्य शत्रु की ओर संकेत, समय-असमय उसकी चर्चा, सत्य या असत्य सभी बुराइयों में उसका हाथ बतलाना प्रचार का एक सुन्दर अस्त्र है। यदि यह शत्रु प्रत्यक्ष रहा, जनता सचमुच उसके प्रति सही या गलत बुरी भावना रखती है, तो यह प्रचार भी यूथ-निर्माण में बड़ा सहायक है। रूस में पूंजीपति तथा साम्राज्यवादी देश ऐसे ही सामान्य शत्रु हैं, जिनका हाथ रूसी सरकार की सभी कमजोरियों में रहता है तथा सभी सफलताओं में उनकी हार होती है। यही स्थिति लोकतंत्रवादी पश्चिमी देशों में कम्युनिस्टों की है। जब, कोई उपद्रव होता है, हड़तालें होती हैं तो उनमें न रहने पर भी कम्युनिस्ट के हाथ की कल्पना कर ली जाती है। भारत में भी बिचारे कम्युनिस्ट रेल-दुर्घटना, अव्यवस्था, हड़ताल आदि की जिम्मेवारियों से हमारी सरकार को बरी करने में सहायक हो जाते हैं या बहाना दे दिया करते हैं। पाकिस्तान में यह कार्य हिन्दुओं के सर पर है। चाहे वे डरकर सिमटे रहें, चूँ तक न करें, परन्तु सरकार के लिए तो अच्छे बलिदान के बकरे (scape-goat) हैं, जिनके सिर सारी बुराइयाँ लादी जा सकती हैं और जनता को उन्मत्त कर जनसंघात और यूथ बनाए रखा जा सकता है।

जब अपनी कमजोरी साफ होने लगती है तो पदासीन राजनीतिक दल का प्रचार भी अधिक होने लगता है। इसे तीव्र तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए सामान्य शत्रु के प्रति इतना विष उगला जाता है कि जनता उग्र जनसंघात में बदल जाती है और दंगे हो जाते हैं। कभी-कभी स्थापित सरकार के विरोधी दल की ओर से भी यह विषवमन इतना जोर पकड़ लेता है कि दंगों की भरमार हो जाती है। ये दंगे विरोधी दल को मिटा देने के बहाना भी देते हैं और विरोधी दल की शक्ति का भी परिचय पदारूढ़ दल के दिमाग में बैठा दिया करते हैं। भारत के विभाजन के पूर्व के हिन्दू-

मुस्लिम दंगों ने पाकिस्तान की स्थापना में कम सहायता नहीं की। बहुत बार तो शासक इन दंगों से डरकर दब जाता है और विरोधी दल की बात कभी सीधे और कभी घुमाफिराकर मान लेता है।

राजनीतिक दल कभी-कभी झांसा भी दिया करते हैं; कोई शिगुफा छोड़ देते हैं जिससे जनता आकर्षित हो जाती है। ऐसा विशेषतया चुनावों के अवसर पर हुआ करता है, इसे चुनाव का झांसा (election stunt) कहते हैं। प्रयत्न तो हर दल करता है कि कोई ऐसी चीज मिले जिसका उपयोग किया जा सके; परन्तु सबको सुन्दर अवसर नहीं मिलते। असमय का अविश्वसनीय या अप्रभावकर झांसा व्यर्थ होता है।

हमने जान-बूझकर राजनीतिक दल के प्रचार के स्वरूप पर ही अधिक ध्यान दिया है; परन्तु दूसरे धार्मिक और सामाजिक दल भी इन्हीं में से एकाधिक का प्रयोग करते हैं।

प्रचार की पद्धतियाँ—सामान्य प्रचारकों के तरीके देखकर उनकी ५ प्रधान पद्धतियाँ निर्धारित की जा सकती हैं:—

(१) यदि आपको अपने विचार रखने हैं तो लगातार उसे रखते जायें। अव्याहत उसीकी बात करें। कहा जाता है कि कई बार लगातार कहने से असत्य भी सत्य बन जाता है, जुबान रुकनी नहीं चाहिए।

(२) यह कभी स्वीकार मत करें कि जो पक्ष रखा है उसको छोड़कर उस विचार का दूसरा भी कोई पक्ष है। इसके लिए यदि विषय में तोड़-मरोड़ करनी पड़े तो कोई चिन्ता नहीं।

(३) इतना प्रचार करें कि आपके कार्य करनेवाले वीर तथा उसके विपरीत काम करनेवाले शैतान समझ लिए जायें।

(४) अपने पक्ष में उनलोगों के प्रमाण पेश करें जिनका जनता में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) स्थायी फलप्रद प्रभाव के लिए बच्चों की ओर ध्यान दें और अपने पक्ष का साहित्य पाठ्यक्रम में भी रखने का प्रयत्न करें।

अधिनायक शासन-प्रणाली वाले देश इन सभी पद्धतियों का विधिवत् प्रयोग करते हैं, विशेषतया शिक्षा पद्धति को अपने अनुकूल बनाकर ही वे सारे भावी समाज को एक ओर मोड़ लेते हैं।

प्रचार सर्वत्र सफल ही होता है यह नहीं समझना चाहिए। सभी अपना-अपना प्रचार करते हैं। अस्तु एक का प्रचार दूसरे के प्रचार को काटता रहता है। कार्य और सेवा-विहीन प्रचार निरर्थक तो होता ही है, साथ ही कोई भी प्रचार युग की चेतना के अनुरूप होने पर ही सफल हो सकता है।

विज्ञापन (Advertisement)

विज्ञापन भी एक प्रकार से प्रचार का ही बाह्य रूप है। प्रचार अज्ञात अवस्था में अपना कार्य करता है। प्रचार का शिकार कठिनाई से यह समझ पाता है कि उसपर प्रचार का प्रभाव पड़ रहा है; परन्तु विज्ञापन तो स्पष्ट ही बतला देता है कि जो कुछ कहा जा रहा है या दिखाया जा रहा है अथवा लिखा गया है वह अपनी बात के प्रचार के लिए। अस्तु, पाठक या दर्शक आसानी से तथ्यातथ्य का निर्णय कर लेता है और कभी-कभी तो सत्य को भी प्रचार समझ बैठता है। विज्ञापन के अनेक साधन हैं। दिवालों पर नारे लिखवाना, समाचार-पत्रों में चित्रादि के साथ अपनी बात रखना, पर्व बाँटना, लाउडस्पीकर से गाने के साथ लोगों को आकर्षित कर अपनी बात सुनाना आदि अनेक उपाय निकाले गये हैं और नित्य निकाले जा रहे हैं। समाचार-पत्रों में विज्ञापन देने की प्रणाली राजनीतिज्ञ कम अपनाते हैं; परन्तु बिल्कुल नहीं अपनाते ऐसी बात नहीं है। '४२ की क्रांति के समय सरकार की ओर से समाचार-पत्रों में तोड़-फोड़ के विपरीत सदा विज्ञापन निकाला करते थे। आज के युग में प्रचार के साधन बहुत विकसित हो गये हैं और खर्चीले भी हैं। इसीलिए उनमें भी एकाधिपत्य-सा हो रहा है, जनतंत्र का यह सबसे प्रबल शत्रु है।

वर्तमान युग में यूथ और जनसंघात—आज के युग ने जन-संघातों तथा यूथों को उत्पन्न करनेवाले तत्त्व बहुत बढ़ा लिये हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं—

(१) यन्त्र तथा पूंजीवाद ने उत्पत्ति के साधनों को केन्द्रित कर दिया है। दूर-दूर पर फैले हुए खेतों और चरागाहों के स्थान पर हजारों आदमियों की रोटि का साधन एक ही मिल में सीमित हो गया है। जबतक मिल चलता है, हजारों आदमी खा-कमा लेते हैं, परन्तु यदि किसी भी कारण मिल बन्द हो जाय या काम कम हो तो वे सभी लोग बेकार हो जाते हैं या सबों की आय कम पड़ जाती है। इस केन्द्रीकरण के कारण समाज के एक बड़े वर्ग का जीवन परावलम्बी हो गया है और एक वृहद् समूह के दुःख-सुख सामूहिक हो गये हैं। इसलिए एक विस्तृत पैमाने पर बेकारी, अर्द्ध-बेकारी और उसके फलस्वरूप जीवन की आवश्यकताओं से वंचित होने की स्थिति बनी रहती है। आर्थिक मन्दी का चक्र चलता ही रहता है और हड़तालों का ताँता लगा ही रहता है, जिससे जनसंघात उत्पन्न करनेवाले उत्तेजक तत्त्व वातावरण में सदा मौजूद रहते हैं।

जीविका के केन्द्रीकरण तथा परावलम्बन के साथ ही जीवन की अन्य सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी शहरों की जनता अन्यो पर निर्भर करती है। भोजन का अन्न दूसरी जगह से आता है और इस आगमन में पग-पग पर बाधाओं की सम्भावना बनी रहती है। यातायात के साधनों की अव्यवस्था या आकस्मिक गड़बड़ी, बड़े-बड़े सेठों के संचय, समय पर उचित मूल्य में अन्न बेचने से किसानों की आनाकानी, किसी अन्य राष्ट्र से समझौता या मतभेद हजारों-लाखों की थालियों पर असर डाल देता है। टंकी और पाइप की अव्यवस्था शहर भर में तहलका मचाती रहती है। मेहतरों की एक दिन की हड़ताल हैजे का कारण बन जाती है। इसलिए नागरिक वंचित होने की मानसिक स्थिति (Mental state of deprivation) से कभी भी मुक्त नहीं रह पाते।

ग्रामीण-जनता का जीवन इतना परावलम्बी नहीं है। वे अपने श्रमपर और प्रकृति पर बहुत अधिक भरोसा करते हैं; साथ ही अपने जीवन के अभावों और कष्टों को वे भाग्य का फल समझकर चुपचाप सह लेते हैं। उनकी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी नहीं होतीं। बहुत-सी आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनसे वंचित होने पर शहर वाले तिलमिला उठेंगे, परन्तु वे गाँववालों के ध्यान में ही नहीं आतीं। किसी भी अभाव को जो जितनी ही तीव्रता से अनुभव करेगा, उसमें मानसिक विकृति और असाधारणता उतनी ही अधिक उत्पन्न होगी और उतना ही उसका असर उस व्यक्ति के दूसरे कार्यों और चरित्र पर पड़ेगा।

(२) यूथ और जन-संघात के लिए संख्या एक आवश्यक तत्त्व है। भोड़ जितनी अधिक होगी, पारस्परिक उत्तेजना उतनी ही तीव्र होगी और उसमें सम्मिलित होनेवाले मनुष्य उपद्रवों और तोड़-फोड़ की जिम्मेवारी से अपने को उतने ही परे समझेंगे। गाँव छोटे-छोटे और दूर-दूर पर बिखरे होते हैं, उनकी आबादी बहुत अधिक नहीं होती। इसलिए मेले, उत्सव आदि को छोड़कर बहुत बड़ी संख्या में लोगों का एकत्रित होना कठिन है। इसके विपरीत नगरों में योंही हजारों इकट्ठे हो जाते हैं। इसीलिए उन्हें उभाड़ देना या स्वयं उभड़ जाना मामूली बात है। अस्तु नगरों में जनसंघात बनते ही रहते हैं। परन्तु गाँवों से शहरों में गये हुए लोग शहर के स्थायी निवासियों की अपेक्षा इनमें अधिक भाग लेते हैं। किसी भी जनसंघात में मजदूरों, गरीबों तथा विद्यार्थियों का सबसे अधिक भाग रहता है। मजदूर तथा समाज के निम्नवर्गवाले प्रधान रूप में ग्रामीण होते हैं। गाँववाले पीढ़ियों-से सीधे और विश्वासी हैं; इसलिए एक सरे के पीछे चल देना उनका स्वभाव-सा है। उनमें यूथ मनोवृत्ति अधिक

पाई जाती है। शहरों में रोटी कमाने के लिए जाने पर यह प्रणाली बनी रहती है, किंतु शहर की हवा, अभावों का अनुभव, पद-पद पर वंचित होने की वेदना, उन्हें अस्थिर कर देती है, और वे मानसिक-सन्तुलन खो देते हैं। इन सबों के साथ ही उनकी अस्थिरता का एक और बड़ा कारण होता है। नये आर्थिक और सामाजिक वातावरण के चपेटे में पुरानी मान्यतायें और पुराने अभिदेश के मापदण्ड (Scale of reference) व्यर्थ हो जाते हैं और काम नहीं कर पाते। आज तक वे जिस मापदण्ड से सारे आचरणों और कार्यों को मापते थे, उन्हें अच्छे और बुरे का ज्ञान जिससे होता था, उसकी व्यर्थता उन्हें अस्थिर कर देती है। यदि शीघ्र ही कोई नवीन मापदण्ड उन्हें मिल जाता तो यह चंचलता नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु कहीं भी इतनी शीघ्रता से मापदण्ड का परिवर्तन नहीं हो सकता, हमारे यहाँ तो प्राचीनता का मोह इसे और भी असम्भव बना देता है। फलस्वरूप उनका अन्तर छटपटाता है, बेचैन होता रहता है और इसकी प्रतिक्रिया उनके सारे कार्यों पर पड़ती है। जनसंघात इस अस्थिरता और बेचैनी को तृप्त होने का अवसर देते हैं।

इसी तरह विद्यार्थियों के भी जनसंघात में परिणत होने के मनोवैज्ञानिक कारण हैं। छात्र जीवन की जिम्मेवारियों से मुक्त रहता है, इसलिए अलड़क रहता है। उसकी आन्तरिक शक्ति और उसका यौवन कुछ करने के लिए व्याकुल रहते हैं। परन्तु पुस्तक-प्रधान शिक्षा और शारीरिक श्रम के अभाव में उस शक्ति के व्यायाम का अवसर नहीं मिलता। किशोरावस्था स्वतः एक समस्या है। अज्ञात-रूप में विकसित यौवन काम-वासना प्रज्वलित करता है, किन्तु उसका दमन ही अधिक करना पड़ता है। परस्पर विरोधी आदर्श और जीवन के चित्र उसे निश्चित आधार नहीं पकड़ने देते। उपन्यास, नाटक और काव्य रोमांटिक प्रेमी बनने की प्रेरणा देते हैं, किन्तु धर्म, दर्शन तथा समाज संयम की शिक्षा देते हैं। अपने वास्तविक प्राथमिक समुदाय से जो मापदण्ड और आदर्श मिलते हैं, उनका मेल नवीन अभिदिष्ट-समुदायों के आदर्श से नहीं बैठ पाता। फलतः पूर्णरूप में उनमें से किसी को ग्रहण करना सम्भव नहीं है। निश्चित आधार से रहित होकर वह अस्थिर हो उठता है, तत्काल जो कुछ मिलता है, उसे ग्रहण कर लेता है और कुछ क्षणों के लिए उसे ही अपना समझ लेता है। इसलिए कोई भी उत्तेजना उसे उत्तेजित कर देती है और उत्तेजना की स्थिति में उसकी मूल प्रवृत्तियाँ और उसके मूल संवेग नग्न होकर मूल-स्तर पर पहुँच जाते हैं। जो छात्र आज कांग्रेस, समाजवाद और साम्यवाद-विरोधी हिन्दू-सभा के प्रदर्शन में

सम्मिलित होकर शहीद बनने के लिए प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं, वे कल विपरीत-उत्तेजना मिलने पर हिन्दू-सभा का कार्यालय जला सकते हैं और उसके नेताओं को बेइज्जत कर सकते हैं। इस अस्थिरता का कारण मापदण्ड और आदर्श के अभाव को छोड़कर और क्या हो सकता है ?

(३) प्रचार जनता को यूथ और जनसंघात में परिणत करने में कितना समर्थ है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। आज दुनिया सिमट कर छोटी हो गई है, इससे उसके एक कोने से दूसरे कोने तक अपने मत का प्रचार करना सरल हो गया है। पुराने जमाने के मानव थोड़ी ही दूर पर रहनेवाले व्यक्तियों से अपरिचित थे। यातायात और आवागमन के साधनों के अभाव में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना खतरा मोल लेना था। आज आप आसानी से विश्व का कोना-कोना छान सकते हैं, कहीं भी अपने मत या अपनी बातें प्रचारित करने की युक्ति निकाल सकते हैं। प्रेस ने प्रचार का मुंह खोल दिया है। घंटों में कोई चीज छपवाकर लाखों व्यक्तियों तक पहुँचा सकते हैं। समाचार-पत्रों में से अधिकांश किसी न किसी विचार के प्रचार के लिए निकलते हैं। रेडियो ने प्रचार का रूप ही बदल डाला है। प्रचार के इन व्यापक साधनों ने एक नवीन-समस्या ही खड़ी कर दी है। इनसे एक नवीन-प्रकार के श्रोता उत्पन्न हो गए हैं, जिन्हें छितरे श्रोता (diffused audience) कहते हैं। पुराने वार्तालाप, भाषण आदि आमने-सामने के सम्बन्ध इनमें नहीं रहते, निर्व्यक्तिक सम्बन्ध रहता है। इससे जनसंघात में उत्पन्न होनेवाली उत्तेजना का दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह जितनी एक व्यक्ति के प्रचार से उत्पन्न होती है, उससे अधिक जन सम्भार की पारस्परिक-भावना से उद्दीप्त होती है। उत्तेजित आलोचना और प्रत्यालोचना बारूद का काम करती है। छितरे श्रोता में पारस्परिक उत्तेजना और आलोचना-प्रत्यालोचना के लिए जगह नहीं रहती। साथ ही संख्या का निर्देश (suggestibility of the numbers), अपार जनसमूह की उपस्थिति की भावना इसे अभिभूत नहीं कर पाती। परन्तु इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है और यदि प्रचार-कर्त्ता कुशल हुआ तो प्रेरणा और उत्तेजना व्यापक-रूप में फैला सकता है। प्रचारकर्त्ता और जनता में व्यक्तिगत सम्पर्क की जो मधुरता रहती है, वह इसमें नहीं मिल पाती और इसलिए प्रचारकर्त्ता अपने को जिम्मेवारी से विरत भी कर लेता है; आमने सामने के प्रचार में वह बनी रहती है। रेडियो और प्रेस जिनके हाथों में हैं, उनकी बातों के चक्कर में पड़ना जनता के लिए नितान्त स्वाभाविक है। आज ये सब प्रचार के विस्तृत-साधन जनता को यूथ बनाने में काफी समर्थ

हैं। उत्तेजित करनेवाली बातों के प्रचार द्वारा एक छोर से दूसरे छोर तक स्थान-स्थान पर उग्र जनसंघातों की सृष्टि की जा सकती है। तिल को ताड़ बना कर देश में आग लगा देना सरल है।

अधिनायक तंत्र में रेडियो और प्रेस पर इतने कड़े नियंत्रण रहते हैं कि जनता एकपक्षीय बातें ही सुन पाती हैं और पढ़ पाती है। जनतंत्रों में थोड़ी बहुत प्रेसों की स्वतंत्रता रहती है और सभी दल अपने-अपने विचार जनता तक पहुँचाने के लिए स्वतंत्र हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जनतंत्रों में प्रचार और विचार की सुविधा सबों को प्राप्त है। प्रेस, फिल्म तथा रेडियो कुछ थोड़े-से पूंजीपतियों के हाथों में आ गए हैं। अमेरिका के समाजशास्त्रियों ने इसका विस्तृत अध्ययन किया है। इन प्रचार के साधनों के लिए इतनी पूंजी आवश्यक है कि साधारण मनुष्य या कुछ सामान्य सम्पत्तिवाले अपने विचार-प्रचार के लिए इनका प्रयोग नहीं कर सकते। प्रेस की स्वतंत्रता पर अधिक जोर दिया जाता है और हम इसे जनतंत्र की एक प्रधान विशेषता मानते हैं; किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि प्रेस-स्वतंत्रता का अन्ततोगत्वा अभिप्राय हो जाता है कुछ प्रेसों के स्वामी पूंजीपतियों को अपने विचार-प्रचार की स्वतंत्रता। इंग्लैंड में अनुदार दल के हाथों में सबसे अधिक प्रेस हैं। एक लार्ड बीभरबुक का परिवार ही अनेक समाचार-पत्रों का मालिक है, इसलिए उन्हें 'प्रेस-लार्ड' कहते हैं। अमेरिका की स्थिति इससे भी बुरी है। फिल्म भाज प्रचार के मुख्य साधन हो रहे हैं। वे सधे टेलर, विज्ञापन आदि का प्रयोग प्रचार के लिए तो करते ही हैं, साथ ही स्वयं फिल्मों में रोमांटिक-प्रेम-कथाओं के भीतर प्रचार की जबरदस्त भावना भरी रहती है। नवयुवकों तथा नवयुवतियों को फिल्म द्वारा प्रचारित फैशनों में पीछे रहना अपमानजनक जान पड़ता है, फिल्मी गीत उनके होठों पर नाचते रहते हैं और इन फैशनों तथा गीतों के साथ प्रचारित-भावना और विचार भी हृदय में प्रवेश करते जाते हैं। हालीउड के प्रायः सारे फिल्म और परिणामतः संसार में चलनेवाले अमेरिकन-फिल्मों का एक बड़ा भाग ६ प्रधान कम्पनियों द्वारा ही निर्मित हैं। ऐसी स्थिति में प्रचार-स्वतंत्रता कहाँ तक सुरक्षित रह सकती है ?

रेडियो पर कई देशों में थोड़ा बहुत सरकारी नियंत्रण रहता है; इसलिए उससे सरकारी-पक्ष तथा पदारूढ़-दल के विचारों का ही प्रचार होता है। अमेरिका आदि में प्रेस के समान रेडियो भी स्वतंत्र है; इसलिए वह और भी पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली है। वहाँ रेडियो द्वारा विज्ञापन भी होते हैं। प्रेस-स्वतंत्रता-आयोग (Commission on the freedom of the

Press) के विवरण के अनुसार १९४५ में रेडियो की सम्पूर्ण-आय का चौथाई भाग केवल ५-विज्ञापन के हिसाबों से आया था । क्या इससे विचार-स्वातंत्र्य की आशा की जा सकती है ? उक्त विवरण ही बताता है कि अन्य देशों से रुपए कमाने वाले पूंजीपति सम्मान की भूख से प्रेरित होकर समाचार-पत्र निकालते हैं । मैं इसमें इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि एकमात्र सम्मान की भूख से ही पूंजीपति इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते, वरन् विज्ञापन और प्रचार के लिए और सबसे अधिक शक्ति के लिए प्रवेश करते हैं । इस युग में सम्मान और प्रचार वोट दिलाता है और वोट शक्ति का स्रोत है, क्योंकि राजसत्ता पर उसीका नियंत्रण है । ये पूंजीपति अपने लिए ही वोट नहीं चाहते, अपने बनाये हुए और खड़े किये हुए व्यक्तियों के लिए अधिक चाहते हैं । शक्तिप्राप्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक हो जाता है । शक्ति और अधिकार धनोत्पादन की कुंजी और राह भी दे सकते हैं और देते हैं । इस तरह प्रचार, सम्मान, वोट और सम्पत्ति एक दूसरे के सहायक और पोषक हैं ।

कुछ दिनों पहले तक हमारे देश में समाचार-पत्र केवल सिद्धान्त और विचार प्रचार के लिए निकाले जाते थे । लाभ की आशा बहुत कम थी, उन्हें जिलाये रखना उनके विचार से सहमत लोग अपना कर्तव्य समझते थे । आज भी ऐसा करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु किसी पूंजीपति की सहायता के बिना चलाया हुआ पत्र उसके विचार के मानने वालों तक ही सीमित होकर रह जाता है । शेष जन-समाज तक उसकी पहुँच नहीं हो पाती । इसलिए ऐसे पत्र कुछ दिनों तक टुकडुम-टुकडुम चलकर बन्द हो जाते हैं । पहले जिन पत्रों ने अपने विचार के कारण प्रसिद्धि पा ली थी, उनमें से अधिकांश अन्य व्यवसायों में पैसे पैदा कर पूंजीपति बननेवालों के हाथों में जा चुके हैं । इनके साथ ही कुछ पूंजीपति नई मशीनों और नई प्रणाली से नये समाचार-पत्र भी निकाल रहे हैं और वे सफल भी हो रहे हैं । हमारे यहाँ भी कई प्रेस-लार्ड हो गए हैं । प्रथम चरण में जिन्होंने साहस के साथ इस क्षेत्र में भी पैर बढ़ाया था, उनकी सन्तानों में से भी कुछ ने पैसे पैदा कर लिए हैं और आज वे कोरे सम्पादक नहीं रहे, उनकी पूंजी अन्य-क्षेत्रों में भी लगी हुई है । इस तरह केवल अखबार से पैदा करनेवाले सारे देश में चार-पाँच ही मिलेंगे । चाहे जो हो, अब भारत के प्रेसों की भी स्वतंत्रता भारतीय स्वतंत्रता के साथ ही समाप्त हो गई । इस अपहरण का श्रेय केवल देशी या विदेशी सरकार को ही नहीं दिया जा सकता, केन्द्रीकरण और यंत्रीकरण का यह अनिवार्य फल है । अभी भी सामान्य सम्पत्तिवाले स्थानीय पत्रों की

और बढ़ते हैं परन्तु उनकी चमक जुगनू से अधिक नहीं है और जन-समाज के विचार-परिवर्तन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

(४) प्रचार भी एक कला है, जिसका अन्य कलाओं के समान ही विकास हो रहा है । आज के वैज्ञानिक-युग के पास ऐसे साधन मौजूद हैं, जिनसे वह प्रचार की विभिन्न प्रणालियों पर प्रयोग कर सकता है और उनकी शक्ति और प्रभावोत्पादकता के तारतम्य की जांच कर सकता है । वह परीक्षा कर सकता है कि किन पद्धतियों से अधिक से अधिक जनता पर प्रभाव पड़ता है । इन परीक्षणों के फलस्वरूप दिन पर दिन प्रचार के सुधरे साधन काम में लाये जा रहे हैं और जनसमाज को प्रचार का शिकार बनाने का व्यवसाय जोरों से चल रहा है ।

वर्तमान जीवन ने जनसमाज को यूथ बनाने के साधनों का अत्यधिक विकास कर लिया है परन्तु यह विकास इकतरफा नहीं है । इस युग में ऐसे तत्त्व भी मौजूद हैं जो समाज को यूथ-मनोवृत्ति के विपरीत ले जाते हैं और इन्हीं की बदौलत एकाङ्गी प्रचार के जितने व्यापक प्रभाव की आशा या आशंका की जा सकती थी, उतना नहीं हो पाता । इन निरोधक तत्त्वों में मुख्य कुछ निम्न हैं—

(१) यह वैज्ञानिक युग है, हम सभी वस्तुओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना करते हैं । हमारा दृष्टिकोण प्राचीन काल जैसा विश्वासी तथा भावना प्रधान नहीं रहा । हमारी खोज की प्रवृत्ति हमें जिज्ञासु पर शंका-शील बनाती है । यह निश्चित है कि जन-संघात या यूथ मनोवृत्ति सरलता, विश्वास तथा भावुकता के वातावरण में ही अधिक पनपती है, जिसे विज्ञान दिन पर दिन साफ करता जा रहा है । निर्देश जनसंघात का प्रधान उत्पादक तत्त्व है, यह कहा जा चुका है, परन्तु आज का युग वाद-विवाद, सभा आदि के द्वारा अपने को अधिक निर्देश की पहुँच से परे खींच ले जा रहा है । इसका यह अर्थ नहीं है कि मानव इससे परे जा चुका है, परन्तु निर्देश की उत्तेजना का स्वरूप बदल रहा है । पहले जिन साधारण बातों पर उसमें उन्माद-सा छा जाता था उन को वह हँसकर या नाक-भौं सिकोड़ कर अथवा भौं चढ़ा कर टाल देता है ।

पुराने जमाने में या ग्रामीण जीवन में हम अपने पड़ोसियों से इतने सम्बन्धित थे और हैं कि उनके हर्ष-विषाद, दुःख-शोक में उत्तेजना पैदा हो जाना साधारण बात थी और है; परन्तु शहरों में पड़ोसी से कभी-कभी कोई मतलब ही नहीं होता । हम दूसरों की उत्तेजना दबा नहीं सकते तो अपने को उससे बचाकर अलग अवश्य कर सकते हैं ।

प्रचार के साधन बढ़े हैं पर उनका उपयोग सभी दल के, सभी देश के लोग करते हैं । हम एक दूसरे की आलोचनाएँ सुनते हैं । एक पक्ष जिस पद्धति, जिस शैली का प्रयोग करता है, उसका प्रतिपक्षी भी उससे श्रेष्ठ शैली

अपनाता है। यह क्रम बराबर चलता रहता है जिससे हम सब की मुन सकते हैं। बहुत से देशों के रेडियो सरकार के हाथ में हैं; परन्तु एक ही रेडियो मीटर बवल देने से विरोधी देश का प्रचार भी सुना दिया करता है। गत युद्ध के समय मित्र-राष्ट्रों ने बहुत प्रयत्न किया कि जर्मन और जापानी ब्रॉडकास्ट (रेडियो भाषण) नहीं सुनाई पड़ें परन्तु थोड़ी बाधा डालने के सिवाय वे और कुछ नहीं कर सके। ऐसी स्थिति में जनता का मन डोलते रहता है, वह यूथ नहीं बन सकती।

(३) पुराने जमाने में सरकार के पास नियंत्रण की उतनी शक्ति नहीं थी। आवागमन के साधनों के अभाव में सेना एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से नहीं जा सकती थी। आज सेना को भी रेडियो या बेतार से खबरें मिलती हैं; वह बात की बात में कहीं भी जमा हो सकती है। इससे उपद्रव पहले की अपेक्षा आसानी से दबा दिये जा सकते हैं।

पहले कई मामलों में दंड देने का अधिकार धर्मसत्ता और जनता की पंचायत को भी था, अस्तु जनता ऐसे मामले में टूट पड़ती थी। आज तो दंड देने का अधिकार केवल सरकार के ही पास है; इसलिए कुछ करते लोग डरते हैं। पहले बलात्कार आदि अभियोगों, प्रथा तथा लोकाचार के विपरीत स्त्री-पुरुष सन्बन्धों, धर्म के विरुद्ध आचरणों आदि का दंड पंचायतें देती थीं। अस्तु लोग ऐसे अपराधियों को मारना, पीटना और यंत्रणा देना अपना धर्म समझते थे। आज भी ऐसी घटनाओं से लोग उत्तेजित हो उठते हैं; परन्तु भय रहता है कि अपने हाथ में कानून लेने का फल कहीं भयंकर न हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ जनता जनसंघात बनकर अपने पुराने अधिकार का उपयोग करती है, वहाँ उसका कुफल भी भोगना पड़ता है। अनेक बार के कटु अनुभवों के कारण थोड़ी बहुत समझ जनता को आ गई है।

(४) प्राचीन काल में एक जनता बहुत बड़े अंशों तक संलग्न जन-समूह थी। एक ही प्रथा, एक ही लोकाचार, एक ही रीति-नीति में बंधे व्यक्ति इकट्ठे होकर जनता बनाते थे। अस्तु उनकी भावनाओं में इतनी निकटता थी कि उन्हें उल्लसित या उत्तेजित कर देना सरल था। आज शहरी जनता को समाजशास्त्री और राजनीतिक विशिष्ट जनता (specialised public) कहते हैं। विशिष्ट जनता या श्रोता का अभिप्राय उन व्यक्तियों के समूह से है, जिनमें एकत्व का बन्धन ढीला या अत्यन्त कमजोर हो। चुनाव के लिए एकत्रित जन-समुदाय को एक साथ बाँधनेवाला सूत्र चुनाव है; परन्तु एकता की अपेक्षा उनमें विभिन्नता ही अधिक है। कुछ लोग कपड़े के व्यापारी हैं, कुछ किराने के, कुछ मकान-मालिक हैं, कुछ किरायेदार, कुछ नौकर हैं,

कुछ मालिक । इन सबों का और सबों की रुचि भिन्न-भिन्न है । ऐसी स्थिति में उनमें सामान्यरुचि (Common interest) उत्पन्न कर उन्हें जनसंघात में परिणत कर देना थोड़ा कठिन है । विचारों की विभिन्नता भी आज के युग की विशेषताओं में से एक है । आज शिक्षा-दीक्षा तथा सम्पर्क की भिन्नता के कारण सांस्कृतिक स्तरीकरण (Cultural stratification) भी बहुत हो गया है । समाज सैकड़ों विभिन्नस्तरों में बँट चुका है । अस्तु जनता में एकत्व की कल्पना—कम-से-कम शहरी उच्च तथा शिक्षित मध्य वर्ग में, निराधार-सी ही लगती है ।

हमने आज के वैज्ञानिक यंत्र-युग में जन-संघात तथा यूथ के उत्तेजक तथा निरोधक-तत्वों को देखा । अब प्रश्न यह होता है कि इन दोनों में प्रबल कौन है और आज का मानव समाज यूथपन की ओर जा रहा है या विशिष्टीकरण (specialisation) की ओर, इसका ठीक-ठीक में उत्तर देना कठिन है । इतना ही कहा जा सकता है कि मानव में अभी भावुकता और उत्तेजना बनी हुई है, परन्तु दिन पर दिन वह संयम की ओर जा रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं । कई विद्वानों ने तोआ (Towa) विश्वविद्यालय के एक प्रयोग की चर्चा की है । उत्तेजित रूप में वहाँ छात्रों के बीच अपहरण के मामले का प्रचार किया गया । उस विषय पर पच्चे बाँटे गये । एक व्यक्ति कॉलेजों के सामने आया और नाटकीयरूप में पच्चे पढ़ने लगा । उसने कहा “अपराधी पकड़ा गया है, अपना अपराध स्वीकार करता है और उग्र जन-संघात उसे यंत्रणा देने जा रहा है । आपका क्या कर्त्तव्य होगा ?” इस में से केवल एक छात्र उस ओर दौड़ा । कुछ दिनों पूर्व यही घटना प्रायः सभी छात्रों को उत्तेजित कर देती ।

हमारे देश का शिक्षित छात्र समुदाय अभी भी शीघ्र उत्तेजना का शिकार हो जाया करता है । यदि उस आस्ट्रेलियन विश्वविद्यालय के समान हमारे यहाँ प्रयोग किया जाय तो विभिन्न प्रकार के कारणों से उत्तेजना की मात्रा भी विभिन्न होगी । हम कह सकते हैं कि वह साम्प्रदायिक मामले में उत्तना उत्तेजित नहीं होगा जितना राजनीतिक मामलों में । राजनीतिक मामलों में भी उत्तेजना देने का कार्य १९२१ के असहयोग आंदोलन से आरंभ हुआ । प्रारंभ में उत्तेजना बड़ी तीव्र थी । वह प्रथम उफान था । परन्तु कॉलेजों के विनयन और नियंत्रण के नाम पर उसे बराबर दबाया जाता था । १९२९ ई० के आंदोलन में उत्तेजना अपेक्षाकृत कम रही । '४२ में उग्र तो थी; परन्तु स्थायी नहीं । स्वतंत्रता के बाद से वह अत्यधिक उभड़ पड़ी है जिससे सरकार तथा शिक्षाधिकारी दोनों परेशान हो रहे हैं ।

सातवाँ प्रकरण

[सहयोग और संघर्ष]

समाज के अन्य लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध और हमारा बर्ताव समाज-शास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य विषय है, जो व्यक्ति और समाज के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बँटाता है। साधारण रूप में इस सम्बन्ध के तीन रूप हो सकते हैं—(१) सहयोगात्मक, (२) संघर्षात्मक, और (३) उपेक्षात्मक।

सहयोग

जब मानव दूसरों के श्रम में सहायता पहुँचाने के लिए अथवा साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम करता है तो उसके इस व्यवहार को सहयोग कहते हैं। सहयोग को ठीक समझने के लिए सहयोगी श्रम के स्वरूप की सम्यक् धारणा आवश्यक है, क्योंकि सहयोग श्रम पर ही निर्भर करता है। सहयोगी श्रम तीन प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) संसर्गीय श्रम (Companionate Labour)—अपने शुद्ध अर्थ में संसर्गीय श्रम उस श्रम को कहते हैं जिसमें कार्य की सुविधा की दृष्टि से अथवा कार्य की आवश्यकता से बाध्य होकर सहयोग नहीं दिया जाता, वरन् साथ काम करने से एक प्रकार का संसर्गजात रस मिलता है। वही सहयोग का मूल कारण है। कई बार प्रेमी रसोई घर में आवश्यकता नहीं रहने पर भी प्रेमिका के पास जाकर चूल्हे में आँच लगाने लगता है। कभी-कभी यह सहयोग कार्य में बाधा भी पहुँचाता है, परन्तु कार्य की चिन्ता सहयोग के लिए बाध्य नहीं करती। रहीम की नायिका को घर में आग लगने की चिन्ता नहीं है। इस आग के कारण वह फूले नहीं समाती। इसने उसे संसर्गीय श्रम का अवसर जो दिया, वह कहती है :—

आगि लागि घर जरिगा बड़ भल कीन ।

पिय के हाथ घइलवा भार भर दीन ॥

इस शुद्ध रूप के सिवाय संसर्गजात आनन्द का अंश जिस श्रम में थोड़ा बहुत मौजूद है उसे हम पूर्णरूप से संसर्गीय श्रम तो नहीं कह सकते, परन्तु उसमें इसका कुछ रस मौजूद है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। खेत में स्त्री-पुरुष साथ-साथ काम करते हैं, काम की दृष्टि से सह-श्रम तो आवश्यक है ही, साथ ही एक को दूसरे के निकट रहने के कारण जो आनन्द मिलता है, वह भी कार्य में प्रेरणा नहीं देता, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(२) पूरक श्रम (Supplementary Labour)—किसी काम में जिस सहश्रम के कारण वास्तविक सहायता मिलती है और कार्य की पूर्ति के लिए जो आवश्यक हो जाता है, उसे पूरक श्रम कहते हैं। एक बड़ा भारी लट्ठा उठाकर ले जाना है, एक आदमी के लिए यह असंभव है। दस-पाँच व्यक्ति मिलकर ही उसे ले जाते हैं। सब के श्रम का स्वरूप समान है और सब की आवश्यकता इसके लिए है। इस श्रम को पूरक श्रम कहेंगे क्योंकि एक का श्रम दूसरे के श्रम की पूर्ति करता है।

(३) विशिष्ट श्रम (Differentiated Labour) जब विभिन्न व्यक्ति एक ही उद्देश्य से और एक ही कार्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न श्रम करते हैं तो उनके श्रम को हम विशिष्ट श्रम कहेंगे। एक ही मकान बनाने के लिये कुछ मजदूर गड़्ढा खोदते हैं, गिलावा बनाते हैं और ईंट ढोते हैं। मिस्त्री ईंट जोड़ता है, बढ़ई लकड़ी फिट करता है और छानेवाला छाजन छाता है। यदि और दूर तक दृष्टि दौड़ाएँ तो इसके लिए लोहे की कड़ी कहीं बनती है, लकड़ी कहीं काटी जाती है और ईंटें कहीं पयती और पकती हैं।

विशिष्ट श्रम भी दो प्रकार के होते हैं :—(क) समक्ष विशिष्ट और (ख) परोक्ष विशिष्ट श्रम। समक्ष विशिष्ट श्रम का अभिप्रायः उस श्रम से है, जिसमें विशिष्टता तो रहती है, अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, पर वे आमने-सामने रहते हैं, और मिलकर साथ-साथ काम करते हैं। खेत बोन के समय एक व्यक्ति हल चलाता है, दूसरा बीज डालता है, तीसरा खाद देता है। वे अलग-अलग काम करते हुए भी साथ-साथ रहते हैं एक दूसरे के समक्ष।

परोक्ष विशिष्ट श्रम में कार्य करनेवाले एक दूसरे से दूर-दूर रहते हैं। एक का दूसरे से कोई मतलब नहीं होता, कभी-कभी तो अपरिचित भी रहते हैं।

सहयोग के विभेद—इन विभिन्न श्रमों को देखते हुए तथा जीवन में बरते जानेवाले सहयोगों के स्वरूप का विचार करते हुए हम सहयोग को दो भागों में बाँट सकते हैं :—(१) प्रत्यक्ष सहयोग और (२) अप्रत्यक्ष सहयोग।

प्रत्यक्ष सहयोग (Direct Co-operation)—इसके अन्तर्गत वे सारे सहयोग आते हैं, जिनमें मनुष्य साथ-साथ काम करते हैं। खेलने में, खेत बोन में, निराने में, लट्ठा उठाने में यह सहयोग रहता है। इस प्रत्यक्ष सहयोग में संसर्गीय श्रम भी रह सकता है, पूरक श्रम भी और समक्ष विशिष्ट श्रम भी। कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें साथ-साथ काम करने वाले एक ही काम कर सकते हैं या सामने रहते हुए ही अलग-अलग भी। लट्ठा उठाने वालों का श्रम भी इसके अन्तर्गत आता है और खेत बोन वाले और हल चलाने वालों का भी।

अप्रत्यक्ष सहयोग (Indirect Co-operation)—जब हमारा सहयोग प्रत्यक्ष न होकर, आमने-सामने न रहकर, अप्रत्यक्ष रहता है, तब यह सहयोग अप्रत्यक्ष कहलाता है। इस सहयोग में परोक्ष विशिष्ट श्रम होता है। श्रम विभाग इसी के विकास का फल है। इसमें मानव के काम बँट जाते हैं, वह अलग-अलग काम करता है तथा अपने कार्य के अंश में ही दक्षता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसमें फल की दृष्टि से हरेक का कार्य व्यर्थ है यदि दूसरों का श्रम उसमें न मिले। बड़ई हल बनाता है, परन्तु फाल बनाना वह नहीं जानता, यह काम लोहार का है। हल में फाल लग गया तो भी वह तबतक पूरा नहीं हुआ जबतक चमार की तांत का उपयोग नहीं किया गया। यह भी अप्रत्यक्ष सहयोग का उतना उलझा उबाहरण नहीं है, जितना आज के यंत्र युग में सर्वत्र देखा जाता है।

श्रमविभाग का फल

इस श्रमविभाग से कार्य में अत्यधिक दक्षता तथा पटुता आई है। आज सभ्यता का जो विशाल भवन खड़ा है, वह इस विभाग के बिना कभी संभव नहीं होता। एक ही मशीन के इतने विभिन्न अंग हैं कि एक व्यक्ति के लिए उनका ज्ञान असंभव है। अस्तु अलग-अलग अंगों के अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं। इससे विस्तृत पैमाने पर बिखरे मानवों के विराट् सहयोग सम्भव हो सके हैं। समाज की विषमताएँ मालिक-गुलाम, स्वामी-नौकर के भेद सब इसके ही फल हैं।

कार्यकर्त्ताओं के मन पर इस अत्यधिक यंत्रीय श्रम-विभाग के तीन विपरीत प्रभाव पड़े हैं, जिनकी ओर वर्तमान श्रम मनोविज्ञान (Labour psychology) के पंडितों का ध्यान जाने लगा है :—

(१) मनुष्य अपनी निर्मित वस्तुओं को देखकर एक संतोष और आत्म-चेतना का अनुभव करता है, उसे अपनी शक्ति पर विश्वास होता है और

अपनी निमित्त वस्तुओं पर अभिमान एवं प्रेम । कुटीर शिल्पकार शुरू से अन्त तक अपनी पूरी चीज स्वयं बनाता है और यदि गौण रूप में किसी से सहायता लेता है तो अपने परिवार के व्यक्तियों से ही । किन्तु मशीन का श्रमिक किसी भी वस्तु को अपनी नहीं कह सकता क्योंकि कोई भी वस्तु वह पूरे रूप से बनाता ही नहीं । उस वस्तु के एक अंश के निर्माण में उसकी पूरी शक्ति और पूरा श्रम लग जाता है । वस्तु से कोई नाता न होने के कारण श्रम में वह आनन्द नहीं पाता और उसे मानसिक तृप्ति नह होती ।

(२) एक कालीन बुननेवाला अपना कार्य कर रहा है । काम करते ही करते उसने अनुभव किया कि थोड़ा हाथ घुमाने से या बदल देने से कालीन पर एक नया सुन्दर चित्र बन जायेगा या उसका रूप थोड़ा सुन्दर हो जायगा । इस नवीनता की भावना से, अपनी बुद्धि और अपने हाथ की योग्यता अभिव्यक्त करने की कामना से उसे एक नवीन प्रेरणा मिलती है । वह पूर्वपिक्षा कई गुना अधिक परिश्रम करने लगता है । वह भिड़ता है और जब कभी समय मिलता है अपने कार्य में जुट जाता है ; किसी के दबाव से नहीं, लालच या लोभ के कारण नहीं वरन् उसे अपने कार्य में एक आनन्द, एक आत्मविश्वास प्राप्त होता है ; जो काव्यरत कवि, चित्र में लीन चित्रकार नवीन शोधों की सफलता के निकट पहुँचे हुए वैज्ञानिक के मानसिक आनन्द से रत्ती भर कम नहीं होता । सफलता के लिए वह प्राण-पण से प्रयत्न करता है और सफल हो जाने पर लोगों को दिखाता है, प्रशंसा पाता है और प्रसन्नता से नाच उठता है । किन्तु यंत्र के श्रमिक को यह आनन्द कहाँ ? लाख कोशिश करने पर भी वह उसमें निजत्व नहीं ला सकता । प्रयत्न से उसका हाथ तेज हो सकता है, वह अधिक माल तैयार कर सकता है यद्यपि उसकी सफलता भी मशीन के दूसरे अगों और उसे सामान देनेवाले अन्य श्रमिक पर निर्भर है परन्तु उसमें आत्म प्रेरणा से परिवर्त्तन करना या सुधार लाकर आत्म-संतोष पाना असंभव है । उसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता । यंत्र समान-आकृति, समान रूप-रंग, समान-गुण की चीजें ही तैयार कर सकता है । जिस प्रकार कुटीर शिल्पकार निमित्त वस्तुओं के बहु-रंगों पर ही अपनी सफलता समझता है उसी प्रकार यंत्र की सफलता समानता में ही, एक ही सीधी चीज बनाने में मानी जाती है । अपने इस नवीनता रहित कार्य से श्रमिक ऊब जाता है । अपने श्रम में किसी प्रकार वह अपना दिल नहीं दे पाता । उसे कार्य की प्रेरणा कार्य से नहीं मिलती, पेट से मिलती है, अस्तु वह वाध्यता और असहायावस्था का अनुभव करता है ।

(३) घरेलू कारीगर हर क्षण, अपने कार्य की हर गति में, उन लोगों के संसर्ग में रहता है, जो उसे जीवन में प्रिय हैं। एक बुनकर का जाल घर के बाहर फँसाया जाता है, बुनकर पाई करता है, स्त्री माँड़ी लगाती है, बच्चा सूता सुलझाता है। काम सुगमता से होता है, एक दूसरे को सहायता मिलती है, साथ ही संसर्गजात आनन्द का आस्वादन भी होता है। संसर्गीय श्रम का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है कि काम में संसर्ग की प्रेरणा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस संसर्गजात रस के हट जाने पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका एक सुन्दर उदाहरण १९३७ से १९४३ तक खदानों में मिलता था। १९३७ में कानून के द्वारा स्त्रियों को खानों के भीतर काम करने से रोक दिया गया था जो १९४३ तक लागू रहा। श्री राधा कमल मुखर्जी ने अपनी 'भारतीय श्रमिकवर्ग'* नामक पुस्तक में इस नियम का फल मजदूरों की कार्यशक्ति तथा आय पर क्या पड़ा, इसके सुन्दर आँकड़े दिये हैं। आपने बतलाया है कि स्त्री-पुरुष मिलकर तीन टबों को कम-से-कम काट लेते थे और लाद देते थे। इस नियम के कारण पुरुष को अकेला एक दिन में एक टब कोयला काटना और लादना भी मुश्किल हो गया। फलतः उसकी आय बहुत कम हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस शक्ति-ह्रास के कई कारण हैं। दो आदमी मिलकर एक आदमी से दूना ही काम नहीं करते कुछ अधिक भी करते हैं। साथ ही अकेले कुछ कार्य टेढ़ा भी हो जाता है; परन्तु इतना निश्चित है कि इस ह्रास में संसर्गजात रस के अभाव का भी काफी हाथ है। इसमें कितना अंश अन्य कारणों का है और कितना संसर्गजात आनन्द का यह बतलाना कठिन है।

यंत्रों के अत्यधिक श्रम-विभाग के फलस्वरूप मशीन का मजदूर कहीं काम करता है और उसकी स्त्री उस मिल में कार्य करती भी है तो अन्यत्र। मजदूरों का काम इससे और भी रूखा हो जाता है। मिल के काम से वे इतना थक जाते हैं कि घर आने पर भी पारिवारिक रस का उचित उपभोग नहीं कर पाते। फलस्वरूप काम बोझ हो जाता है। रविवार के दिन मिल-क्षेत्र में जाने का जिसे कभी अवसर मिला है, वह इससे परिचित होगा।

संघर्ष (Conflict)

जब मानव एक दूसरे का विरोध करता है, एक दूसरे के पथ में रोड़ा अटकाता है या अटकाने की कोशिश करता है, उसे हम संघर्ष कहते हैं।

संघर्ष के अनेक रूप होते हैं, जिन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है :—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ।

प्रत्यक्ष संघर्ष—जब मानव प्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे की हानि करता है तो हम उसे प्रत्यक्ष संघर्ष कहते हैं । समर-भूमि से लेकर विरोधात्मक प्रचार, शीत-युद्ध (Cold war), मुकदमेबाजी तक में प्रत्यक्ष संघर्ष है । प्राचीन काल के द्वन्द्व-युद्ध इसी के अन्तर्गत आयेंगे ।

अप्रत्यक्ष संघर्ष—जब व्यक्ति और समुदाय एक दूसरे के पथ में प्रत्यक्ष बाधा नहीं देता परन्तु इस प्रकार का कार्य करता है कि दूसरे के उद्देश्य की प्राप्ति में विघ्न हो तो अप्रत्यक्ष संघर्ष उत्पन्न होता है । दो अप्रत्यक्ष संघर्ष करनेवाले कभी एक दूसरे की संघर्षमयी भावना से परिचित रहते हैं और कभी-कभी नहीं भी रहते हैं । मानव-जीवन में किसी न किसी रूप में संघर्ष रहता ही है ।

प्रतियोगिता (Competition)

प्रतियोगिता अप्रत्यक्ष संघर्ष का ही एक रूप है । इसमें प्रतियोगी का व्यक्ति गौण है वस्तु प्रधान । जब समाज में किसी वस्तु की कामना करने वाले अधिक होते हैं और वस्तु परिमित, तो हर इच्छुक उसे पाने के लिए कोशिश करता है और इसमें एक दूसरे से बढ़ जाना चाहता है । इस भावना को प्रतियोगिता कहते हैं । प्रतियोगिता भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के पदार्थों के लिए हो सकती है । एक ही पदार्थ के व्यापार करनेवाले अपने माल के गुण बढ़ाकर, सस्ता बेचकर और कभी बाजार को माल से पाटकर (dump) एक दूसरे को परास्त कर देना चाहते हैं । यह प्रतियोगिता का सीधा उदाहरण है । समाज में प्रतिष्ठा तथा पद सीमित होते हैं । किसी भी सभा या संस्था का एक ही सभापति होगा, नेतृत्व का अधिकार एकाध व्यक्ति को ही दिया जा सकता है । ऐसी स्थिति में इस पद के काफी लोगों में गहरी प्रतियोगिता स्वाभाविक है । यूरोप में तथा मध्ययुगीन भारत में स्त्री-प्रतियोगिता का एक बड़ा कारण थी । आज भी यदि प्रेम-विवाह प्रचलित होगा तो स्त्री के लिए प्रतियोगिता स्वाभाविक बात हो जायेगी ।

प्रतिद्वन्द्विता (Rivalry)

जब मानव का ध्यान वस्तु से हटकर प्रतियोगी व्यक्ति पर चला जाता है, तो प्रतियोगिता प्रतिद्वन्द्विता में परिणत हो जाती है । यह कहा जा चुका है कि प्रतियोगिता निर्व्यक्तिपरक (impersonal) भावना है । इसमें वस्तु

की ओर ही ध्यान रहता है। कभी-कभी तो यह इतनी सूक्ष्म होती है कि व्यक्ति आँख से ओझल ही रहता है। परन्तु ऐसा सदा नहीं होता। मानव का मन स्थूल पदार्थों को शीघ्र ग्रहण करता है। इससे प्रतियोगी प्रतियोगिता का मूर्त्त प्रतीक बन जाता है। पद के लिए यदि गहरी प्रतियोगिता एक व्यक्ति या दल से रही और लगातार इसकी पुनरावृत्ति होती रही, एक ही व्यक्ति अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में सदा बाधक बनता रहा तो मनुष्य का ध्यान व्यक्ति की ओर ही केन्द्रित हो जाता है, वस्तु गौण बन जाती है। राजनीतिक नेताओं की घोर दुश्मनी और भयंकर प्रतिहिंसा इसी भावना का उग्र रूप है।

प्राचीन काल में मानव अपनी हृदयगत भावनाओं को इतना छिपा नहीं सकता था। आज तो अपने क्रोध और अपने प्रेम की अत्यधिक अभिव्यक्ति करनेवाला जंगली और असभ्य कहा जायगा। पुराने जमाने की वीर-गाथायें इस प्रकार की उग्र अभिव्यक्तियों से भरी पड़ी हैं। फलस्वरूप किसी भी क्षेत्र की प्रतियोगिता आसानी से उग्र प्रतिद्वन्द्विता में परिणत हो जाती थी। अब हमने कुछ संयम भी सीखा है और कुछ अपनी भावनाओं को भीतर ही भीतर पिघलाना, सड़ाना और अचार बनाना भी। इससे हमारा भीतर-बाहर एक नहीं रह गया। हृदय में बंद रहते भी मित्रता के शब्द मुख में लाना हमारा दैनिक व्यवहार हो गया है, इससे हमारी मित्रता न तो उतनी गाढ़ी रह गई है और न शत्रुता उतनी उग्र; किन्तु प्रतिद्वन्द्विता के भाव तो अवश्य ही नरम पड़ गये हैं।

सहयोग तथा संघर्ष के आधार

मानव सहयोग के लिए हाथ तब बढ़ाता है, जब उसकी रुचि, उसके स्वार्थ, उसके उद्देश्य किसी के साथ एक हों। इस एकता के दो रूप हो सकते हैं :— (१) दोनों की रुचि सामान्य हो। दोनों एक ही वस्तु की प्राप्ति करना चाहते हों और वह अकेले सम्भव न हो। परन्तु इस एकता के लिए एक शर्त है, यदि वह वस्तु ऐसी हो जिसे व्यक्तिगत नहीं बनाया जा सके और जिसका सब लोग बिना एक दूसरे को बाधा पहुँचाये उपभोग कर सकें। परिवार की प्रतिष्ठा और उन्नति, धर्म और सिद्धान्त के प्रचार आदि में सहयोग इसीलिए स्थायी होते हैं कि इन्हें आसानी से सब लोग पा सकते हैं। भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए वहीं तक सहयोग सम्भव है जहाँ तक व्यक्तिगत रुचि बाधक नहीं बन सके। यदि प्राप्य वस्तु इतनी परिमित हो, कि उसे एकाध व्यक्ति या समुदाय ही व्यक्तिगत बना सकें, तब सामान्य आलम्बन

संघर्ष का जन्म देगा । प्रतियोगिता का मूल जन्मदाता वही है, यह कहा जा चुका है । युद्ध आदि उसी से उत्पन्न होते हैं । (२) एकता का दूसरा रूप जो सहयोग को जन्म देता है, सम-स्वार्थ है । सम-स्वार्थ सामान्य स्वार्थ से भिन्न है । सामान्य स्वार्थ में एक ही वस्तु आलंबन होती है, सम-स्वार्थ में मिलता-जुलता उद्देश्य होता है । किसी मिल के मजदूरों का स्वार्थ समान है । यदि मजदूरी बढ़ेगी, अन्य सुविधाएँ दी जायेंगी, तो सबों को सुख होगा । इसी प्रकार मजदूरी कम करना, कच्चे माल की उपलब्धि सरल तथा सस्ती करना, चुंगी घटवाना आदि मिल-मालिकों के सम-स्वार्थ हैं । इस कार्य में सब मिल-मालिक अधिक से अधिक एक दूसरे को सहयोग देंगे । सहयोग का यह दूसरा आधार वहीं तक सीमित है जहाँ तक सम-स्वार्थ है । ये मिल-मालिक उपरोक्त कार्यों के लिए एक दूसरे को सहयोग देंगे, परन्तु उनकी प्रतियोगिता तो बनी ही रहेगी, जो अवसर आनेपर सारे सहयोग की भावना को डुबा देगी । प्रथम प्रकार का सहयोग—सामान्य रुचि से उत्पन्न, अधिक स्थायी है, जो विपत्ति आने पर अधिक मजबूत ही होता है । मानव सामान्य विपत्ति के सामने रहने पर जितना एक होता है उतना विजयोल्लास के पश्चात् नहीं, परन्तु दूसरे प्रकार का सहयोग तो एक प्रकार का सामयिक समझौता होता है जो काल व्यतीत हो जाने पर स्वतः टूट जाता है ।

संघर्ष के भी दो आधार होते हैं—प्रथम सीमित सामान्य रुचि से उत्पन्न जिसका विवेचन हो चुका है, और द्वितीय असमरुचि से । एक पूरब जाना चाहता है तो दूसरा पश्चिम । एक समाजवाद चाहता है तो दूसरा जनतंत्र और पूँजीवाद । धार्मिक विभेद, प्रजातीय घृणा तथा कटुता इसी भावना से उत्पन्न हैं, जो धीरे-धीरे परम्परागत होकर जड़ जमा लेती हैं ।

सहयोग संघर्ष का द्वन्द्व

जीवन में सहयोग मूल है या संघर्ष; इस विषय पर विद्वानों में काफी विरोध और मतभेद रहा है और आज भी है, विशेषतया डाबिन के जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त के पश्चात् । डाबिन के विपरीत प्रिंस कार्पाटकिन ने पशु और जीव-जगत् के अनेक उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पशु अपने जीवन की रक्षा सहयोग के बल पर ही करते हैं । उनमें बड़ा गाढ़ा सहयोग है । संघर्ष तो प्रकृति से करना पड़ता है, जिसमें अधिकता रहते भी कभी-कभी जीवनोपयोगी सामान आसानी से नहीं मिलते जाड़े में बर्फ के नीचे दब जाते हैं । ऐसे समय जीव प्रकृति से लड़ता है । सहयोग के सहारे उपनिवेश बनाकर या प्रवास कर कार्पाटकिन के अनुसार,

मानव ने सहयोग का विकास किया है और आज तो वह ऐसे दुर्बल और पंगु की रक्षा भी करता है । जो जीवन-संघर्ष में बिना सहयोग के टिक नहीं सकते ।

आज के विद्वान बड़ी संख्या में प्रतियोगिता और संघर्ष को ही मूल मानते हैं । पूँजीवादी-युग में जहाँ मुक्त प्रतियोगिता भी सामाजिक जीवन का सर्वोच्च नारा माना जाता है, प्रतियोगिता को ही सर्वोपरि मानना स्वाभाविक है ।

वस्तुतः मानव-जीवन इतना उलझा हुआ है कि उसमें एक ही भाव की स्थिति मानना ठीक नहीं है । मानव में सहयोग और संघर्ष का द्वन्द्व मौजूद है । वह कभी भी दोनों में से एक से रहित नहीं हो सकता । हमें हर क्षण संघर्ष का सामना करना पड़ता है । और एक से संघर्ष करने के लिए हम दूसरे का सहयोग करते हैं । इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति से हमारे संघर्ष और सहयोग साथ-साथ चलते रहते हैं । जिस प्रकार जीवन में राग और द्वेष, प्रेम और घृणा, साथ-साथ निवास करते हैं, उसी प्रकार संघर्ष और सहयोग भी एक ही साथ रहते हैं । हम कह सकते हैं कि सहयोग संघर्ष में भी होता है और संघर्ष सहयोग में भी । किसी से संघर्ष करने पर हम कम-से-कम उसकी बराबरी स्वीकार करते हैं और संघर्ष की स्थिति में हमारा सहयोग अपने आदमियों से अधिक गाढ़ा होता है ।

समाज से संघर्ष मिटाकर सहयोग की ही स्थापना का प्रयत्न अमेरिका में कई बार थोड़े पैमाने पर अलग बस्तियाँ बताकर किया गया । इस कार्य में बड़े-बड़े मनीषी लगे हुए थे, परन्तु इनकी बसाई यूटोपियन (utopian) बस्तियाँ स्थिर रह नहीं सकीं और यह स्वर्ग की कल्पना कभी पूरी नहीं हुई ।

वास्तव में आज का मानव-जीवन इतनी प्रतियोगिता से भरा हुआ है कि उसे हटा देने पर कार्य की प्रेरणा ही नहीं रह जाती, वह आलसी तथा अकर्मण्य बन जाता है । रूस में लेनिन को कई लेख लिखकर श्रमिकों में प्रतियोगिता की भावना विकसित करनी पड़ी । मनुष्य में अभी इतना अहम् है कि वह इसकी तृप्ति दूसरों से अपनी उच्चता साबित करने में ही पाता है । प्रतियोगिता उसी का अवसर देती है । साथ ही इस प्रतियोगिता में विजयी होने के लिए भी मनुष्य दूसरों को सहयोग देता है और लेता है । आज के विकसित समाज में एक व्यक्ति के गुण तथा योग्यता व्यर्थ है, यदि वह दूसरों को योग नहीं दे । इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतियोगिता मूलभूत भावना है । जीवन में उसका स्थान सहयोग से बड़ा नहीं हो सकता । अहम् की तृप्ति के लिए ही सहयोग आवश्यक है । अहम् संकुचित धारणा भी है और व्यापक भी । हम अपने परिवार, जाति और देश मात्र को अहम् के अन्तर्गत लाते हैं । 'मे' के समान 'मेरे' की भी भावना उतनी ही प्रसादिनी

हैं, मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा देश आदि प्रवृत्तियाँ अपने से सहयोग और बाहर से संघर्ष की प्रेरणा देती हैं ।

संस्कृति और सहयोग-संघर्ष का द्वन्द्व

इतना स्पष्ट है कि मानव में सहयोग और संघर्ष का द्वन्द्व सनातन रूप में बैठा हुआ है । किसी भी युग में या किसी भी देश में संघर्ष या सहयोग की भावना के अभाव की कल्पना गलत मालूम होती है । यही कारण है कि पुराने जमाने से विचारकों में से कुछ ने एक तत्त्व पर ध्यान दिया, किसी ने दूसरे पर । सर्वदा सर्वत्र दोनों रहे हैं और रहेंगे । परन्तु सहयोग-संघर्ष का स्वरूप, द्वन्द्व और सामंजस्य संस्कृति पर काफी हद तक निर्भर करते हैं । पशुओं के सहयोग तथा संघर्ष प्राकृतिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से संचालित होते हैं । इसीलिए उनमें स्पष्टता रहती है । परन्तु मानव-समाज ने संस्कृति तथा सभ्यता का विशाल भवन जो खड़ा कर लिया है वह उसकी प्राकृतिक प्रेरणाओं पर भी नियंत्रण करने लगा है । यही कारण है कि इस द्वन्द्व की रेखा भी संस्कृति-सापेक्ष है ।

मानव किस उद्देश्य से कार्य करे, जीवन की उसकी सबसे बड़ी कामना क्या है, किस रूप में उसका अहम् तृप्त हो तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति वह किस पद्धति से करे; यह संस्कृति निर्धारित करती है । कहने का अभिप्राय यह है कि मानव अपनी पूर्णता समाज की आँखों से देखना चाहता है । हर समाज की पूर्णता की परिभाषा भिन्न है । समाज व्यक्ति का जो आदर्श बनाता है, व्यक्ति उसी ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है । अमेरिका की एक आदिम जाति डाकोटा के सम्बन्ध में बतलाया जाता है कि वह सम्पत्ति एकत्र करना अपमान समझती है । निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर घोड़ों और पशुओं की हत्या कर देती है । किन्तु अमेरिका के गोरे बड़ी सम्पत्ति छोड़ कर मरने में अपना गौरव मानते हैं । ऐसी स्थिति में निश्चित है कि गोरों में प्रतियोगिता होगी, धन बढ़ाने में, परन्तु उसमें होड़ होगी धन लुटाने में । कई जातियों में शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन आदर का कारण है । उनमें लोग बलवान होने का ही प्रयत्न करेंगे । धन इकट्ठा करने और बल प्रदर्शन की भावना प्रतियोगिता को अधिक प्रश्रय देती है, परन्तु धन लुटाने की कम । इससे स्पष्ट है कि समाज का आदर्श ही हमारे भीतर सहयोग और संघर्ष की अधिकता और न्यूनता का जनक है ।

समाज आदर्श निर्धारण के द्वारा हमारे मन में सहयोग या संघर्ष की भावना भरता है, इतना ही नहीं, इस आदर्श प्राप्ति के लिए हमें कहाँ तक

सहयोग तथा कहीं तक संघर्ष का आश्रय लेना चाहिए, यह भी समाज बतलाता है। घन एकत्रित करने के लिए कौन-कौन से उपाय काम में लाये जा सकते हैं उनमें क्या विचार करना चाहिए, आदि बातें भी संस्कृति और लोकाचार पर निर्भर करती हैं। आज का सभ्य युग किसी प्रकार की भी प्रतियोगिता को, किसी भी असत्याचरण को बुरा नहीं मानता। समाज का यह निर्देश, समाज की यह स्वीकृति कहीं हमें सहयोगी बनाती है और कहीं संघर्षी।

किस व्यक्ति के साथ संघर्ष करना चाहिए और किसके साथ नहीं, यह भी समाज ही बताता है। बहुत-सी जातियों में भाई से संघर्ष करना उचित नहीं माना जाता और कई जातियों में उससे संघर्ष अनिवार्य है। इससे हम कह सकते हैं कि संघर्ष और सहयोग के स्वरूप पर संस्कृति का बहुत बड़ा नियंत्रण है। संघर्ष भावना की अभिव्यक्ति भी पूर्णतया समाज-सापेक्ष है। पुराने जमाने में संघर्ष की भावना आते ही द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारना नियम-सम्मत था। रूस का महान कवि पुश्किन एक स्त्री के लिए द्वन्द्व-युद्ध में घायल हुआ और उसी चोट से मरा। भारत का प्रथम गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स भी द्वन्द्व-युद्ध में भाग ले सकता था। इसके लिए ललकारने पर भाग खड़ा होना अपमानजनक तथा कायरता का सूचक था। आज तो इस प्रकार के द्वन्द्व जेल और फांसी के कारण बनेंगे।

सहयोगात्मक तथा संघर्षात्मक संस्कृति

संस्कृति का सहयोग, संघर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध देखकर ही कुछ विद्वानों ने सहयोगात्मक और संघर्षात्मक संस्कृति के दो भेद किए हैं; किन्तु मेरी दृष्टि से तीन भेद होने चाहिए :—सहयोगात्मक, संघर्ष-सहयोगात्मक तथा प्रतियोगिता-प्रधान। (१) सहयोगात्मक से मेरा अभिप्राय उन संस्कृतियों से है जो अपने आदर्श तथा स्वीकृति के द्वारा सहयोग की ही प्रेरणा देती हैं। वहाँ व्यक्ति समष्टि में अपना लय कर देने में ही अपने को पूर्ण समझता है। समाज से अलग व्यक्ति का बहुत कम अधिकार है। यदि कुछ है भी तो वह बिना किसी संकोच के समाज के लिए समर्पित हो जाता है, ऐसी संस्कृतियों में प्रतिस्पर्धा बहुत कम पनप पाती है, यदि होती भी है तो त्याग की। वह व्यक्ति को समाज से अलग करके केवल अपने को ही देखने की भावना नहीं देती। इसलिए वह विषंगीकारक (Disassociative) नहीं होती।

(२) बाह्य-संघर्ष आन्तरिक सहयोग की भावना देता है। सभ्यता के आरंभ में प्रकृति ने एक ओर बरदानों की गोद फैलाए रखी तो दूसरी ओर मानव को संघर्ष के लिए भी बाध्य करती रही। इसलिए वह उससे सामूहिक

रूप में लड़ता हुआ ही बढ़ता रहा। आज भी वह युद्ध चल रहा है, परन्तु प्रकृति सामने से हटकर ओट में चली गई है। प्रकृति के वरदानों के उपयोग और उपभोग के लिए एक समुदाय दूसरे से आदिकाल से ही लड़ता रहा है। यह संघर्ष अपनी स्थिति की रक्षा के लिए ही मनुष्य को अपने समुदाय में एक दूसरे से अधिक संलग्न कर दिया करता है। दैनिक जीवन में भी संघर्ष की स्थिति में साथ देनेवालों के बीच जितना अपनापन देखा जाता है उतना सामान्य स्थिति में नहीं। इस कोटि में वे संस्कृतियाँ रक्खी जायेंगी, जिनमें “पर” से लड़ते रहने पर भी “अपनों” को सहयोग में आबद्ध रहने की प्रेरणा मिलती है।

सहयोगात्मक संस्कृति के लिए मैक्सिको की जूनी तथा संघर्षात्मक संस्कृति के लिए क्वाकिउटल जातियों को उदाहरण माना जाता है। मैंने सांस्कृतिक आदर्श (Culture Pattern) के प्रसंग में इन्हें विष्णु और रुद्र संस्कृति के अन्तर्गत रखा है और इनमें जगाये जानेवाले संस्कारों तथा मनोवृत्तियों की चर्चा की है। रूथ विनजेल तथा रूथ वेनेडिक्ट ने जूनी परिवारों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे एक दूसरे की सहयता बिना प्रतिदान की भावना के करते हैं। परती पड़ी हुई जमीन किसी की कोई भी माँगकर आवाद कर सकता है। इसे अस्वीकार करना लोकाचार के विपरीत है। अपने पास भोजन नहीं रहने पर किसी से माँगकर कोई भी खा सकता है। इसमें न तो माँगने वाले को लज्जा होगी, न देने वाले को अभिमान। यह दया की भीख नहीं अधिकार और कर्त्तव्य है। उनमें व्यक्तिगत संपत्ति की भावना। परन्तु प्रथाओं के अनुसार सामाजिकता और उदारता भी है। मानो हर व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी मात्र है।

अधिकांश आरम्भिक जातियों में अपने समुदाय की भावना बड़ी प्रबल है। यह जितनी ही प्रबल है उतनी ही “पर” के प्रति घृणा भी तीव्र है। हर समुदाय अपने को ही मनुष्य मानता है। चरित्र के नियम तथा सद्ब्यवहार की प्रणाली केवल अपने और अपने कहे जाने वालों के लिए ही सीमित है। उसके बाहर उसका अभाव ही कर्त्तव्य हो जाता है। यह ‘स्व’ तथा ‘पर’ की धारणा मध्य युग तक विद्यमान थी और आज भी मरी नहीं है यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति के रूप में अन्तर आ गया है। यह ‘स्व’ की सीमा कहीं विस्तृत है और कहीं संकुचित, कहीं वह सम्पूर्ण जन (tribe) तक फैली रहती है और कहीं उसके एक छोटे खंड में ही सिमट कर रह जाती है। स्कीमों अपनी जाति मात्र को बन्धु समझते हैं और कहीं मिल जाने पर उनका पूरा आतिथ्य करना अपना धर्म मनाते हैं। इसके विपरीत नागा अपने ग्राम और

खिली बाहर के किसी व्यक्ति का सिर उतार लेना पुण्य समझते हैं, चाहे वह स्वजातीय ही क्यों न हो। यह 'स्व' की भावना ही संघर्ष और सहयोग का क्षेत्र भी निर्धारित करती है। मध्य युग के वीर तथा साहसी अपने वंश के लिए मरते थे और उसकी प्रतिष्ठा के लिए अपना प्राण भी न्योछावर करने में आनाकानी नहीं करते थे। किसी भी वीर तथा साहसी को अपने वंश वालों से सदा सहायता मिला करती थी। यह संघर्ष का क्षेत्र जितना ही अपने से दूर हटता जायगा, उतनी ही समष्टि की भावना अधिक सरल तथा पुष्ट होती जायगी। जूनी भी अधिक निकटस्थ अन्य जातियों से कम घृणा नहीं करते, नावाजों लोगों से तो उनका संघर्ष कभी नहीं मिटता, दूसरे लोगों के सिर काट लाना उनके यहाँ भी पुण्य माना जाता है और ऐसी खोपड़ियों की पूजा होती है, विशेषतया वर्षा के लिए। परन्तु "पर" का क्षेत्र अत्यन्त दूर और 'स्व' का व्यापक होने के कारण इस संघर्ष वृत्ति का प्रस्फुटन उतना नहीं हो पाता।

मध्यकालीन वीरों तथा साहसिकों में क्वाकिउट्ल जाति के समान दुहरी भक्ति दिखाई पड़ती है। एक अपने समुदाय के प्रति दूसरी अपने 'अहम्' या व्यष्टि के प्रति जब समुदाय के बाहर संघर्ष रहता है समुदाय की प्रतिष्ठा और स्वार्थ का प्रश्न रहता है तो पहली भक्ति तथा उससे उत्पन्न समुदाय के भीतर सहयोग की भावना प्रचण्ड रहती है। किन्तु जब समुदाय के ही अन्य सदस्यों का प्रश्न रहता है तो व्यष्टि की चेतना उग्र रूप में जाग्रत हो जाती है। क्वाकिउट्ल जाति वालों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना बड़ी तीव्र है। जान पड़ता है कि सारी जाति उस उग्र मानसिक रोग से पीड़ित है, जिससे ग्रस्त होने पर पागल अपने को महान्-से-महान् राजा समझने लगता है और जिसे मनोवैज्ञानिक 'पैरानोइया' कहते हैं। अपने को बड़ा प्रमाणित करने के लिए पड़ोसी को गाली देते हैं, अपमानित किया करते हैं। इतना होने पर भी उनमें सहयोग का नितान्त अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता। सरदार अपने खेल के लिये, उपहार देने के लिए या उपयोगी सम्पत्ति नष्ट करने के लिए अपने सगोत्रियों से सहायता पाया करता है। खेल में पराजित तथा विरत होने पर व्यक्ति की अप्रतिष्ठा होती है, साथ ही सारे प्राथमिक समुदाय और सगोत्री अपमान का अनुभव करते हैं। क्षति पूर्ति के लिए समान पद वाले को क्षति करने में भी सम्बन्धी साथ दिया करते हैं सरदार जब दाव पर अपनी सम्पत्ति लगाता है अथवा नष्ट करता है उस समय आत्माभिमान से भरी बातें तो करता ही है, साथ ही अपने स्वजाति वालों को भी सम्बोधित और उत्तेजित करता है।

मध्यकालीन वीरों और साहसिकों में क्वाकिउट्ल वालों से कुछ अधिक समुदाय भी भावना थी; तो भी उनकी अहम्मूलक प्रवृत्ति उपेक्षणीय नहीं

थी। प्रथम कोटि के देश तथा वंश-भक्त चित्तौड़ तथा शिशोदिया वंश की मर्यादा के लिए वन-वन की खाक छानने वाले महाराणा प्रताप भी अपने भाई से द्वन्द्व-युद्ध करने में हिचके नहीं; केवल यह प्रमाणित करने के लिए कि सूअर किसने मारा, किसके अस्त्र में शक्ति है। अपने व्यक्तिगत आन के सामने यह विचार तक नहीं किया कि सिर पर शत्रु मँड़र रहे हैं, अपने भीतर अधिक से अधिक सहयोग होना चाहिए। राजस्थान का इतिहास ऐसी मूर्खों की लड़ाइयों की गाथाओं से भरा पड़ा है। हम आज उनपर हँस सकते हैं, परन्तु उस समय हँसने की जगह नहीं थी।

खैर, ये दोनों शुद्ध संघर्ष सहयोगात्मक संस्कृति के उदाहरण नहीं हैं। तो भी उन्हें पूर्णतया संघर्षात्मक की नीति में नहीं रख सकते। नागा अपने सीमित क्षेत्र 'खिली' में अधिक सहयोगी रहते हैं। कुछ दिनों पहले तक लोग अपने ग्राम समुदाय, वंश की प्रतिष्ठा के लिए मरते रहते थे। जबतक मानव देश, जाति और परिवार की मर्यादा को व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से ऊपर रखता है, तबतक सामूहिक चेतना व्यष्टि और उसके ग्रहम् पर थोड़ी बहुत छाई रहती है और उसमें स्वजात्याकर्षण (ethno-centrism) तीव्र रूप में बना रहता है। यह पारस्परिक सम्बद्धता जीवन का रस और समष्टि भावना बनाए रखती है। क्वाकिउट्लों, मध्यकालीन वीरों तथा नागाओं को भी इस रस और इस भावना से पूर्णतया वञ्चित नहीं मान सकते। यद्यपि इनकी मात्रा कहीं कम और कहीं अधिक रहा करती है।

(३) जिस संस्कृति में समष्टि से अलग व्यष्टि की ही प्रधानता होगी, व्यक्ति ही सब कुछ होगा, उसके सदस्यों को अपने समुदाय के भीतर और बाहर सर्वत्र द्वन्द्व करना पड़ेगा, जहाँ पद और प्रतिष्ठा व्यक्तिगत उपलब्धियों पर ही निर्भर करेगी और इन उपलब्धियों के लिए समाज के सदस्यों के सहयोग की बहुत कम उपेक्षा होगी, वहाँ प्रतियोगिता प्रधान बनेगी। जिस संस्कृति में 'स्व' समुदाय की भावना जितनी ही क्षीण होगी उसकी स्पर्धा भी उतनी ही ग्रहमूलक होगी।

कुछ विद्वानों ने सहयोग और संघर्ष की दृष्टि से संस्कृतियों को तीन कोटियों में बाँटा है:—सहयोगात्मक, प्रतियोगितात्मक और व्यष्टिवादी।

व्यष्टिवादी के अन्तर्गत इस्किमो, ओजिबवा और बाजिगा आदि जातियाँ रखी जाती हैं। इस्किमो अकेले ही शिकार करने में अपनी शान

समझता है; वह किसी स्वजातीय की सहायता नहीं लेता। शिकार अपने परिवार में लाता है और सब मिलकर खाते-पीते हैं। उसमें न तो जाति को सहयोग में आबद्ध करनेवाली कोई संस्था है और न प्रतियोगिता जगानेवाला कोई सामाजिक रूप।

इतना सही है कि इस्किमो में थोड़ा बहुत अपनेपन का विकास हो चुका है तथा सहयोग जगानेवाली जीवन-विधि नहीं है^१। वे ह्वेल आदि मछलियों के शिकार पर ही निर्भर करते हैं, जिनके लिए समूह की सहायता और सहयोग अपेक्षित नहीं है। परन्तु उनमें स्वजाति की भावना तथा उदारता अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है। अकेले शिकार करने पर भी बड़ी ह्वेल समूह में आनन्द के साथ खाते-पीते हैं, अपनी आवश्यकता से अधिक होने पर उत्पादन का प्रधान साधन—वंशी किसी भाई को दे देने में नहीं हिचकते। इतना ही नहीं, किसी भी स्वजातीय-बन्धु का आतिथ्य उनके स्वभाव में शामिल है और इसके लिए अपनी स्त्री को सह-शायी बनाने में भी वे नहीं हिचकते। इसलिए सहयोग का सामाजिक साधन नहीं रहने पर भी उन्हें सहयोगात्मक ही मानना होगा। बाचीगा प्रतियोगितात्मक बनते जा रहे हैं; किन्तु शेष व्यष्टिवादी के अन्तर्गत गिने जानेवाले 'जन' सहयोगी-भावना से ही भरे हुए हैं इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

वास्तव में व्यष्टि के विकास की दृष्टि से हम संस्कृति की तीन कोटियाँ मान सकते हैं:—

- (१) सुप्त-व्यष्टि सम्पन्न,
- (२) अर्द्ध-चेतन व्यष्टि सम्पन्न,
- (३) जाग्रत-व्यष्टि सम्पन्न।

सुप्त-व्यष्टि-सम्पन्न के अन्तर्गत वे जन आयेंगे, जिनमें नींद, भूख, वासना और जीवनेच्छा अलग-अलग रहते हुए भी इनकी पूर्ति के साधन समाज के साथ एकाकारता में ही प्राप्त हो सकते हैं। अलग-अलग सम्पत्ति स्वायत्त करने और अलग-अलग परिवार बसाने की कल्पना भी नहीं उत्पन्न हो पाती। आज पृथ्वी के धरातल पर इस प्रकार की कोई जाति नहीं रह गई है, कभी थी या नहीं, इसमें काफी मतभेद है। तो भी बेदा आदि कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें व्यष्टि की भावना कम-से-कम जाग्रत हो पाती है।

अर्द्ध-चेतन-व्यष्टि-सम्पन्न हम उन जातियों को कहेंगे जिनमें व्यक्तिगत

^१—यद्यपि मीड के अनुसार उसमें विकसित अहम् (developed ego) की स्थिति नहीं है।

भावना है, परिवार तथा सम्पत्ति है; किन्तु उनमें सहयोग तथा उदारता की धारणा इतनी प्रबल है कि व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत पद-प्रतिष्ठा का मूल्य समाज की आँखों में कुछ नहीं है। जूनी डाकोटा आदि जातियाँ भी इसमें आयेंगी, जिनमें सहयोग बनाये रखनेवाली संस्थाएँ जीवित हैं और इस्किमो आदि ऐसे जन भी आयेंगे जिनकी प्रबल परम्परा ही उन सहयोगात्मक संस्थाओं के अभाव की पूर्ति कर दिया करती है।

जाग्रत-व्यष्टि-सम्पन्न से अभिप्राय उन जनों और जातियों से है, जिनमें व्यष्टि समाज से अलग 'स्व' की भावना सदा लिए रहता है। संघर्ष-सहयोगात्मक तथा प्रतियोगितात्मक संस्कृतियाँ इसी कोटि में आयेंगी। जैसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्ण और शुद्ध व्यष्टिवादी हम आज की प्रतियोगिता वाली संस्कृति को ही कह सकते हैं, जिनमें 'स्व' की भावना सदा सजग और उद्वुद्ध रहती है—जाति, वंश तथा परिवार से भी अलग। इसलिए तीव्रता के तारतम्य की दृष्टि से इस कोटि के दो भाग हो सकते हैं, प्रथम में संघर्ष-सहयोगात्मक संस्कृतियाँ हैं और द्वितीय में शुद्ध व्यष्टिवादी प्रतियोगितात्मक।^१

“प्रतियोगितावर्द्धक सांस्कृतिक आदर्श”

सहयोग और संघर्ष के रूप संस्कृति पर निर्भर करते हैं परन्तु संस्कृति भी कोई शाश्वत तत्त्व नहीं है, वह भी परिवर्तनशील है। कुछ विद्वानों ने इस भावना को थोड़ा बहुत स्थायी-सा माना है; परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। हमने देखा है कि सहयोगात्मक या संघर्षात्मक भावना सामाजिक आदर्श पर आधारित है, पर यह आदर्श युगानुरूप बदलता रहता है। यह विषय और स्पष्ट करने के लिए हमें थोड़ा विस्तार में जाना चाहिए और सहयोग तथा संघर्ष की प्रेरणा देनेवाले सामाजिक आदर्शों के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। इन्हें हम अलग-अलग लेते हैं।

(१) जिस समाज में ऊँच-नीच का भेद जन्म पर आधारित होगा, जहाँ मानव के कर्म आगे बढ़ाने वाले नहीं होंगे, वहाँ प्रतियोगिता की भावना कम प्रश्रय पायेगी। हर आदमी समाज की आँखों में बढ़ना चाहता है

१—मार्सेट मीड ने व्यष्टिवादी संस्कृतियों में केवल अजीबवा में ही विकसित अहं (developed ego) माना है। बिना 'स्व' विकसित हुए व्यष्टिवादिता आ ही कैसे सकती है? वास्तव में उनका उद्देश्य मानस की गहराई में जाना नहीं था। प्रतियोगिता-रहित, सहयोगी-संस्थाओं से ही न संस्कृतियों को एक नाम देना था, और इसके लिए व्यष्टिवादी (individualistic) ही उपयुक्त शब्द जान पड़ा।

आदर-सम्मान का पात्र होने के लिए इच्छुक रहता है । परन्तु यदि बचपन में ही यह भावना जम जाती है कि हमारा कर्म नहीं भाग्य निर्णायक है, यदि हमें आदर पाना होता, तो हम बड़े घर में पैदा होते, तो हीनता ग्रन्थि घर कर लेती है । अपने भाग्य पर संतोष हो आता है । प्रतियोगिता को कहीं जगह ही नहीं होती । भारतवर्ष में छोटी जातियों के हृदय में यह ग्रन्थि घर कर गई है । वे उसी में संतुष्ट हैं । कष्ट-दुःख का अनुभव नहीं होता ऐसी बात नहीं; परन्तु वे इसमें अपना वश नहीं देखते । धीरे-धीरे यह भावना मिट रही है; परन्तु इतनी नहीं मिटी कि जीवन-व्यापी प्रतियोगिता को प्रेरणा दे ।

परन्तु इस सामाजिक आदर्श में भी विभिन्न अभिजात्यों में सामूहिक रूप से और एक ही जाति के सुविधा-सम्पन्न पुरुषों में व्यक्तिगत रूप से प्रतियोगिता और संघर्ष तो रहते ही हैं । निम्न वर्णों के व्यक्तियों में भी थोड़ी बहुत प्रतियोगिता रहती है । परन्तु इसका क्षेत्र सीमित होता है और यह थोड़े से लोगों में ही पाई जाती है । बहुत थोड़े से लोग ही उच्चासन के लिये प्रतियोगी बनकर ऐसे समाज में आ सकते हैं, सब नहीं, सारा समाज न तो उसके लिए अभिलाषा ही रखता है और न रख सकता है । जहाँ सभी क्षेत्रों में हर व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है वह परिस्थिति वहाँ नहीं आ सकती, ऐसी स्थिति में महत्वाकांक्षी एकाध ही हो सकते हैं, सारे सभाज के शरीर में यह भावना इतना नहीं प्रवेश कर पाती है । साथ ही एक बात और है । सामूहिक संघर्ष, उस समूह के हर व्यक्ति में जितनी सहयोग की भावना पैदा करता है, उतनी व्यक्तिगत प्रतियोगिता की लालसा नहीं । कहने का अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति को प्रतियोगिता की प्रेरणा सामूहिक संघर्ष से नहीं मिलती ।

जन्मना ऊँच-नीच का भेद और पैतृकता की महानता एक प्राचीन देन है, जो थोड़ी बहुत सर्वत्र मिलती है । किन्तु ऐतिहासिक उथल-पुथल तथा जीवन-विकास की गति में इसका रूप बदलता रहता है । भारतवर्ष में जाति व्यवस्था की संस्था का जन्म बहुत पहले ही हो गया था, जिसकी रूपरेखा बदली, किन्तु जो कभी मरी नहीं । इसलिए समाज में जन्मना सम्मान का नीचे से ऊपर तक एक निश्चित रूप स्थिर हो गया था । इसमें प्रतियोगिता को बहुत कम स्थान था । अन्य देशों में इतनी दीर्घजीवी कोई संस्था नहीं पनप सकी । इसलिए किस रक्त का प्राधान्य हो, यह शक्ति-संचय एवं इतिहास निर्धारित करता था । रक्त के सामने हमारे यहाँ सम्पत्ति का मूल्य बहुत कम था । यही कारण है कि जीवन की सुख सुविधा का संचय सम्मान का कारण कभी नहीं था ।

इसलिए प्रतियोगिता का वह क्रीडास्थल भी नहीं था। इतिहास हमारे यहाँ भी ऊँच-नीच निर्धारित करता था, जातियाँ समाज के स्तर में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे आती-जाती रहती थीं। किन्तु जाति व्यवस्था के कारण यह परिवर्तन मूल ढाँचे और मूल प्रेरणा में अन्तर नहीं ला पाता था।

(२) जिस समाज में समूह के सामने व्यक्ति का अधिकार बहुत कम होता है; जहाँ व्यक्ति को केवल अपनी ही सुख-सुविधा जुटाने का अधिकार समाज नहीं देता वहाँ सहयोग ही पनपता है। ऐसी जातियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति रहती है। परन्तु व्यक्ति के लिए भी समाज बहुत कुछ जिम्मेवार रहता है। संसार की अनेक जातियों में आज भी आदिम समाजवाद के अवशेष बचे हुए हैं, इनमें सामूहिकता बड़ी प्रचण्ड है। व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। इन जातियों में प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता को पनपने की कोई जगह ही नहीं है। जिन जातियों का आर्थिक विकास हो गया है और जिनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति ने सामूहिकता को नष्ट कर दिया है, वहाँ यह स्थिति नहीं रह गई। आज भी सामान्य रूप में अविकसित जातियों में और थोड़ा बहुत विकसितों में भी त्योहारों के अवसर पर एकत्रित सम्पत्ति व्यय कर देने की परिपाटी है। कुछ जातियों में यह परिपाटी सबों को समान स्थिति में लाने का काम करती है। और इससे संचय प्रतियोगिता का कारण नहीं बनता है। आदर का कारण अवश्य बनता है परन्तु यह आदर समाजव्यापी संघर्ष नहीं पनपाता।

(३) इसिमो और दूसरी शिकार पर ही निर्भर रहनेवाली जातियों का जीवन जटिल है; किन्तु संचय का कोई साधन उनके पास नहीं है। इसलिए उनकी संस्कृति उदारता, सामूहिकता और सहयोग को ही प्रथम दे सकती है और देती है। इसके विपरीत क्वाकिउट्ल और न्यूगिनी के उत्तर-पूर्व द्वीप्यांड द्वीप-वासी सुखी हैं। उनकी प्रकृति उन्हें आवश्यकता अधिक देती है। इस अधिकता के उपयोग के लिए कोई रास्ता निकालना अनिवार्य हो जाता है। इन दोनों जातियों में व्यापार, द्रव्य आदि आर्थिक विकास के साधन नहीं पनप सके हैं। द्वीप्यांड में वस्तु विनिमय है और विदेशी व्यापार भी, उपहार प्रदान के एक रूप के द्वारा चलता है। जिसे 'कुला' कहा जाता है। वास्तव में ये आर्थिक दृष्टि से विकसित नहीं हैं। इनकी अधिकता प्रकृति की देन है, विकास की नहीं। इसीलिए इनके सांस्कृतिक आदर्श को कोई विनाशात्मक रूप ढूँढ़ना पड़ा है। क्वाकिउट्ल पाटलेंड के द्वारा विनष्ट करते हैं और द्वीप्यांड प्रदर्शन के लिए उत्पादन सड़ा डालते हैं। इनकी अधिकता ही इन्हें अस्वाभाविक रूप में व्यक्तिवादी और प्रतिद्वन्द्वी बना डालती है। अभावों में जीवन-यापन करनेवाली कोई जाति बैसा नहीं कर पाती।

आज की सभ्यता अपार संग्रह कर सकती है और उसने व्यापार, द्रव्य आदि के द्वारा संग्रह के सुन्दर साधन निकाल लिए हैं। इसीलिए आज का संग्रह न तो पाटलेंड्र के लिए है और न प्रदर्शन के लिए वह शुद्ध संग्रह है। अपार धनराशि से भी उसकी तिजोरियाँ नहीं फट सकती। इन तीनों संस्कृतियों के आदर्श में वही अन्तर है जो इस अधिकता के उपयोग और संग्रह के स्वरूप में है। संग्रह की इस अपार शक्ति ने प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता को इसीलिए अत्यन्त गहरी बना रखा है। अविकसितों में बाह्य रूप तीव्र रहते हुए भी वह आन्तरिक गहराई नहीं आ पाती।

(४) संस्कृति के सामान्य आदर्शों के सिवाय जीवन-विधि का भी प्रभाव मन पर पड़ता है। वह उनसे बच नहीं सकता। कृषिजीवन में हम प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। जिस पर हमारा कोई बश नहीं रहता, वर्षा-धूप की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आगे हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न कोई काम नहीं करते। हम क्षत बो सकते हैं, परन्तु समय पर वर्षा करना हमारे बूते के बाहर है। बिना वर्षा के उपज हो ही नहीं सकती। एक किसान अपना सुन्दर खेत खूब जोतता, खाद डालता और समय पर बोता है। बोते ही थोड़ी वर्षा होती है, ऊपरी मिट्टी की पपड़ी जम जाती है और अंकुर निकल कर टूट जाते हैं, जिसने बो चार दिन पहले बोया है उनके लिए यह वर्षा अमृत है। वह किसे दोष दे, अपने भाग्य को या अपने कर्तव्य को? असमय की वर्षा कभी-कभी उत्तम, जोते-बोये खेतों के लिए बहुत बुरी होती है और घटिया खेतों के लिए अच्छी। इस तरह किसान के जीवन में हर क्षण भाग्य खेल खेलता रहता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए भाग्यवादी होना ही स्वाभाविक है। वह प्रतियोगिता की कल्पना करे या भाग्य को प्रबल माने। भाग्यवादिता संघर्ष तथा प्रतियोगिता को कम कर देती है। एक दिहाती कहावत है “बोवे कियारी उपजे लिलारी” अर्थात् किसान क्यारियों में बोता है, भाग्य में उपजता है।

कृषि-जीवन में सम्मिलित परिवार अधिक देखा जाता है जहाँ हर व्यक्ति परिवार भर के लिए काम करता है। व्यक्तिगत भावना कम पनप पाती है। इससे प्रतियोगिता का जोर भी कम हो जाता है। साथ ही किसान अपने ग्राम-निवासियों से सदा सहयोग पाता रहता है। छप्पर चढ़ाना हुआ, गाँव भर पहुँच गया। खेतों में सिंचाई हो रही है, वारी-वारी से सब एक दूसरे की सहायता करते हैं। सम्पूर्ण ग्राम-निवासियों में प्राथमिक समुदाय की भावना रहने के कारण अपनापन रहता है; जो संघर्ष को जीवनव्यापी नहीं बनने देता। यही कारण है कि यदि प्रतिद्वन्द्विता को उत्तेजित करनेवाली संस्था का विकास तथा पोषण नहीं हुआ तो कृषि-संस्कृति स्वाभाविक रूप में सहयोगी

ही होगी। साधारण स्थिति में उसके लिए वही स्वाभाविक है, क्वाकिउड्ल का पाटलैट्च यदि जीवनव्यापी नहीं होता तो उसमें भी संघर्ष को कम ही प्रश्रय मिलता। यह सही है कि प्रतियोगिता तथा संघर्ष समाज के विकासक्रम से सम्बन्धित नहीं है। एक ही स्थिति में रहनेवाली दो जातियाँ परस्पर विरोधी संस्कृति में रह सकती हैं। जूनी (Zuni) और क्वाकिउड्ल दोनों उद्यान-जीवन में ही हैं। थोड़ी बहुत प्रतियोगिता सर्वत्र मिलेगी; परन्तु उसे व्यापक रूप देने के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता है वे कृषि-संस्कृति में कम है।

(५) जिस समाज में वंश-परंपरा की अपेक्षा व्यक्तिगत योग्यता पर ही आदर-सत्कार मिलता है। जहाँ व्यक्ति का मूल्य बढ़ा है, जिसका आदर्श व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत उपलब्धियाँ और व्यक्तिगत शक्ति है वहाँ प्रतियोगिता जीवनव्यापी बने बिना नहीं रह सकती। जहाँ पारस्परिक व्यवहारों का संचालन करने के लिए कोई परिपाटी नहीं होगी, जहाँ प्रतियोगिता ही मानव-चरित्र का तथा समाजिक व्यवहारों का नियमन और नियंत्रण करेगी, जहाँ उसकी उग्रता और तीव्रता को संतुलित और संयमित करनेवाली कोई संस्था नहीं होगी वहाँ वह विषमय बने बिना नहीं रह सकती।

वर्तमान युग और प्रतियोगिता

शिशु में ग्रहम् का विकास बहुत छोटी आयु में हो जाता है। परन्तु अन्य किसी से तुलना के द्वारा प्रतिद्वन्द्विता या प्रतियोगिता का विकास तीन और चार वर्षों की अवस्था के पहले नहीं होता। इस समय उनमें यह भाव बढ़ा प्रबल हो जाता है। वे सभी बातों में और भले या बुरे का ज्ञान नहीं होने के कारण बुरी बातों में भी अन्य बालकों से बढ़ जाना चाहते हैं। यदि कोई कहे कि हमारा भाई चोर है तो दूसरा अपने किसी न किसी सम्बन्धी को चोर बताए बिना नहीं रहेगा। बच्चा एक वस्तु के अभाव की अतिपूर्ति (over-compensation) दूसरे क्षेत्रों में करना चाहेगा। इस आयु के बाद जीवन की वास्तविक स्थिति के अनुरूप उसे ढालना शुरू किया जाता है। वह अपने पिता, भाई की तथा अपनी वास्तविकता समझने लगता है। वह और उसके सम्बन्धी किससे कितनी दूर तक और किस क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता कर सकते हैं अनुभव हो जाता है। इस उम्र में परिस्थिति और सन्निकर्ष के अनुसार उसकी यह प्रवृत्ति ढलती है और रूप ग्रहण करती है। शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन विधि उसमें प्रतियोगिता भरती है या उसे संयमित कर सहयोग की भावना प्रबल बनाती है। प्राचीन काल में शिक्षा का कार्य परिवार में होता

था, जहाँ किसी निश्चित पाठ्य-विधि के आधार पर तुलनात्मक योग्यता द्वारा सर्वदा प्रतियोगिता की भावना उखाड़ने की कोशिश नहीं होती थी। बालक स्वाभाविक रूप में मां, बाप से उनका व्यावसायिक ज्ञान लेते रहता था और वह भी उन कार्यों में सहयोग देकर। जो थोड़े-से लोग गुरुकुलों तथा मठों में पढ़ने जाते थे, ज्ञान की चर्चा सामूहिक रूप में करते थे या अलग-अलग अध्ययनरत रहते थे। उनमें साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक परीक्षा के द्वारा सदा होड़ जगाने की जरूरत नहीं समझी जाती थी। आज की परीक्षा-पद्धति प्रतिद्वन्द्विता के लिए सदा राह बनाती है। बुद्धिमान कमजोर की सहायता नहीं कर, वह तो अपने समकक्ष को परास्त करने के ही प्रयत्न में रहता है।

यह युग मुक्त प्रतियोगिता का समर्थक है, समर्थक ही नहीं वही उसका मूल मंत्र है। प्रतियोगिता में ही वह व्यक्तित्व का चरम विकास समझता है। हर क्षेत्र में आपको प्रतियोगिता का समुद्र मिलेगा, जिनके बीच अपनी नौक खेनी होगी। साथ-साथ बढ़ने का अवसर जीवन में बहुत ही कम है। यह व्यक्तिवादी संस्कृति की चरम परिणति है। आज का सभ्य कहा जानेवाला मानव हर क्षेत्र में संघर्ष करता हुआ ही बढ़ता है। उसके विजय-पथ में हजारों परास्त मिलें जिन्हें दबाकर, कुचल कर, पीछे छोड़कर या किनारे करके ही वह आगे बढ़ा है।

यहाँ प्रतियोगिता ग्रहण की तृप्ति, पद की कामना और स्वीकृति की अभिलाषा से ही नहीं उत्पन्न होती वरन् जीने की चिन्ता और सुरक्षा की भावना भी उसका जन्म देती है और पालती है। पहले मानव शुद्ध कृषि-जीवन में अपनी रोटी के लिए प्रकृति से ही संघर्ष करता था, मानव से सतत प्रतियोगिता करने की आवश्यकता उसे नहीं थी। अन्न, रूई अथवा ऊन मिल जाने पर वह संतुष्ट था, उसके परिवार का गुजर चल जाता था। आज के किसान को भी कपड़े, चीनी, चाय और जीवन के अन्य कई आवश्यक सामानों के लिए पैसे की आवश्यकता है। ये पैसे अन्न बेच कर ही आ सकते हैं। जहाँ बेचना-खरीदना आया कि प्रतियोगिता आई, क्योंकि सभी किसान अपना-अपना माल बेचना चाहेंगे। व्यापार तथा कारीगरी में तो प्रतियोगिता पद-पद पर भरी पड़ी है।

सामूहिक परिवार सुरक्षा के लिए एक गारंटी था। परिवार का पंगु, रोगी तथा वृद्ध सेवा शुश्रूषा का पूरा अधिकारी माना जाता था। उसके भरण-पोषण की जिम्मेवारी परिवार पर थी। अस्तु, हर व्यक्ति इस सम्बन्ध में निश्चिन्त था, पर आज पारिवारिक बन्धन शिथिल हो जाने से कोई आश्वस्त नहीं है। प्रत्येक मनुष्य असमय के लिए अधिक से अधिक कमाकर रख लेता

है या रख लेना चाहता है। वह जानता है कि गाढ़े समय सम्पत्ति ही काम आनेवाली है, और कोई नहीं। सम्मिलित परिवार मिट जाने से स्व समुदाय का क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित होकर रह गया है। युगल परिवार से स्त्री और बच्चों को छोड़कर सबलोग माता-पिता तथा भाई भी इतने ही पराये हैं जितने दूसरे।

जीवन का स्तर भी बहुत ऊँचा हो गया है। पुराने जमाने का सादा जीवन उच्च विचार (simple living and high thinking) अब काम नहीं करता। उद्योगों का विकास जीवनस्तर उठाने का पक्षपाती है क्योंकि इससे उसका बाजार विस्तृत होता है। फलतः लोगों को अपने लिए अधिक व्यय करना पड़ता है परन्तु यह व्यय तो कमाने से ही चलेगा। और कमाने के पथ में बिना प्रतियोगिता के एक डग भी चलना कठिन है। मजदूर को अपनी रोटी के लिए अपना श्रम बेचना पड़ता है जहाँ उसके समान अनेकों अपने श्रम का माल लेकर बैठे रहते हैं। माध्यम श्रेणी का बुद्धिजीवी प्रतियोगिता के जंगल बीच से अपना पथ खोजता है। उद्योगपति और उच्च व्यवसाय भी प्रतियोगिता की मूर्ति बने रहते हैं।

इतना आवश्यक है कि आजकल हिंसात्मक संघर्ष प्रधान रूप में राजशक्ति तक ही सीमित है। राष्ट्र आपस में युद्ध कर सकते हैं; आवश्यकतानुसार जनता को भी हिंसा का शिकार बना सकते हैं। परन्तु दूसरे समुदाय यदि हिंसा पर उतारू हो जायें तो राजसत्ता उनका दमन कर देती है। इसलिए प्राचीन संघर्ष के बाह्य उग्र रूप आज बहुत कम रह गए हैं। किन्तु प्रतियोगिता तथा बँर गहरे रूप में आज की संस्कृति के हृदय में पँठ गये हैं और सम्पूर्ण मानव-जीवन पर छा गये हैं। आज की स्थिति देखकर इस प्रतियोगिता को ही जीवन-विकास का मूल मान लिया गया है। परन्तु वस्तुतः इसकी आज की गहराई युग-सापेक्ष है। यह कहा जाता है कि आज मनुष्य के 'स्व' का विस्तार हो गया है। वह सम्पूर्ण देश-महादेश तथा विश्व को ही 'स्वीय' बनाने जा रहा है। भगवान् करें वह दिन आये जब मानव देश-भक्ति और विश्व-बन्धुत्व में इतनी गर्मी का अनुभव करे, जितनी पहले वंश, जाति के लिए करता था। किन्तु आज तो वस्तुस्थिति यह है कि इन बड़े निर्गुण दार्शनिक देवताओं में भी भक्ति नहीं उत्पन्न हो पाई और अपना छोटा सगुण समाज भी क्षीण हो गया। पश्चिम में तो परिवार भी क्षीण होते जा रहे हैं, इसलिए व्यक्ति और भी व्यष्टि मात्र बनकर रह गया है।

इस प्रतियोगिता ने आज की व्यक्तिवादी संस्कृति और उसकी महान् विभूति के निर्माण में बहुत बड़ा योग दिया है। इसकी सतत प्रेरणा से मनुष्य

अधिक से अधिक योग्य बना है । अधिक से अधिक प्रकृति की नियामतें स्वायत्त करने के लिए आगे बढ़ा है । युग के विशाल ऐश्वर्य का द्वार इसने खोला है । और मानव को नये जगत् में प्रवेश करने की कुंजी दी है । परन्तु यह शुद्ध बरदान ही नहीं है । इसमें अभिशाप भी काफी मात्रा में मिला हुआ है ।

मानव योग्यता तथा सम्पत्ति की प्राप्ति के जिस किसी स्तर पर पहुँचता है वहाँ ही इसे अपने से ऊपर वाले दिखाई पड़ जाया करते हैं । जहाँ पहुँचने के लिए वह लालायित और बेचैन हो उठता है । जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही वह बढ़कर रुक नहीं सकता । साधारण ज़रूरतें इतनी बढ़ती जाती हैं कि हर स्तर का व्यक्ति बराबर रोता रहता है कि उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं, वह केवल अपने दैनिक व्यय के लिए ही सब कुछ करता है । परन्तु आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर भी वह भविष्य की चिन्ता करने लगता है । ग्रामों में एकाध धनी व्यक्ति रहते हैं जो अपने को सर्वोपरि समझकर सन्तुष्ट हो लेते हैं, परन्तु शहरों में तो एक से एक धनवान पड़े हुए हैं । फलतः मानव असंतोष का ही पुतला हो गया है । सब का रस वह कभी चख नहीं पाता ।

यह असन्तुष्ट मानव को अत्यधिक स्वार्थी, धन-लोलुप और अर्थ-पिशाच बना देती है । वह धन-प्राप्ति के लिए किसी भी साधन का प्रयोग करने में नहीं हिचकता उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार वह खो देता है । समाज की अपदाओं को वह वरदान मानता है, यदि वे उसकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं तथा धन-लोलुपता को तृप्त कर सके । कोई किसी पर विश्वास नहीं करता । चारों ओर एक अविश्वास का वातावरण छाया हुआ है जिसमें वे सारे गुण जिन्हें मानव अभी तक धर्म मानता रहा है, नष्ट हो रहे हैं । अपने-पराये का भेद नहीं रहा, जिससे स्वार्थ सधे वही बन्धु है; वह भी तभी तक जब तक स्वार्थ सधता है ।

अपने अहम् को व्यापक बनाकर उसमें समाज को समा देने में एक आनन्द मिलता है, वह कठोर व्यक्तिवादी को किसी भी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता । आज के युग के सामूहिक विक्षोभ और विक्षिप्तता का यह भी एक कारण है ।

आज का नैतिक पतन भारत तक ही सीमित नहीं है, कुछ दिनों पूर्व संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रमुख समाज-शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के पास व्यापक नैतिक पतन के सम्बन्ध में एक प्रश्नावली भेजी गयी थी । समाज-शास्त्रियों का एक बड़ा दल इस पतन के लिए आज के प्रतियोगिता-प्रधान

जीवन को ही उत्तरदायी समझता है । और बिना इस प्रतियोगिता के विष-
दंत तोड़े वह उद्धार की आशा नहीं देखता ।

भारत और प्रतियोगिता

भारतवर्ष में विभिन्न संस्कृतियों ने सहस्रों वर्षों के संघर्ष के पश्चात् इच्छा से या अनिच्छा से अपना-अपना स्थान वर्णव्यवस्था के अनुरूप बना लिया था । वे सन्तुष्ट नहीं थी, परन्तु कई पीढ़ियों से एक-सी स्तर में रहते रहते सबों को वहाँ ही रहने का अभ्यास हो गया था । इसी समय इस्लाम की लहर आई । दोनों टकराये, परन्तु इस टकराने में सामूहिकता रहने के कारण व्यक्तिगत प्रतियोगिता के विकास की जगह कम थी । दोनों धर्म, सन्तोष और सामूहिकता की ओर नहीं ले जाने वाले थे ।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् व्यापारादि की वृद्धि के साथ प्रतियोगिता की भावना बढ़ सकती थी; परन्तु बहुत दिनों तक इस नवीन संपर्क की देन रही, दरिद्रता और भारतीय शिल्प का नाश । इससे वे अपदस्थ कारीगर खेती पर निर्भर करने लगे जहाँ भाग्यवाद अपनी शीतल गोद लिए उनका स्वागत कर रहा था । हमारी पराधीनता, दरिद्रता और पतन नियति का चक्र है, हम यही समझे बैठे रहे । प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता समान या समान से थोड़ा ऊँचे उठे हुए लोगों से ही हो सकती है । हमारा व्यापार तथा व्यवसाय अंग्रेजी व्यवसाय की दुम में बँधा था । प्रतियोगिता होती किससे ?

क१४ के महायुद्ध के समय भारतीय व्यापार और भारतीय व्यवसायी वर्ग अपने पैरों पर खड़ा होना सीखने लगा । तभी से उसमें प्रतियोगिता की भावना पनपी । इस युद्ध के समय वह हरी-भरी हुई और स्वतंत्रता के पश्चात्, फल लाने लगी है । इसीसे उसके गुण और दुर्गुण हमें साफ दिखाई पड़ने लगे हैं ।

नवीन उत्थान में आया हुआ बुद्धिजीवी वर्ग काफी दिनों तक अंग्रेजों के नीचे आसानी से काम पाता रहा । एक ओर अपने को सामान्य जन-समाज से ऊपर समझता था दूसरी ओर अंग्रेजों की घुड़कियाँ सहता था । फलस्वरूप न तो निम्नस्तर के देशीय जीवों से प्रतियोगिता की जगह थी न उच्च अधिकारियों से । स्वयं उसका वर्ग इतना विकसित और विस्तृत नहीं हुआ था कि उसमें प्रतियोगिता पनपती । पढ़ाई समाप्त होने के पहले ही नौकरी ठी हो जाती थी । उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में यह हालत बदली, यह वर्ग काफी विस्तृत हो गया और प्रतियोगिता आने लगी । १९१४ के महासमर के पश्चात् यह उग्र बन गई । इस समय एक बात और भी हुई । बिचली

मन्यम श्रेणी के बालक काफी बड़ी संख्या में शिक्षा पाने लगे । स्कूलों की रहन-सहन काफी ऊँची थी और आज भी है । वहाँ ठाट-बाट और सफाई पसन्द तो मनुष्य बनता है; परन्तु स्वयं सफाई करने का अभ्यास नहीं रह जाता, अपने हाथों से काम करना भूल जाता है । उस वर्ग के पास उतनी शक्ति नहीं है कि वह उस रूप में अपना निर्वाह कर सके, जिस रूप में जीवन-यापन करने का अभ्यास शिक्षालय दिया करते हैं । फलतः असन्तोष, निराशा और वेदना लेकर वह प्रतियोगिता के समुद्र में प्रवेश करता है । १९२१ के आन्दोलन में महात्मा जी ने इसी असन्तोष और निराशा के ज्वार को सक्रिय रूप देकर राष्ट्रोन्मुखी बनाने का प्रयत्न किया था । इस विफल प्रतियोगिता का सबसे दयनीय रूप १९२१ से ३७ तक की मन्दी के समय दिखाई पड़ता था । गत युद्ध ने विफलता को किंचित् सफलता में बदल डाला, परन्तु प्रतियोगिता की भावना और भी तीव्र कर दी ।

गत महायुद्ध ने भारत में बहुत बड़ी क्रान्ति ला दी है । यह क्रान्ति राजनीतिक जगत् में जितनी अधिक हुई है उससे हजार गुना अधिक मानसिक जगत् में; और जितनी देश के उन्नयन के अनुकूल हुई है, अगर उससे अधिक नहीं तो कम से कम उतनी ही प्रतिकूल भी । इस प्रतिकूलताओं में प्रतियोगिता के बुरे फल भी हैं, जो काफी बड़ी मात्रा में सहसा फलने लगे हैं । महायुद्ध के कारण आर्थिक समुद्र में एक महाज्वार उठा जिसने खाली को भर दिया और भरे को खाली कर दिया । युद्ध के पूर्व दरिद्र से धनी बनना एक रहस्यमय अज्ञात देवी व्यापार था । जमींदार-सेठ और बड़े किसान सबों के वैभव के पीछे भाग्य का सबल हाथ दिखाई पड़ता था । जमींदारों की सम्पत्ति अत्यन्त प्राचीन धरोहर थी । उसके पीछे इतिहास था । या तो वह ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय प्राप्त हुई थी या उससे भी प्राचीन थी और मुगलों से ही मिली थी । बड़े-बड़े व्यापारी या तो किसी देव की अलभ्य प्रेरणा से सहसा लाभ प्राप्त कर सेठ बने थे अथवा पीढ़ियों के परिश्रम, कृपणता तथा संग्रह-वृत्ति से संचय कर सके थे । बड़े किसान भी कई पुस्तों में ईश्वरीय इच्छा का सहारा पाकर खुरच-खुरच कर जमीन बटोरे हुए थे । किसी के लिए बिना भाग्य की सहायता के सहसा धनी बनना असंभव व्यापार था । इससे जन-समाज प्रयत्न तथा बुद्धि के बल पर धन कमाने की बात समझ ही नहीं सकता था । वह समझता था कि वैभव सम्पन्न होना पूर्व जन्म के पुण्यों का भोग है । वह अपने कर्तव्य पर विश्वास नहीं कर सकता था । श्रीमन्तों को वह पुण्यात्मा समझकर सिर झुका लेता था । उसके समान भाग्य पाने की प्रार्थना ईश्वर से करता था; परन्तु प्रतियोगिता की भावना उसकी कल्पना से

परे थी। इस युद्ध ने यह स्थिति बदल दी, उसने मुद्रास्फीति को जन्म दिया, जिससे जनता ने अपनी आँखों के सामने कई छोटी-छोटी दूकानों में बैठनेवाले भिक्खुओं को लक्खू बनते देखा, उसकी पुरानी धारणा बदल गई, उसकी आत्मा ही डोल गई, उसने समझ लिया धनी बनना आसान है, इसी जन्म की शक्ति और चालाकी का फल है, केवल परिश्रम तथा कार्य का ही नहीं। इस परिवर्तन ने सारे समाज को प्रतियोगिता की भावना से भर दिया। भाग्यवाद का पर्दा फाड़कर फेंक दिया। नियंत्रण ने बात की बात में चोरबाजारी तथा संचय (hoarding) के द्वारा सेठ बनने का महामंत्र प्रदान किया। बस, आवश्यकता थी लाईसेंस तथा साहस को। इस भावना ने किस प्रकार आज के महान नैतिक पतन का भवन खड़ा कर दिया, यह विषय आवश्यक तथा मजेदार होते हुए भी यहाँ अप्रासंगिक होगा।

युद्ध और उसके पुछल्ले मुद्रास्फीति (inflation) और नियंत्रण ने हमारे भीतर भौतिक प्रतियोगिता की भावना को जन्म दिया, यह स्पष्ट है। परन्तु इसके पालन, पोषण में आवश्यकताओं की वृद्धि और जीवनोपयोगी साधनों की दुर्लभता ने भी कम हिस्सा नहीं बँटाया है। कुछ दिनों पहले तक हमारी इच्छाएँ और कामनाएँ इतनी विस्तृत नहीं थीं। जीवन-धारण के सामान्य साधनों तक ही हमारी आवश्यकताएँ सीमित थी। हम रूखा-सूखा, भरपेट खाकर तथा तन ढकने भर का कपड़ा पाकर सन्तुष्ट रह सकते थे। कृषि-प्रधान देश होने के कारण हमारी हरी-भरी धरती-माता पेट भरने भर का अन्न दे दिया करती थी। इससे अधिक हमारी चाह ही क्या थी? इस शताब्दी के प्रथम द्वितीय चरणों में ही एक ही साथ दो भूत आ पहुँचे, जो दिन पर दिन अधिक भयंकर होते गए। प्रथम, पश्चिम का विलास और सौख्य-भृंगार जिसने हमारी आवश्यकताएँ असीम कर दीं; और दूसरा, हमारी भूमि के उत्पादन का ह्रास। जिसने हमारे कृषि-प्रधान देश को परमुखापेक्षी बना दिया। हमने प्रतियोगिता का मार्ग पकड़ा, जीने के लिए और अपने दिन काटने के लिए। इस युद्ध के समय जीवनोपयोगी सामानों की प्राप्ति कष्टसाध्य बनती गई और आज युद्ध खतम होने पर और भी कष्ट-साध्य बनती जा रही है। इस वातावरण में रोटी की चिन्ता सबसे बड़ी चिन्ता है। आज तो जनसंख्या का प्रायः ८५ प्रतिशत सम्पूर्ण निम्न वर्ग तथा आधा मध्यमवर्ग पेट के लिए ही जीता है। उसके दिन पेट में चन्द दाने डालने के लिए शारीरिक या मानसिक श्रम करने में ही व्यतीत होते हैं। इस चिन्ता से थोड़ा ऊपर उठ जाने पर हमारा पिंड नहीं छूटता। हमारे सामने सद्यः धनी बननेवालों की तस्वीर नाचने लगती हैं और हम उनकी पंक्ति में जाने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। यदि वहाँ पहुँच गये

तो थोड़े और ऊपर के व्यक्ति दीख पड़ते हैं और हमारा प्रयत्न उनके सम-
कक्ष जाने के लिए होने लगता है । इस चढ़ाव का आज कहीं अन्त नहीं है ।

हम कह सकते हैं कि मनुष्य की सम्पूर्ण शान्ति तथा आनन्द को छीनकर
उसे यह प्रतियोगिता वीरान और जंजर बना रही है । युग के विचारक
बरटेन्ड रसेल ने—जिन्हें कोई भी क्रांतिकारी और अनावश्यक प्रगतिशील होने
का दोष नहीं दे सकता, कुछ दिनों पहले युग के अभिशापों की गणना करते
हुए युद्ध आतंक के बाद ही दूसरा स्थान दिया था । “सामाजिक पदों या
सम्मान की अस्थिरता” की जो आपके भी मत से “आर्थिक विषमता के साथ
लोकतंत्र के मिश्रित हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न है”^१

प्राचीन काल में सामाजिक पद स्थिर थे । इसके लिये इस तरह
सतत् सधर्ष नहीं करना पड़ता था । लोग जहाँ थे वहाँ प्रायः सन्तुष्ट थे,
अथवा उन्हें सन्तुष्ट रहना पड़ता था । परन्तु आज सम्मान का पथ बहुत-
कुछ सार्वजनिक होकर खुल गया है । इस प्रतियोगिता तथा औद्योगिक
साहस (enterprise) के कारण प्राप्त करने योग्य सम्पत्ति की सीमा नहीं
है । पहले अत्यधिक या अपार धन-संचय करना सबों के लिये सम्भव नहीं
था । जो कुछ सम्भव था उसकी रक्षा का ऐसा समुचित प्रबंध नहीं था, इस-
लिये अतिरिक्त को किसी न किसी रूप में व्यय कर ही देना पड़ता था ।
खर्चोंले उत्सव, त्योहार तथा विराट धार्मिक अनुष्ठान उसीकी पूर्ति के लिये
थे । परन्तु आज वैज्ञानिक संचय तथा उद्योग और नाना उत्पादक कार्यों में
सीमाहीन प्रौजो लगाने की सुविधा ने वह रूप ही बदल डाला है ।

सम्पत्ति आज केवल जीवन के साधन ही नहीं सामाजिक पद तथा सम्मान
भी खरीदती है । पहले व्यापार से धन कमाने वाले वणिकों का स्थान, केवल
भारत में ही नहीं प्रायः सर्वत्र ही, धार्मिक गुरुओं तथा राजान्यों से नीचे था ।
वे इनसे हीन समझे जाते थे । आज धार्मिक गुरु तो नहीं रहे परन्तु साधारण
रूप में देखने से राजपुरुषों से वे आज भी निम्न ही स्थान रखते हैं । किंतु
आज पहले के समान वह पथ भी उनके लिये बन्द नहीं है वरन् उसमें जितनी
सुविधाएँ उनको हैं उतनी और को नहीं ; चाहिये केवल लेने की कला—
जिसमें द्रव्य भी बहुत अधिक सहायक होता है ।

सम्पत्ति के साथ ही राजनीतिक पद-प्राप्ति की सुविधा भी प्रतियोगिता
का एक विकट रूप सामने रख रही है । आज का राजनीति तो व्यक्तिगत
मताधिकार के कारण वोट की प्रतियोगिता के सहारे ही चलती है । जनतंत्र

१. fluidity of social status resulting from the combination
of democracy with economic inequality.

तथा अधिनायक-तंत्र दोनों में सहसा ऊँचे उठने की सीमा का अन्त नहीं है । साधारणतया सामान्य योग्य तथा अयोग्य भी परिस्थितियों, संयोगों तथा साधनों का सहारा पाकर बड़े से बड़े अधिकार का संचालक बन सकता है और बनता ही है । मध्य युग में भी जीवन के निम्न स्तर से निकलकर कुछ व्यक्ति राजा और सामन्त बनते थे, परन्तु इसकी अभिलाषा करने वाले शताब्दियों में दो-चार वीर ही हो सकते थे । आज के समान सहस्रों नहीं ।

इन प्रतियोगिताओं के चलते प्रतियोगियों में से अधिकांश के जीवन का दृष्टिकोण अत्यधिक संकुचित तथा सीमित हो गया है । चाहे सम्पत्ति-प्राप्ति की अभ्रान्त कामना हो या शक्ति प्राप्ति की, अथवा प्रशंसा-प्राप्ति की, मनुष्य इनके पीछे पड़कर जीवन की बहुत-सी अच्छी चीजों, नियामतों तथा भावों से हाथ धो लेता है । उसके सामने एक ही स्वप्न रहता है, एक ही लक्ष्य रहता है, जिसे छोड़कर और कुछ उसे दिखाई ही नहीं पड़ता । वह उसी के पीछे मरता रहता है । इसके तीन ही अन्त सम्भव हैं—सफलता, विफलता या अन्त तक इसी तरह संघर्ष । जो विफल होते हैं या संघर्ष ही करते रहते हैं उनकी कोई बात ही नहीं, सफल भी सुखी नहीं हो पाते । उसी प्रसंग में रसेल साहब कहते हैं कि—इस रूप में सफल मनुष्य भी “कठोर प्रतियोगिता की क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य किसी चीज में रस लेने की शक्ति ही खो देता है और प्राप्त अवकाश भी—जिससे वह आनन्द पाने की आशा रखता था, उसके लिये असहनीय रूप में थका देनेवाला बन जाता है ।”

रसेल साहब के दिमाग में प्रधानतया यूरोप है, परन्तु भारत की स्थिति तो इससे भी दुखद है । वहाँ के उद्योगपति तथा राजनीतिक पुरुष थोड़ा बहुत खेलते हैं, नाच भी लेते हैं, बाल-बच्चों के साथ टहल भी आते हैं, परन्तु यहाँ तो प्रातः से रात तक एक ही काम है, चाहे व्यापार हो या राजनीति हो । फलतः अस्वास्थ्य स्थूलता, चलने-फिरने में भी असमर्थ बना देनेवाली चर्बी की बढ़ती वृद्धि ही बड़प्पन का प्रधान लक्षण है । अपने मूल विषय के अतिरिक्त यदि किसी चीज में रुचि है तो केवल भोजन तथा वासना-पूर्ति में ।

यह स्थिति तो उन लोगों की है जो समाज तथा मित्रि की थोड़ी ऊँची चोटी पर विराजमान हैं । जो समाज के पैरों के नीचे हैं उन्हें पद की प्राप्ति के लिये, पापी पेट में दो दाने डालने के लिये, शरीर को थोड़े कपड़ों से ढँक-कर समाज में चलने-फिरने योग्य बनाने के लिये भी प्रतियोगिता के भयंकर आग में तपना पड़ता है, उसका कटु फल भोगना पड़ता है तथा समाज और सम्पर्क में आनेवाले लोगों को परखना पड़ता है ।

सामाजिक सम्बन्धों की गहराई में थोड़ा भी पंठकर देखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि आज सच्चे रूप में प्रतियोगिता मुक्त नहीं रह गई है। हम उस पुराने नारे का प्रयोग आज के जीवन की गन्दगी ढँकने के लिए तथा भोले लोगों को भुलावे में डाल रखने के लिये ही करते हैं। यह कौन नहीं जानता कि प्रथम विश्व-युद्ध के समय से ही पूँजी तथा उद्योग थोड़े हाथों में सिमट कर आ गये हैं? प्रतियोगिता करनेवालों की परिस्थितियों में प्राप्त सुविधाओं में इतना अन्तर आ गया है कि आरम्भिक चरण के समान उत्तम से उत्तम वस्तु-निर्माण तथा अधिक से अधिक सेवा की जो प्रेरणा मुक्त प्रतियोगिता से मिलती थी उसका गला आर्थिक विकास ने घोट दिया है। प्रतियोगी समान शक्ति और समान साधन-सम्पन्न होने पर ही सही माने में सच्ची या मुक्त प्रतियोगिता कर सकते हैं। परन्तु वह स्थिति ही समाप्त हो गई। द्वितीय विश्व-युद्ध ने तो इस प्रणाली में साँस लेनेवाली बची-खुची आत्मा की भी हत्या कर डाली। एक नये तरीके की एकाधिकार परिचालित प्रतियोगिता का बाजार गर्म है।

अब तो नियंत्रण (कंट्रोल) तथा मिश्रित अर्थ-प्रणाली (Mixed economy) का जोर है। जिसमें जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के वितरण या पूर्ति (supply) पर तथा उद्योग के एक बहुत बड़े भाग पर राज्य का नियंत्रण तो नहीं है परन्तु राज्य की देख-रेख है। अर्थात् किस वस्तु का वितरण कौन व्यापारी करे, किसे पूर्ति का एकाधिपत्य दिया जाय और किस नये उद्योग के कारखाने कौन खोले तथा किसे राज्य की ओर से कितनी सुविधा और कितनी सहायता दी जाय, यह निर्धारित करना शासन का काम है, चाहे कोई भी कसौटी हो। इस प्रकार तरह-तरह के व्यापक कंट्रोल तथा राज्य द्वारा नियंत्रित, स्वीकृत तथा सहायता-प्राप्त (subsidised) उद्योग की प्रणाली में प्रतियोगिता का क्षेत्र तथा रूप ही बदल डाला है। इसमें सामाजिक सेवा तथा माल की उत्तमता के लिये होनेवाली प्रतियोगिता नहीं जी पाती, प्रतिद्वंद्विता होती है; शासकों तथा राज्य से किसी भी रूप में सम्बन्धित पुरुषों को खुश करने की, खुश करते रखने की तथा इनके सहारे जनता की आँखों में धूल झाँकते रहने की।

मुक्त प्रतियोगिता वास्तव में मर गई। इस प्रणाली में जो कुछ भी उत्कृष्टता थी, जो कुछ बनाये और बचाये रखने की चीज थी वह पहले ही अपने आप ही समाप्त हो गई। किन्तु इसके चले जाने पर भी मानसिक रूप में जो बुराईयाँ थीं, जो गन्दगियाँ थीं, वह और भी सड़ांध पैदा कर रही हैं और समाज का जीवन दूभर बना रही हैं। हमारे सारे निर्माणों की सुन्दर कल्पनाएँ इनके चलते व्यवहार में आते ही गन्दी, भद्दी, कुरूप तथा मरियल हो जाती

हैं। क्या इससे निकलने के लिये कोई राह नहीं है ? हैं, अवश्य हैं, परन्तु उसे ढूँढना पड़ेगा, आँखें खोलकर खोजना होगा।

समाज के भौतिक क्षेत्र के समान ही वरन् उससे भी अधिक, आरम्भ में बौद्धिक क्षेत्र में मुक्त प्रतियोगिता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बुद्धिजीवी वर्ग को विश्वास था। वह भी सोचता था कि बन्धनों से रहित हो जाने पर स्वतन्त्रता के साथ बुद्धि भी आगे बढ़ेगी तथा प्रतियोगिता का स्वतः चालित यंत्र उनमें भी सर्वोत्तम को लाता रहेगा और इस तरह समाज तथा जगत् को सतत् प्रगति (gradual progress) होती जायगी। परन्तु उसकी इस आशा पर तो और भी पहले ही पानी फिर गया। यह निराशा तीनों क्षेत्रों में हुई। सामाजिक सम्मान के क्षेत्र में, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के क्षेत्र में तथा सर्वोत्तम बुद्धि और ज्ञान-विकास के क्षेत्र में।

आरम्भ में बुद्धिजीवियों ने समझा था कि अब संसार का संचालन धर्म और शारीरिक शक्ति नहीं वरन् बौद्धिक शक्ति करेगी, इसलिए उन्हें यथोचित सामाजिक-सम्मान प्राप्त होगा। धर्मतंत्र तथा राजदरबारी के संकुचित वातावरण से मुक्त होकर वे अपनी सेवाएँ समाज को दे सकेंगे और बदले में समाज उन्हें अपना श्रद्धालु हृदय समर्पित करेगा। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। यह शीघ्र ही पता चल गया कि समाज संचालन जिन गुणों या अवगुणों के बल पर होता है उनका अनिवार्य विकास बुद्धिजीवियों में बहुत कम हो पाता है। जनतंत्र ने मतदान द्वारा राज के ऊँचे से ऊँचे पद सर्व-साधारण के लिये सुलभ कर दिये। किन्तु मध्य तथा उच्च श्रेणी के जिन-जिन वर्गों से राजपुरुष निकले उनमें बुद्धिजीवियों से सबसे कम पैदा हुए। सबसे अधिक व्यापारी-वर्ग से आये, तब पुरातन सामन्तों तथा राजान्यों की सन्तानों से। बुद्धिजीवी वर्ग पिछड़ा रहा, इतना ही नहीं, यह भी अनुभव किया गया कि अधिक कल्पनाजीवी होने के कारण राजनीति के लिये आवश्यक व्यावहारिकता के अभाव में विद्वान लोग ऊँचे पदों पर पहुँच जाने के बाद सम्हाल नहीं पाते। इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका में चोटी के विद्वान् एकाध को छोड़कर क्या राज्य के सर्वोच्च पद की प्राप्ति कर सके हैं ? हम तो पाते हैं कि पुराने राजतंत्रों में अनेक ऊँचे विद्वान् राज्य के कर्णधार रह चुके हैं परन्तु इस लोकतंत्र में नहीं हो सकते। इसका अर्थ क्या है ? दोष किसमें है, पता लगाना कठिन है। ऐसा लगता है कि मैनहेम का यह कथन सच है कि आज के जीवन में योग्यता तथा ईमानदारी ही काम नहीं कर सकती क्योंकि “अपना अभिप्राय सदा बदलते रहने वाले राजनीतिक

सिद्धान्तों के बीच प्रचलित संघर्षों में सत्य की अपेक्षा अपने को समयानुकूल ढाल लेने की कला ही सफलता के लिये निर्णायक तत्व है^१ ।

माननीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है कि जनतंत्र पर उन लोगों का ही एकाधिकार हो रहा है, जिनकी आवाजें ऊँची (loud voices) हैं, चगड़े मोटे (hard skin) और विवेक-बुद्धि रंग बदलते रहनेवाली (accomodating conscience) है ।^२

इस वर्ग ने देखा कि सम्पत्ति की उपलब्धियाँ जितना सम्मान दे सकती हैं उतनी विद्या-बुद्धि की नहीं । राज्य-शक्ति तथा सम्प्रदाय की शक्ति के सामने उसकी बुद्धि लुढ़कती फिरती है, उसके पास एक ही उपाय रह गया है, वह है भाट बनकर अन्यो का गुणगान करना । राजाओं तथा सामन्तों के दरबारों में भी तो वह वही करता था, परन्तु वहाँ वह पारिश्रमिक अनेक रूपों में पा जाता था, यहाँ वह भी समाप्तप्राय है ।

एक बात और हुई, सार्वजनिक सेवाओं का विकास हुआ । बुद्धिजीवियों का एक छोटा-सा वर्ग शिक्षा-समाप्ति के बाद ही राज्य की सेवा में नियुक्त किया जाने लगा । यह वर्ग एक प्रकार से विद्या से अलग ही कर दिया जाता है । परन्तु इसका सम्मान, इसकी प्रतिष्ठा और इसे मिलनेवाली जीवन की सुविधाओं की तुलना में सारा जीवन विद्या को ही दे देनेवाले तुच्छ-से लगते हैं इससे बड़ी निराशा की बात क्या होगी ?

बुद्धिजीवी भी मनुष्य हैं, इन्हें भी पेट है, भूख है, जीवन की लालसा है, आधुनिक समाज में अपनी सन्तानों की कुछ दे जाने की कामना है । यह, देखा जा रहा है कि आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग वाले केवल उद्योग में ही नहीं, सभी क्षेत्रों में बुद्धिजीवियों की सन्तानों को खदेड़ते जा रहे हैं । मैनहम ने १९२५ में निकला हुआ लिपजिग का एक आंकड़ा पेश किया है, जिससे स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों के उच्च पदों पर जितने आसीन हैं उनमें ४०.५ प्रतिशत ही उच्चबुद्धि पिता की सन्तान हैं जबकि ३७.२ प्रतिशत उच्च आर्थिक वर्ग से आये हैं । अर्थात् केवल ३.३ प्रतिशत कम है । मुझे तो लगता है कि आज तक शायद यह अन्तर भी मर गया होगा, वरन् उलट गया होगा । तीसरे ही अधिक हो गये होंगे । जीवन के उच्च क्षेत्रों में सम्पूर्ण रूप से २८.९ प्रतिशत तक बुद्धिजीवियों की सन्तान है, परन्तु अर्थपतियों की सन्तानें ५४.४

“In the prevailing conflict between political principles which rapidly are changing their meaning expediency rather truth is the decisive factor”—Man and Society.

2. Discovery of India.

प्रतिशतक हैं। विद्या भीमार्थ की दासी बन रही है, इसकी सेवा के लिये भी रुपये आवश्यक हैं। क्या संसार के लिये और विशेषतया अर्थ के क्षेत्र में पिछड़े लोगों के लिये सबसे बड़ा दुर्भाग्य नहीं है ? एक विद्वान् का यह कहना सोलहो आने सत्य है कि १७वीं-१८वीं सदी में एक दरिद्र परन्तु प्रतिभावान् बालक के मानसिक विकास के लिये जितने रास्ते थे १९वीं-२०वीं सदी में उतने नहीं रह गये।

सर्वोत्तम बुद्धि तथा कला के विकास के लिये यह परिस्थिति कितनी घातक है, कहने की आवश्यकता नहीं। जहाँ बुद्धिजीवी सब तरह से उपेक्षित हैं, राज्य-शक्ति के द्वार पर उद्योगपतियों के सामने हाथ फैलाये बिना, अपनापन बेंचे बिना पेट नहीं भर सकते वहाँ विद्या और कला क्या उन्नति करेगी ? पत शताब्दी ने इस क्षेत्रों में भी अनेक महापुरुष पैदा किये, यह पीढ़ी भी कर सकेगी, ऐसा विश्वास नहीं होता। हमारे काव्य का करुण स्वर वास्तव में इसी दयनीय दशा की पुकार है, अथवा मानसिक सन्तोष के लिये निकली हुई आहत व्यक्तित्व की ललकार है। किस तरह इसे हम स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करें और किस तरह उच्च प्रतियोगिता की सुखद देन मानें ?

उपेक्षा (Aversion)

सहयोग और संघर्ष के समान उपेक्षा जीवन का कोई विशेष भाव नहीं है। उपेक्षा वस्तुतः निष्क्रिय संघर्ष है। उपेक्षा द्वारा हम किसी वाह्यपदार्थ या वाह्य संस्कार को अपने में आने नहीं देते। एक प्रकार से उपेक्षा एक दीवाला का काम करती है। जो संस्कार या जो विचार हमसे बाहर हैं, जिनको हमारा सहयोग नहीं मिल सकता; परन्तु जिनसे हम कई कारणों से संघर्ष भी नहीं कर सकते, उनसे हमारा उपेक्षा भाव रहता है। इस उपेक्षा में जब संवेग शामिल हो जाता है, तो वह घृणा में परिणत हो जाती है। यह घृणा सक्रिय बनकर संघर्ष हो जाती है।

उपेक्षा की उत्पादिका प्रधान रूप में रुचि की विभिन्नता ही है, परन्तु विकल प्रतिद्वन्द्विता भी दबकर उपेक्षा बन जाती है। उपेक्षा एक क्षणिक भाव है जिसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता समाज के अध्ययन के लिए नहीं है और वह संघर्ष में ही निहित है। उदासीनता उपेक्षा से भी नरम है। वस्तुतः सामाजिक जीवन में उदासीनता नहीं मिला करती।

खण्ड चौथा

[सामाजिक नियंत्रण]

आठवाँ प्रकरण

सामाजिक नियंत्रण—सामान्य

समाज-शास्त्र के कई पारिभाषिक शब्दों के समान सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप, सीमा तथा परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद रहा है और आज भी थोड़ा-बहुत मौजूद है। सामान्यतया मतभेदों के निम्न आधार हो सकते हैं :—

(१) साधारण बोलचाल की भाषा में नियंत्रण का अर्थ होता है मनमानी गति और कार्यों की रोक-थाम। इसीलिए शान्ति और व्यवस्था (peace and order) को नष्ट करनेवाली हरकतों पर लगाया हुआ सरकारी अंकुश नियंत्रण कहलाता है। इस युद्ध ने इस शब्द को एक नया रूप दिया है। उत्पादन मूल्य और वितरण आदि पर लगे अंकुश को नियंत्रण कहने लगे हैं। उद्योग-सम्बन्धी नियंत्रण का अभिप्राय होता है व्यक्तिगत पूँजी और मुक्त प्रतियोगिता का राष्ट्र के लिए उपयोगी बन्धनों द्वारा नियमन। यह पूँजी तथा उत्पादन की पद्धति को जनहित के विपरीत जाने से रोकने का एक मधुर रूप है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सामाजिक नियंत्रण भी व्यक्ति पर समाज के हित में लगाए हुए अंकुश हैं। इन अंकुशों के भी दो रूप हो सकते हैं, प्रभुता तथा मार्ग-दर्शन। अंग्रेजी में नियंत्रण (Control) शक्ति-क्षमता तथा अधिकार का बोधक है; पर फ्रेंच, जर्मन तथा रूसी आदि योरोपीय भाषाओं में इसका मूल अर्थ होता है देखभाल (supervision), निरीक्षण, चौकसी, (surveillance) और नियमन। प्रसिद्ध समाजशास्त्री जी० गुरविच (G. Gurvitch) के अनुसार अमेरिका के समाजशास्त्रियों में डॉ० ए० रास (E. A. Ross) और सी० एच० कुले (C. H. Cooley) आदि ने योरोपीय भावना के अनुसार नियंत्रण का प्रयोग देखभाल और मार्ग-दर्शन के अर्थ में किया है। परन्तु गिडिंग (F.H. Gidding) और यंग (Kim-

'bal young) ने अंग्रेजी ही अर्थ लिया है । इन दोनों अर्थों में सामाजिक नियंत्रण को अंकुश स्वीकार करने से दो धारणाओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । (१) एक ओर समाज है, दूसरी ओर समाज के सदस्य-व्यक्ति हैं । समष्टि के हित में ही नहीं समाज व्यक्ति को और उसकी स्वतंत्रता को सीमित करता है ।

(२) सामाजिक नियंत्रण ऊपर से लगाई या लादी हुई वस्तु है । फ्रायड और उससे प्रभावित मनोविज्ञानवेत्ताओं ने व्यक्ति और समाज के संघर्ष पर अधिक जोर दिया है । उनका विश्वास है कि व्यक्ति के स्वाभाविक विकास तथा उनकी कामनाओं और भावनाओं की तुष्टि के मार्ग में समाज बाधक है । इस विचार के अनुयायियों ने नियंत्रण का एक ही रूप लिया है । फ्रायड का मनोविज्ञान एक विशिष्ट समाज के मनस्त्व का एकांगी विश्लेषण है । वह शास्वत सत्य नहीं है । व्यक्ति का नियंत्रण समाज करता है और लोक-विरुद्ध कामनाओं की पूर्ति में बाधा भी डालता है, इसमें संदेह नहीं; परन्तु व्यक्ति की सारी कामनाएँ प्राकृतिक प्रेरणा से ही उत्पन्न नहीं हैं, वरन् उनमें समाज की ही देन अधिक है । भूख हमारी प्राकृतिक प्रेरणा है; परन्तु जो कुछ जंसे मिले वंसे ही खाकर हम संतुष्ट नहीं रह सकते । हम चाहते हैं समाज के संस्कार के अनुसार, समाज की दी हुई पद्धति से भोजन करना । इसलिए एक ओर नियंत्रण हमारा नियमन करता है तो दूसरी ओर हमारा निर्माण भी करता है । वह केवल नियामक ही नहीं निर्माता भी है । जन्म के पश्चात् ही वह हमें रूप देने लगता है । समाज-शास्त्र^१ में जिसे समाजीकरण (Socialisation) कहते हैं वह नियंत्रण से ही उत्पन्न सन्निकर्ष, वातावरण, आवेष्टन तथा संस्कार का फल है । सामाजिक नियंत्रण दबाता ही नहीं, ढालता भी है । तोड़ता ही नहीं, मोड़ता भी है; व्यक्ति को स्वतंत्रता समाज में ही मिल सकती है । समाज से बाहर उसकी स्वतंत्रता का कोई मूल्य ही नहीं है । सामाजिक नियंत्रण को भार मानकर जो परिभाषा की जायेगी वह एकांगी और अपूर्ण होगी तथा उससे हमारा मतलब हल नहीं होगा ।

सामाजिक नियंत्रण पर सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन करनेवाले इ० ए० रास ने आरंभ में इसे इच्छित अथवा सकाम सामाजिक उन्नयन (intended or purposeful social ascendancy) के रूप में ही रखा है और उसकी दृष्टि में यह नियमित बनानेवाली संस्था (regulative institutions) है । इसका अभिप्राय है कि यह सोच-समझकर ऊपर से लायी हुई वस्तु है । इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सामाजिक नियंत्रण

प्रत्यक्ष तथा इच्छित है। समाज को व्यवस्थित करने के लिए प्रत्यक्ष नियम में से बहुत अधिक अप्रत्यक्ष-प्रभाव काम करते हैं। हमारे सामाजिक जीवन का एक-एक पग अप्रत्यक्ष प्रभावों, निर्देशों तथा अभ्यासों का परिणाम है। रास भी आगे चलकर इसकी उपेक्षा नहीं कर सका और उसने स्वीकार किया कि सामाजिक नियंत्रण का उत्तमतर रूप आन्तरिक (inward) है। उसने आशा प्रकट की कि भविष्य में ये आन्तरिक रूप—शिक्षा, निर्देश और सामाजिक कला आदि प्रधान भाग लेंगे। सामाजिक नियंत्रण के साधनों में उसने जन भावना (public opinion), कानून, विश्वास, सामाजिक निर्देश, शिक्षा, प्रथा, धर्म, व्यक्तिगत आदर्श विधि, कला ज्ञान, भ्रम सामाजिक मूल्यांकन और आचारात्मक तत्त्वों को गिनाया है, इनमें से कानून, ज्ञान तथा आचारात्मक तत्त्वों के सिवाय कोई ऐसा नहीं है जिसे हम 'इच्छित' के अन्तर्गत पूरे रूप में रख सकें।

सी० एच० कुले ने सामाजिक नियंत्रण को समाज का आत्म-नियंत्रण माना है। उसकी दृष्टि में व्यष्टि जीवित सामाजिक सम्पूर्णता से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए सामाजिक नियंत्रण केवल व्यष्टि का ही मार्ग-दर्शन नहीं करता, वरन् इस सम्पूर्ण को आन्तरिक रूप में पथ बतलाता है।

वस्तुतः सामाजिक नियंत्रण प्रभुता तथा अधिकार भी है, रोक-थाम मार्ग दर्शन भी। वह प्रत्यक्ष भी है और अप्रत्यक्ष भी। वह इच्छित भी है और स्वतः उद्भूत तथा आम-नियंत्रण भी। वह व्यष्टि पर लादी हुई वस्तु नहीं उसके सामाजिक अस्तित्व से उत्पन्न एक चेतना और भावना भी है; वह बाह्य नहीं, आन्तरिक भी है।

(२) समनर ने सामाजिक नियंत्रण की समस्या को प्रथाओं तथा जन-रीतियों पर केन्द्रित कर दिया है। उसने इन्हीं की आंखों से सामाजिक नियंत्रण के सभी पहलुओं को देखा। जन-रीतियों तथा लोकाचारों का थोड़ा विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में आगे होगा। इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक नियंत्रण प्रथाओं तथा जन-रीतियों द्वारा अपना कार्य करता है। परन्तु जन रीतियाँ अपेक्षाकृत स्थिर-सी लगती हैं और नियंत्रण इतना गतिहीन नहीं है। समनर के इस केन्द्रीकरण का फल यह हुआ कि बहुत से समाजशास्त्री सामाजिक नियंत्रण को समाज की स्थिरता के—जिसे वे व्यवस्था (order) कहते हैं; पक्षपाती तथा समर्थक समझने लगे। एल० टी० हाबहाउस आदि कई विद्वान इस व्याख्या से संतुष्ट नहीं हो सके। उन्होंने सामाजिक नियंत्रण की प्रगति का समाजशास्त्र (Sociology of progress) प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। उनके मतानुसार कठोर लोकाचारों के पीछे भी एक भावना

हैं जिसमें उनकी पूर्णता है। वे सामाजिक आदर्श की ओर झुके रहते हैं। इनके सिद्धान्त को यदि हम सरल शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ये लोग यह मानते थे कि समाज सतत प्रगति पर है। उसके सामने उच्चतर आदर्श नवीन मूल्य और विचार मौजूद हैं और वह उनकी ओर बढ़ता है। लोकाचार इस नव आदर्श से प्रेरित सामाजिक जीवन का आध्यात्मिक पहलू है उनसे इस आदर्श की भावना समाज के सदस्यों के हृदय में प्रविष्ट करती है।

१९ वीं सदी के आरम्भ से ही प्रगति और स्थिरता के सिद्धान्तों का संघर्ष ज्ञान तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में चलता आ रहा है। जी० के० चेस्टरटन ने विक्टोरिया-युग के साहित्य और समाज का विश्लेषण करते हुए कहा है—

“परन्तु यद्यपि इस सरल विक्टोरिया-युगीन बुद्धिवाद ने अपना स्थान जमाये रक्खा और कुछ अंशों में विक्टोरिया-युग का अभिप्राय ही बुद्धिवाद है, तो भी कई दिशाओं से इस पर प्रहार हुआ और इस युग के आरम्भ के पहले से ही ये प्रहार होते आ रहे थे। इस युग का शेष बौद्धिक इतिहास लहरों पर लहर के रूप में आनेवाली प्रतिक्रियाओं का क्रम है। ये बुद्धिवाद को हिला देने में सफल हुए, आधुनिक मस्तिष्क से निकाल बाहर करने में नहीं।”

समाज-शास्त्र में इस प्रतिक्रिया को नूविज्ञान के विस्तृत शोध से भी सहारा मिला। समनर और उसके पीछे जे० डेविस, एच० ई० वारनेसने सामाजिक नियंत्रण को, प्रथाओं, जनरीतियों, लोकाचारों और लोक-व्यवहारों, अभिसमयों (conventions) तथा संस्थाओं के नियमों तक सीमित कर दिया। इनके पीछे बुद्धिवाद विरोधी भावना तथा आदिम जातियों के सामाजिक संघटनों की रूपरेखा काम कर रही थी। आदिम जातियों का समाज प्रथाओं से ही परिचालित होता है। इससे इन्होंने मान लिया कि नियंत्रण का अर्थ है प्रथा।

पहले बुद्धिवादी भी सामाजिक चेतना और विकास प्रगति एवं उन्नति के शाश्वत-तत्त्व पर विश्वास करते थे। इसलिए सामाजिक नियंत्रण ही नहीं, स्वयं लोकाचारों को भी नव युग की चेतना का आन्तरिक आध्यात्मिक रूप मानते थे। जैसे-जैसे समाज की आवश्यकता बदलती है वैसे-वैसे लोकाचार भी बदलते हैं। अब बुद्धिवाद पर विश्वास हो या न हो सामाजिक चेतना तथा उत्तरोत्तर उन्नति पर विश्वास नहीं रहा और आज के विश्लेषण ने यह स्पष्ट कर दिया कि लोकाचार तो स्थिरता का समर्थक है और न

प्रगति का आध्यात्मिक पहलू । उसके निर्माण तथा विकास में अनेक तत्त्व काम करते हैं, जो कुछ सूक्ष्म भी हैं, स्थूल भी, प्राचीन परम्परा के अवशेष भी और नवीनता से उद्भूत भी, स्थिरता के समर्थक भी और प्रगति के प्रेरक भी । लोकाचार सामाजिक नियंत्रण का एक अंश मात्र है, सम्पूर्ण नहीं । सामाजिक नियंत्रण न तो प्राचीनता का पोषक है न प्रगति की प्रेरणा । वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, चेतन और अचेतन प्राचीनता और नवीनता का संगम-स्थल है । वह जितना अनुदार या दकियानूस (Conservative) है उतनाही क्रान्तिकारी भी ।

(३) सामाजिक नियंत्रण भिन्न-भिन्न समाजों या सभुदायों में भिन्न-भिन्न रूपों में काम करता है । वह कहीं प्रकट रहता है, कहीं छिपा हुआ । सामाजिक नियंत्रण रहस्य नहीं है । परन्तु हमारे सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग होने के कारण उसके कई रूप और कई पहलू हममें घुलमिल गये हैं । इससे अज्ञात-से लगते हैं । एल० एल० बर्नार्ड (L. L. Bernard) ने इसे सामाजिक मनोविज्ञान की कोटि में रखते हुए लिखा है—

“नियंत्रण स्वतः एक गति-क्रम है जो कुछ व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के समुदाय को सफल उत्तेजना देता है । जिससे उनमें प्रतिक्रियाएँ होती हैं; जो अभियोजन या अनुकूलन की स्थिति में कार्य करती हैं । ये (उत्तेजनाएँ) एक प्रकार से अनुकूलन की स्थिति में कार्य करती हैं । जो नियामक अथवा नियंत्रित का ज्ञात उद्देश्य हो सकता है । या नहीं भी हो सकता; यही प्रधान तथ्य है जिससे नियंत्रित प्रतिक्रियाएँ होती हैं” ।¹

कहने का अभिप्राय है कि नियंत्रण उत्तेजना देता है जिससे उसके अनुकूल प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं । नियंत्रण करनेवाले या नियंत्रित कभी-कभी जानबूझकर ऐसी प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तेजना की व्यवस्था करते हैं और कभी-कभी ये प्रतिक्रियाएँ अज्ञात रूप से ही होती हैं; हमारी जानकारी के बिना भी और हमारे उद्देश्य के विपरीत भी । परन्तु इन सभी उत्तेजनाओं को उत्पन्न करनेवाली गति को हम नियंत्रण के नाम से ही पुकार सकते हैं ।

1. Control itself is a process by which stimuli are brought to bear effectively upon some person or group of persons, thus producing responses that function in adjustment situations..... The essential fact which rendered them controlled responses is that they function in some sort of adjustment situations which may or may not be the conscious objective of the controllers or the controlled, Social Control in its sociological aspects.

इसे ही और सरल शब्दों में पी० एच० लैंडिस (Paul H. Landis) कहता है—

“सामाजिक नियंत्रण सामाजिक गति का एक क्रय है । जिससे व्यक्ति समुदाय के प्रति जिम्मेवार होता है; जिससे सामाजिक संगठन बनाए जाते हैं और सुरक्षित रहते हैं; जिससे मानवीय व्यक्तित्व समाजीकरण के द्वारा निर्मित होते हैं^१ ।”

इस भिन्नता के विभिन्न पहलुओं तथा विभिन्न रूपों के कारण भिन्न-भिन्न परिभाषायें सामने आती हैं । कोई किसी उत्तेजना को प्रधान मानता है, कोई किसी को ।

(४) सामाजिक जीवन में सामूहिक प्रतीक आदर्श और मूल्य बहुत महत्वपूर्ण हैं । इनके पीछे एक सामूहिक भावना रहा करती है जो व्यक्ति को समूह के साथ आबद्ध करती है । अस्तु समाजीकरण तथा व्यक्ति के स्वरूप निर्धारण में इनका बड़ा ऊँचा स्थान है । यहाँ तक कोई मतभेद नहीं है; परन्तु इनका समाज की वस्तु स्थिति (social reality) से क्या सम्बन्ध है, इस विषय में गहरा मतभेद है । कुछ लोग यह मानते हैं कि आदर्श, मूल्य, प्रतीक स्वतंत्र तत्त्व हैं जो समाज का निर्माण करते हैं । अर्थात् समाज की वस्तुस्थिति इन्हीं से बनती है । दूसरा दल यह मानता है कि समाज और उसकी स्थिति से ही प्रतीक आदर्श आदि बनते हैं । प्रथम दल को हम आदर्शवादी या विचारवादी (idealist) कह सकते हैं और दूसरे को वस्तुवादी (positivist) । वस्तुतः दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध है । समाज में ही हम आदर्श की कल्पना कर सकते हैं और उसका अनुभव प्राप्त कर सकते हैं; वह समाज से भिन्न स्वर्ग से गिरा हुआ नहीं हो सकता । समाज ही वह धरातल है, जिस पर प्रतीक, आदर्श तथा मूल्य खड़े हो सकते हैं, इनका मूल्य समाज से अलग कुछ नहीं है; परन्तु सारे मूल्य आदर्श आदि सामाजिक विकास की ही उपज हैं । यह कहना भी सत्य नहीं है । दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक दूसरे के स्वरूप निर्धारण में सहायक हैं ।

1. a series of social process by which individual is made group responsible, by which social organisation is built and maintained.....by which human personality is formed through socialisation—Social Control. Social Organisation and Disorganisation in Process.

सभी विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए जार्जस गुरविच (Georges Gurvitch) ने निम्न सीमा निर्धारित की है :—

“कुल वरन् सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचों, सामाजिक प्रतीकों, सामूहिक आध्यात्मिक अभिप्रायों, मूल्यों, विचारों और आदर्शों, साथ ही इनसे प्रत्यक्षतः सम्बन्धित क्रियाओं और गतियों के रूप में हम सामाजिक नियंत्रण की सीमा निर्धारित कर सकते हैं, इनसे सम्मिलित समाज प्रत्येक विशिष्ट समुदाय और प्रत्येक शामिल व्यक्ति सदस्य अपने भीतर के द्वन्द्वों तथा संघर्षों पर क्षणिक संतुलन के द्वारा विजयी होता है और नवीन निर्माणात्मक प्रयासों के लिए कदम बढ़ाता है।”

गुरविच ने भी इस परिभाषा में प्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण की उपेक्षा की है, तो भी वह अन्य परिभाषाओं से विस्तृत है। सामाजिक नियंत्रण को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक नियम (social codes) और सामाजिक समनुज्ञाओं (sanctions) का विवेचन करना हमने अधिक आवश्यक समझा है। हमारी दृष्टि में सामाजिक नियंत्रण नियमों के द्वारा अपना स्वरूप प्रत्यक्ष करता है और समनुज्ञाओं के द्वारा कार्य करता है। इसलिए वे ही अंग हैं जिनका चित्र नियंत्रण का चित्र है।

समाज-शास्त्र के कई विद्वानों ने सामाजिक नियंत्रण के विभेद (kinds), स्वरूप (forms) तथा अभिकरण (agency) के निर्धारण पर भी काफी जोर दिया है; परन्तु इनके सम्बन्ध में कोई भी प्रधान दो विद्वान् शायद एक मत नहीं हैं। उदाहरण के लिए धर्म नैतिकता आदि विभेद हैं या अभिकरण या साधन, आज तक निर्धारित नहीं हो सका, कोई इन्हें विभेद मानता है, कोई अभिसमय, कोई साधन। विशेष कठिनाई विभेद और अभिकरण के निर्धारण में है। इन्हीं झंझटों से बचने के लिए सामाजिक नियम और समनुज्ञाओं का सहारा पकड़ा गया है।

1. social control can be defined as the sum total or rather the whole of cultural patterns, social symbols, collective spiritual meanings, values, ideas and ideals, as well as acts and processes directly connected with them, whereby inclusive society, every particular group, and every participating individual member overcome tensions and conflicts within themselves through temporary equilibria and takes steps for new creative efforts.¹

नवाँ प्रकरण

सामाजिक नियम

[सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कोई स्थिर नियम एवं क्रम काम करते हैं, आज का विज्ञान इसे नहीं मानता; परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जहाँ कोई स्पष्ट नियम नहीं दिखाई पड़ता और साधारण आँखों से जहाँ नियम की संभावना नहीं रहती, वहाँ भी भीतर ही भीतर नियम रूप ग्रहण करते रहते हैं। भाषाएँ इसके सुन्दर उदाहरण हैं। किसी भी भाषा की अशुद्धियों से ही नवीन बोलियों का धीरे-धीरे उद्भव होता है। और हम कह सकते हैं कि नियमों की जटिलता में सरलता और स्वच्छन्दता लाने के लिए ही ये अशुद्धियाँ होती हैं, परन्तु नई ग्रामीण कही जानेवाली बोलियों में भी नियम बनते रहते हैं। कोई भी भाषा या बोली व्याकरण से हीन नहीं है भले ही उसके व्याकरण के नियमों की किसी ने खोज न की हो। ठीक यही स्थिति समाज की भी है। समाज में भी जहाँ नियम स्पष्ट रूप में नहीं दिखाई पड़ते वहाँ भी अपना काम करते रहते हैं। सामाजिक नियम कुछ तो निर्मित हैं एवं स्पष्ट हैं। पर जो निर्मित नहीं हैं वे भाषा के नियमों की अपेक्षा अस्पष्ट और उलझे हैं।

समाज के इन ज्ञात और अज्ञात, स्पष्ट और अस्पष्ट, निर्मित और स्वतः रूप ग्रहण करने वाले नियमों के समूह को हम सामाजिक नियम (social codes) कहते हैं। ये मानव के निर्माण और उसके समाज तथा समाज की रूपरेखा के विकास और विधान में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

सामाजिक नियमों को हमें प्राकृतिक नियमों की आँखों से देखने की भूल नहीं करनी चाहिए। प्राकृतिक नियम स्थिर, सर्व काल-व्यापी और अपरिवर्तनशील हैं, परन्तु सामाजिक नियम देश और काल के अनुसार रूप ग्रहण करते हैं। हम कह सकते हैं कि सामाजिक नियमों के मूल में किसी-न-किसी प्रकार

प्राकृतिक नियम और प्राणिधर्म मौजूद रहते हैं। परन्तु उनपर संस्कृति, देश और काल का घना आवरण छाया रहता है। इस आवरण का रूप-रंग एक नहीं है, वह क्षण-क्षण बदलता रहता है। यद्यपि परिवर्तन का स्वरूप सदा स्पष्ट (discernible) नहीं होता। यौनसम्बन्ध एक प्राणिधर्म है; इसके नियम की चेष्टा विवाह का रूप ग्रहण करती है। जो हर संस्कृति में, हर देश में तथा हर युग में भिन्न है।

सामाजिक नियम सैंक आइभर के शब्दों में आदर्शात्मक या व्यवस्थात्मक (normative or prescriptive) हैं। अर्थात् सामाजिक नियम एक आदर्श का रूप देते हैं। एक आचार की व्यवस्था प्रदान करते हैं; अस्तु वे अनुल्लंघनीय हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। समाज के सदस्य उन्हें तोड़ सकते हैं और तोड़ते भी हैं। प्राकृतिक नियमों को जान कर अथवा अनजान में तोड़ने-वाला उसका दंड अवश्य पाता है। विष जो समझ-बूझ कर खायागा वह भी मरेगा, जो अनजान में खायेगा वह भी काल-कवलित होगा। परन्तु सामाजिक नियम में सर्वदा ऐसी स्थिर दण्ड-व्यवस्था नहीं है। राजतंत्र दंड देता है किन्तु सभी वाचनिक, कानिक और मानसिक अपराधों का दंड मिलता ही है ऐसी बात नहीं है, बल्कि हम यों कह सकते हैं कि राजतंत्र दो प्रतिशतक अपराधों के भी दण्ड नहीं दे पाता।

अधिकांश सामाजिक नियम समाज के बहुमत को रचिकर होते हैं। समाज के सदस्यों का एक दूसरे से क्या व्यवहार हो, तथा सम्पूर्ण समाज का एक-एक सदस्य से एवं एक-एक सदस्य का सम्पूर्ण समाज से क्या सम्बन्ध हो; सामाजिक नियम प्रधान रूप में इसकी व्यवस्था देते हैं। मानव एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज के अस्तित्व से कुछ-न-कुछ अवगत रहता है तथा अपने को समाज के अनुकूल ढालते रहने की किन्हीं-न-किन्हीं श्रंशों में कोशिश करता है, अस्तु सामाजिक नियम जन-समाज के हृदय के निकट रहते हैं। वह उनमें अपनापन पाता है, उनको वह अपने पर लादा हुआ नहीं समझता। पीढ़ियों के संस्कार और लगाव के कारण वे उसके प्रिय होते हैं। इनकी प्रियता का प्रेरक उदात्त स्वार्थ (enlightened self-interest) भी है।

मानव की यह प्रियता सदा एक-सी नहीं रहती, समाज और व्यक्ति में सघर्ष भी होता है। व्यक्ति समाज के नियमों को स्वार्थ के वशीभूत होकर अथवा बदली हुई स्थिति के अनुकूल नहीं पाकर विद्रोह करता है। यह विद्रोह जब व्यापक हो जाता है तो सामाजिक नियम टूट जाते हैं और नये नियमों का निर्माण उन मृत नियमों की समाधि पर अथवा नींव पर होता है। यह कार्य सहसा नहीं होता, धीरे-धीरे होता है। सामाजिक नियमों की यह

भी एक विशेषता है । इसलिए ये सापेक्ष हैं, निरपेक्ष और स्थिर नहीं । समाज के विकास-क्रम में वर्ग की भी प्रधानता होती है । मार्क्सवाद का तो विश्वास है कि हर युग किसी-न-किसी वर्ग की प्रधानता का युग होता है । ऐसी स्थिति में उस युग के नियम उस वर्ग के हित में ही होंगे । युग-परिवर्त्तन होने पर अन्य किसी वर्ग का प्राधान्य हो जाता है । अस्तु, नये नियम नये उठे वर्ग के लिए बनते हैं । हम इस विवाद की गहराई में नहीं पड़ना चाहते; परन्तु इतना स्पष्ट है कि समाज में समाजानुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रवृत्तियों का द्वन्द्व सदा चलते रहता है । जब यह प्रतिकूलता अत्यधिक बलवती होती है तब सामूहिक नैतिक पतन होता है । इसी से सामाजिक नियम सापेक्ष तथा अंशतः ही नियम हैं ।

व्याकरण से सामाजिक नियमों की तुलना अधिक उपयुक्त है परन्तु व्याकरण के नियमों में निमित्त नियमों का कोई भी अंश नहीं होता । व्याकरण तो केवल नियमों का अन्वेषक है, निर्माता नहीं; परन्तु सामाजिक नियमों का एक अंश निमित्त भी है । राजतंत्र के नियम जिन्हें कानून कहते हैं । मानव-कृत ही होते हैं ।

प्रधान सामाजिक नियम

प्राचीन काल में और आज की सभ्य और अर्द्ध सभ्य कही जानेवाली जातियों में सामाजिक नियमों के कोई प्रकार या भेद नहीं थे । सभी प्रकार के नियम एक ही समझे जाते थे । उनमें धार्मिक सत्ता एवं राज-सत्ता में कोई अन्तर नहीं था । दोनों एक ही थे । अस्तु, सामाजिक नियम निर्माण के ये विभिन्न रूप और उनके भेद की वे कल्पना भी नहीं कर सकते । उनके सारे नियम अनुल्लंघनीय ही माने जाते हैं और उनके पीछे इतनी प्रबल वाध्यतामूलक स्वीकृतियाँ हैं जितनी आज हमारे यहाँ राज-सत्ता में भी नहीं हैं । परन्तु आज के उलझनपूर्ण समाज में सामान्य रूप में पाँच प्रकार के प्रमुख सामाजिक नियम पाये जाते हैं; धार्मिक, नैतिक, राजकीय प्रथात्मक और क्षणिक या सामयिक तथा संस्था सम्बन्धी ।

धार्मिक नियम (Religious Codes)

प्रत्येक धर्म में अपनी-अपनी विशेष उपासना-पद्धति और कर्म-काण्ड होते हैं; जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उनके धर्मावलम्बियों के सामाजिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता । आगे चलकर इन प्रभावों को नियम का रूप दे दिया जाता है । इस्लाम की सामूहिक समता-मूलक उपासना मुसल-

मानों के जीवन की खास चीज है। आर्यों के यज्ञ भी सामूहिक हैं। परन्तु आगे चलकर योगाभ्यास और व्यक्तिगत साधना की प्रबलता ने उनमें सामूहिकता का अभाव ला दिया और वे व्यक्तिगत जीवन के उपासक बन गए। वर्ण-व्यवस्था और स्वार्थ का जोर इसका फल है। केवल इतना ही नहीं, हर धर्म अलग आचार की व्यवस्था देता है और विशेष सामाजिक प्रणाली का पोषण करता है। धर्म की इस व्यवस्था और आदर्श की कल्पना को धार्मिक नियम कहते हैं।

इन धार्मिक नियमों का आधार समाज की भलाई या बुराई और उपयोगिता को ही नहीं माना जाता। इनका आधार ईश्वर या देवता का आदेश है, जो विभिन्न रूपों में हमारे पास आया है। वेद अपौरुषेय हैं। ऋषि तो मंत्र द्रष्टा मात्र हैं, जिन्हें ईश्वर ने यह ज्ञान दिया; अस्तु, वेद स्वतः प्रमाण हैं। वेद के विरुद्ध चलने वाले को देवता दंड देते हैं। इसी प्रकार कुरान खुदा का संदेश है, किसी मानव की कल्पना नहीं। इसीसे हम कह सकते हैं कि धार्मिक नियमों की स्वीकृति अति सामाजिक (Supra-social) है, समाज से परे है। व्यक्ति और समाज उसका उद्देश्य नहीं, वही उनका उद्देश्य है। जिन धर्मों में वेद, कुरान और बाईबिल जैसे प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ नहीं हैं। उनके यहाँ भी अपने विश्वास हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में, समाज के सम्बन्ध में और आचार के सम्बन्ध में अपनी कथाएँ हैं। अपने निषेध (taboo) और अपनी विधियाँ हैं। उन पर भी वे इतने ही दृढ़ हैं; जितने हिन्दू, मुसलमान और ईसाई वेद, कुरान और बाईबिल पर। बल्कि उनकी दृढ़ता आज के अविश्वासी युग में इनसे भी प्रबल है। सामान्य भूत-प्रेत और पशुपूजा (totem) और जैववाद (animism) से लेकर एक ईश्वर पर विश्वास तक के पीछे ये धार्मिक नियम और उनकी अति-सामाजिक स्वीकृतियाँ विभिन्न रूपों में मौजूद हैं।

१९वीं शताब्दी की वैज्ञानिकता ने एक नये धर्म की कल्पना की है जिसे मानवतावाद (humanism) कहते हैं, अब तक की धार्मिकता से इसमें एक महान अन्तर है। इसका उद्देश्य अति सामाजिक (Supra-social) नहीं, पूर्णतया सामाजिक और इहलौकिक है। यह बुद्धिवाद (rationalism) का समर्थक है। अति सामाजिक आधार छूट जाने पर बुद्धि के सिवाय दूसरा आधार ही क्या हो सकता है ?

नैतिक नियम (Moral codes)

व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि से प्रेरित तथा संचालित होकर दूसरों से जो कर्ताव करता है अथवा विवेक बुद्धि (conscience) द्वारा अन्य लोगों से

व्यवहार का जो आदर्श मिलता है या व्यवस्था प्राप्त होती है वह नैतिक नियम के नाम से पुकारी जाती है। नैतिक नियमों की स्वीकृति विवेक बुद्धि की देन है। जब मनुष्य अनैतिक कार्य करता है तो विवेक बुद्धि एक प्रकार का आघात दिया करती है। इस विवेक बुद्धि का निर्णय आदर्शात्मक होता है। इसीलिए पुराने धर्मशास्त्र उसे भी एक धर्म का लक्षण ही मानते हैं—

‘वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः’

वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपने को प्रिय, धर्म के चिह्न हैं। इनमें चौथा विवेक बुद्धि ही है।

नैतिक नियमों का सामूहिक रूप भी होता है। एक समूह दूसरे समूह के साथ जो आचरण करता है वह सामूहिक नियमों के अन्तर्गत आता है। इस आचरण के दो आधार हैं—प्रथम समूह की प्रचलित परिपाटी और द्वितीय विवेक-बुद्धि।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार विवेक-बुद्धि अवरोधक है। फ्रायड का कथन “विवेक हमारे भीतर काम करनेवाली या उठनेवाली किसी इच्छा की अस्वीकृति की आन्तरिक अनुभूति है।”*

हमारे मन में चोरी करके मिठाइयाँ खाने का भाव आया। हमने उठाने के लिए हाथ बढ़ाया। इसी समय हृदय में अनुभव किया कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिये, हम अपराध कर रहे हैं, हम द्वन्द्व में पड़ गए। एक और मिठाइयों का लोभ और दूसरी ओर हमारे संस्कारों एवं समाज द्वारा दिये आदर्शों की प्रेरणा और विवेक-बुद्धि रोकती है। नाना उपदेशों और कथाओं की याद दिलाती है। हम थम जाते हैं। मानवों को पाप से बचाने के लिए यह प्रेरणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए धर्म-ग्रन्थों और धर्मोपदेशकों द्वारा इस पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। कुछ लोग इसे सद्-विवेकिनी बुद्धि कहते हैं, अर्थात् यह सत् और असत् दोनों का ज्ञान देती है।

यह सत्य है कि विवेक-बुद्धि अस्वीकृति है, इसलिए प्रधान रूप में अवरोधिका है, रोकने वाली है, प्रेरक कम है। किन्तु कहीं भी और किसी भी अवस्था में प्रेरक नहीं है, यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। एक अत्याचारी के अत्याचार का प्रतिरोध करने में हम स्वार्थ से, भय से या पक्षपात से हिचकते हैं। इस स्थिति में हमारी विवेक-बुद्धि हमें स्वार्थ, भय, पक्षपात से ऊपर जाकर प्रतिरोध करने के लिए जगाकर प्रेरित कर सकती है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि यह प्रेरणा भी अवरोध के द्वार से ही आती है, अत्याचार सहने की अस्वीकृति

* Conscience is the internal perception of the rejection of a particular wish operating within us—Totem and Taboo.

ही जगती है। परन्तु फ्रायड तो किसी विशिष्ट इच्छा की अस्वीकृति को ही विवेक-बुद्धि मानते हैं, अत्याचार सहना इच्छा या वासना नहीं, वाध्यता है।

यह स्पष्ट है कि यह विवेक-बुद्धि कोई स्वतंत्र मानव होने के ही नाते मिला हुआ, निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वह वातावरण और सन्निकर्ष का संस्कार मात्र है। मानव बालकपन से ही अच्छे-बुरे की जो सीमा रेखा निर्धारित करना अपने वातावरण से सीखता है वह उसके हृदय पर एक स्थायी छाप-सी लगा देता है। उसके विपरीत आचरण होते ही वह संस्कार एक विद्रोह-सा करता है। विभिन्न वातावरणों के संस्कार भी भिन्न होते हैं और उसीके अनुसार उसमें पले मानवों की विवेक बुद्धि भी अपना भिन्न-भिन्न निर्णय दिया करती है। पाँच-पाँच वर्षों के दो बच्चों से मने कई प्रश्न किए हैं। इनमें एक ऐसे परिवार की बच्ची थी, जहाँ पशु-वलि धर्म माना जाता है और जहाँ वलि के मांस को महा प्रसाद कहते हैं। दूसरी कट्टर निरामिष भोजी माता-पिता की पुत्री थी। पहली बच्ची मांस भोजन को उत्तम मानती थी और दूसरी मांस भोजन के नाम पर नाक-भों सिकोड़ लेती थी। दया एक विवेक बुद्धि की खास चीज है, परन्तु दया की धारणा में दोनों में महान् अन्तर था। यही स्थिति जीवन सम्बन्धी अन्य धारणाओं और आदर्शों की भी है।

पहले एक जाति का आवेष्टन एक ही था। सभी बच्चे एक ही बातावरण में पलते और बढ़ते थे। इनसे उनकी विवेक बुद्धि के निर्णय प्रायः समान हुआ करते थे। यह बात दूसरी थी कि कुछ व्यक्ति अपनी विवेक बुद्धि की आवाज से कान मूंद लेते थे और अधम कार्यों में लीन हो जाते थे, परन्तु विवेक बुद्धि द्वारा दी हुई व्यवस्था में मूलतः कोई अन्तर नहीं था। जब कभी विभिन्न संस्कृतियों का सम्मेलन होता था तो उसमें अनेकता आ जाती थी; परन्तु स्थिरता आ जाने पर एक नवीन मिश्रित संस्कृति विवेक बुद्धि को नवीन रूप-रेखा प्रदान कर दिया करती थी।

आज सभ्यता के विकास में वह एकता नहीं रही। समाज के विभिन्न स्तरों का अलगाव तथा साथ ही सतत सम्पर्क, संसार की विभिन्न संस्कृतियों का सम्मेलन तथा आदान-प्रदान जीवन-विधि की अनेकता और वंशस्य एक ही स्थान तथा एक ही जाति में अनेकों वातावरण बना दिया करते हैं। जिनसे विभिन्न स्वार्थ, विभिन्न रहन-सहन और विभिन्न परस्पर विरोधी विचारों की सृष्टि हो गई है। आज एक ही परिवार में पिता का सन्निकर्ष अलग है और विभिन्न साथियों तथा शिक्षालयों के प्रभाव के कारण पुत्र का अलग। फलस्वरूप विवेक बुद्धि भी एक नहीं रही; उनके निर्णय पूरे परस्पर विरोधी हो गये हैं। मान लें एक गांव में किसी व्यक्ति ने अपनी प्रथा के

विपरीत एक स्त्री से सम्बन्ध स्थापित किया। जब एक साथ सारे गांव के लोग बैठकर निर्णय देंगे तो उनके विचार समाज की प्रचलित परिपाटी के अनुसार होंगे क्योंकि समूह उत्तेजित नहीं रहने पर अति नहीं करता। परन्तु यदि अलग-अलग सबसे विचार कराया जाय और सब लोग स्वार्थ, पक्षपात और पूर्व-दर्ष्या से मुक्त हों तो सब के निर्णय भिन्न-भिन्न होंगे। यह स्थिति पुराने जमाने में नहीं होती। पहले सब एक बोली ही बोलते।

पहले भी व्यक्तियों को द्वन्द्व होते थे, संसार का साहित्य ऐसे द्वन्द्वों से भरा पड़ा है। परन्तु पहले का द्वन्द्व दो नैतिक माने जाने वाले कर्तव्यों के द्वन्द्व थे। धर्म-संकट तब आता था, जब यह निर्णय करना होता था कि मातृ-भक्ति दिखलाएँ या पिता की आज्ञा पालन करें अथवा दया दिखलावें या धर्म-घाती का बध करें। हेमलेट का प्रसिद्ध द्वन्द्व इसी प्रकार के दो परस्पर विरोधी कर्तव्यों के कारण उत्पन्न हुआ था। आज का द्वन्द्व विभिन्न स्वार्थ और विचारों का द्वन्द्व है। मानव विभिन्नता के बीच कुछ निश्चित नहीं कर पाता। इससे प्राचीन काल में द्वन्द्व कभी-कभी होते थे। आज के जागरूक व्यक्ति के हृदय में वे हर क्षण जगे रहते हैं। इसका एक फल यह हो रहा है कि आज का मानव चंचल हो गया है। परिवर्तनशील वातावरण विचार और स्वार्थ के कारण वह जल्दी-जल्दी बदला करता है। एक ही से जान पड़नेवाले विषय पर एक ही व्यक्ति से आप थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तर पर विचार पूछें तो हर बार उसका निर्णय थोड़ा बहुत भिन्न होगा। जो विकास-मान और चिन्तनशील होते हैं उनके विचारों की असम्बद्धता में गहराई से विचार करने पर एक क्रमबद्ध विकास देख सकते हैं। बहुत से लेखक सोच-सोचकर रटे-रटाये शब्द बोलते हैं। क्योंकि वे अपना हृदय खोलकर रखना नहीं चाहते। अथवा अधिकांश लोगों में वह विकास नहीं होता या वे परिवर्तन को पहचान नहीं पाते; परन्तु विचार के परिवर्तन तो आज के सभी लोगों में मिलते हैं। मध्यम श्रेणी के शिक्षित व्यक्तियों पर मने इस सम्बन्ध में कई प्रयोग किए हैं तथा स्वयं अपनी डायरी के पन्ने इस दृष्टि से पलटे हैं। विषय स्पष्ट होने के कारण उनका उल्लेख नहीं करना चाहता। नेता भी जो जल्दी-जल्दी पाटों बदलते हैं, इसके शिकार होते हैं। प्राचीन काल में इतनी चंचलता सम्भव नहीं थी (पाठक कृपया पतन को भी परिवर्तन न समझें)। पतन की ओर जाने वाला व्यक्ति स्वयं समझता है कि मैं गिर रहा हूँ, परन्तु परिवर्तन में वह अपने को सही समझता है। हम राजनीतिक या सामाजिक दल की भावना के कारण कभी-कभी परिवर्तन को भी पतन समझते हैं, परन्तु दोनों में सूक्ष्म भेद है।

धर्म तथा नैतिकता का विभेद

धर्म तथा नैतिकता के बीच हम आज के युग में भेद कर सकते हैं, परन्तु हमारे प्रचलित धर्म जिस काल में पैदा हुए थे उस समय भेद करना असम्भव था। हर धर्म अपनी उपासना विधि के साथ एक विशेष समाज के आदर्श की कल्पना लेकर पैदा हुआ था, जिसका पूरा चित्र उसने दिया है और इस चित्र को लाने वाली और लाकर सुरक्षित बनाने वाली मनोवृत्ति एही भी व्यवस्था दी है। हम अपने देवताओं या ईश्वर की पूजा किस प्रकार करें, वह ईश्वर या देवता क्या है, कैसे है, धर्म यहीं तक आकर रुक नहीं जाता, बल्कि आगे बढ़कर यह भी बतलाता है कि हमें अपने समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए सारे समाज का अन्य समाजों के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए। वह हममें दया, भ्रातृत्व, त्याग, क्षमा, पवित्रता आदि की भी भावना भरना चाहता है। केवल जय, त्र, तपस्या ही नहीं बतलाता। लोकाचारों का वर्णन करने वाली मनुस्मृति भी धर्म के जो इस लक्षण देती है; वह नैतिक नियम से ही सम्बन्धित है :—

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मेन्द्रियम् ।

धैर्य, क्षमा, दान, चोरी नहीं करना, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या सत्य, क्रोध नहीं करना—ये इसी लक्षण नैतिक नियम ही तो हैं। आज हम एक ही आधार पर दोनों में भेद की स्थापना कर सकते हैं और वह आधार है स्वीकृति का विभेद। जैसा पहले कहा जा चुका है कि धर्म की स्वीकृति अति समाजिक है और ईश्वर या किसी देवी-देवता की इच्छा, आदेश और संदेश ही धर्म का रूप ग्रहण करता है। धर्म नैतिक और दूसरे सामाजिक नियमों की भी उसी इच्छा, आदेश या संदेश की वस्तु बना देते हैं। वे भी उपासना, विधि आदि के साथ ही गिन लिए जाते हैं। जो विधि और नियम समाज की भलाई तथा सुन्दर समाज की कल्पना से परिचालित नहीं होते, किसी शक्ति से परिचालित होते हैं, वे वस्तुतः धार्मिक हैं। परन्तु जो मानव के हृदय में उन गुणों, प्रवृत्तियों, और भावनाओं को जन्म देते हैं। जिनसे हम समाज में प्रेम के साथ रह सकें। दूसरों को प्रेम के साथ रहने दें, समाज में विशृंखलता नहीं पनपने दें, समाज की पुष्टि, सुरक्षा तथा सुधार कर सकें; उन नियमों को हम नैतिक कहते हैं।

हमने देखा कि धर्म में समाज गौण है, देव प्रधान है। परन्तु नैतिकता समाज और समाजोपयोगी योग्य व्यक्ति में प्रधान है, अतीन्द्रिय सत्ता गौण है।

नैतिकता किसी इन्द्रियातीत सत्ता के न रहने पर भी बनी रह सकती है । पर धार्मिक नियम तो उससे अपना आधार ही खो देंगे । १९वीं शताब्दी के विचारकों में से कई ने ईश्वर की सत्ता नहीं मानी परंतु नैतिकता पर उन लोगों ने आस्तिकों से भी अधिक जोर दिया ।

बहुत से ऐसे धर्म हैं, जिनमें आज भी नैतिक नियमों के विपरीत विधान दिये हुए हैं । मानव में धर्म की भावना भय, लोभ और अज्ञता से भी आयी है । कई प्राकृतिक नियम नहीं समझने के कारण वे किसी देवता की कल्पना कर लेते हैं । रोग में, कष्ट में किन्हीं देवता को प्रसन्न करने के लिए नैतिकता का हनन भी करते हैं । हमारे यहाँ भी यदि नरबलि पर से रोक हटा ली जाय तो कई तांत्रिक विद्वान भी—केवल मूर्ख ही नहीं, आज भी अपने पुत्र का रोग और अनिष्ट दूर करने के लिए किसी की बलि करने में नहीं हिचकें । अभी-अभी आसाम में किसी ने तीन बालकों को फुसला कर काली के सामने बलिदान करने की चेष्टा की थी । जिनमें दो को वह मार चुका था और तीसरा किसी प्रकार बच निकला । प्रायः सम्पूर्ण जाड़ टोने नैतिकता के विपरीत पड़ जाते हैं । वस्तुतः यहीं आकर दोनों के भेद साफ झलक जाते हैं । उन्नत धर्मों में तो विभाजक-रेखा खींचना कठिन हो जाता है ।

इतिहास का विश्लेषण बतलाता है कि धर्म तथा नैतिकता दोनों देश और काल की अपेक्षा रखते हैं । दोनों में एक भी शाश्वत सत्य नहीं है । पहले धर्म युग की आवश्यकता की प्रेरणा से पैदा होकर इतिहास के रथ का पहिया आगे ठेलता था । वह समाज की अचलावस्था दूर करने के लिए प्राचीनता के गर्भ से नवोनता लिए आता था । पुनः जब वह पुराना पड़ जाता था, समाज का विकास रुक जाता था, वह फिर नया रूप लेता था । यह क्रम जारी रहा । इस वैज्ञानिक युग में आकर धर्म ने पुनर्जन्म लेना छोड़ दिया है, अब धर्म का स्थान सामाजिक प्रचार ले रहे हैं । मानों समाज अपना बुरका खोल कर असली रूप में दिव के रंग-मंच पर आ गया है ।

नैतिकता युग को मानसिक क्षितिज पर उतारती है । जब तक धर्म ही सामाजिक विकास का वस्त्र पहनकर रंग-मंच पर आता रहा, तब तक नैतिकता भी उसी के भीतर छिपी रही और धर्म को मानसिक पृष्ठ-भूमि प्रदान करती रही । हर युग के अनुसार वह लोगों की अन्तरात्मा को ढालती रही । युग ने जिसे उत्कृष्ट ममज्ञा उसने उसे ही नैतिक अनुभव कराया । सुकरात जैसा महान् विचारक अपने युग की बुराइयों का अनुभव करते हुए भी यूनान में व्याप्त भयंकर दास-प्रथा को अनैतिक नहीं समझ सका, जिसे आज साधारण व्यक्ति भी अनैतिक मानता है । सामाजिक तत्त्व के रूप में धर्म की शक्ति

औण पड़ जाने पर समाज को मानसिक सहयोग देने के लिए नैतिकता अपने स्वतंत्र रूप में धर्म से अर्द्ध मुक्त होकर आई है। तौभी हम इसे पहचान न सके हैं। धर्म और नैतिकता में कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह बतलाना कठिन है। जबतक युग का प्रतिनिधित्व धर्म करता था तब तक नैतिकता उसकी चेरी थी। अब जब धर्म और युग में भिन्नता नहीं है तो नैतिकता ही प्रधान पड़ गई है।

राजकीय नियम या विधि अथवा कानून

राजकीय नियमों का अभिप्राय नियमित राज्य द्वारा पारित और प्रचारित नियमों से है, जिन्हें कानून या विधि कहते हैं। विधि के लिए न्यायाधिकरण भी एक आवश्यक अंग बन जाता है। क्योंकि राज के न्यायालय विधि की व्याख्या करते हैं। किन स्थितियों में कहाँ तक और किन रूपों में ये कानून लागू होंगे यह स्पष्ट करना न्यायालय का ही कर्तव्य है। विधि पारित करने की शक्ति से सम्पन्न संस्था और व्यक्ति का काम विधि निर्माण करना और न्यायाधिकरण का काम उनकी क्रिया की शक्ति और सीमा का निर्धारण है। अन्य सामाजिक नियमों से विधि की तीन विशेषताएँ हैं:—

(१) अन्य सामाजिक नियम पूर्णतः निर्मित और पारित नहीं होते। वे या तो स्वतः बन जाते हैं या किसी महापुरुष या किन्हीं महापुरुषों के बचनों से निकलते हैं। विधि पूरे रूप में पारित होती है। जिन्हें विधिवात् संगठित संस्था या शक्ति सम्पन्न व्यक्ति बनाते हैं।

(२) अन्य सामाजिक नियम अंशतः ही पालनीय होते हैं। वे एक आदर्श की कल्पना देते हैं जिनकी ओर बढ़ने की प्रेरणा उनसे मिलती है। कोई भी व्यक्ति सदस्यता से वञ्चित होकर उनके पालन के बन्धन से अपने को मुक्त कर सकता है। राजकीय नियम इतना शीघ्र पिंड छोड़ने वाले नहीं हैं। सीमा के भीतर उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा। आप चाहें या न चाहें। वे तो 'मानो न मानो तेरे मेहमान' हैं।

(३) अज के युग में वाध्यता की सारी शक्ति विधि में ही सीमित है। समाज का दूसरा अंग अपने नियमों का पालन कराने के लिए किसी को वाध्य नहीं कर सकता। प्राचीन काल में जातीय पंचायतों को अपराध भार्जन के लिए यन्त्रणा और आर्थिक दण्ड देने का भी अधिकार था। कुछ जाति के लोग अभी तक इस शक्ति का उपयोग करते हैं। उसके सदस्य जाति-बहिष्कार के अर्थ से सब सहते हैं परन्तु यदि यन्त्रणा देने पर कोई मामला चलाये तो पंचा-

यत के अधिकारियों को जेल की हवा खानी पड़ेगी । राजकीय नियम अदालत के कारण किसी को निष्कासित कर सकते हैं, अर्थदंड दे सकते हैं, जेल भेज सकते हैं और शूली पर भी झुला सकते हैं । इसीसे यह कहा जाता है कि आज राजसत्ता में ही सारे समाज की शक्ति निहित है । प्राचीन काल में राजकीय नियम अन्य नियमों के भी अंगीभूत थे ।

प्रथा (Custom)

हमारे सामाजिक व्यवहारों का नियमन करने वाले नियम केवल धर्म, नैतिकता और विधि की सीमा में नहीं बांधे जा सकते । दैनिक जीवन में बरते जाने वाले हजारों व्यवहार ऐसे हैं, जिनके लिए न तो धर्म का आदेश है, न नैतिकता का तकाजा और न विधि की बाध्यता; परन्तु हम उसी रूप में, वरन् उससे भी अधिक तत्परता के साथ उनका पालन करते हैं । इनके नियमों को हम प्रथा कहते हैं । प्रथाएँ विधि के समान किसी अधिकारी के द्वारा पारित या प्रचारित नहीं होतीं । उनका कोई लिखित रूप नहीं होता और उनको मनवाने के लिए अतिन्द्रिय सत्ता या अधिकारी बाध्य नहीं करता । वे स्वीकृत रहती हैं । जन समाज से और अनुश्रुति (traditions) तथा परम्परा से प्राप्त होती हैं । मानव उनका पालन अनजान में ही करता जाता है और उन्हें ही सर्व श्रेष्ठ समझता है । कोई भी सभ्य, अर्द्ध-सभ्य तथा बर्बर मानव समाज नहीं है जिसमें प्रथाओं के समूह मनुष्य को घेरे हुए उसके जीवन का नियमन संचालन न करते हों ?

‘जनरीति’ (folkways)—डबल्यू० जी० समनर ने इन प्रथाओं के विस्तृत जाल के लिये जनरीति शब्द का प्रयोग किया है । समाज-शास्त्र के बिद्यार्थियों में यही शब्द प्रचलित है । उसने जन-रीति (folkways) नामक एक पुस्तक भी लिखी है । जनरीति शब्द वह एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । वे कहते हैं—

“वे प्राकृतिक शक्तियों की उपज के समान हैं, जिन्हें मानव अज्ञात रूप में कार्य रूप में परिणत करता है । अथवा वे पशुओं की सहज प्रवृत्तियों के समान हैं । जो अनुभव से विकसित हुई हैं और वे अधिकतम ग्रहणशीलता के अन्तिम रूप में पहुँचकर रुचि बन जाती हैं । वे परम्परा प्राप्त हैं और उनमें अपवाद और विभेद की जगह नहीं है, तो भी नवीन परिस्थितियों के अनुरूप वे बदलती हैं । पर अपनी सीमित पद्धति से ही और बिना किसी बौद्धिक विचार अथवा उद्देश्य के ही ।”

इस वाक्य में समनर ने जनरीतियों की कई विशेषताएँ बतलाई हैं—

(१) जनरीतियाँ अज्ञात रूप में मानव समाजपर अपना काम करती रहती

हैं। इसके लिए लेखक दो समताएँ देता है। एक प्राकृतिक नियमों का दूसरा सहज प्रवृत्तियों का। प्राकृतिक नियम मनुष्य की इच्छा से परे हैं। उनका पालन करने के लिए वह बाध्य है। उसी प्रकार मनुष्य जनरीतियों को प्रभावित नहीं कर सकता। वह उनका पालन करने के लिए बाध्य तो नहीं है, परन्तु अज्ञात रूप से चुप-चाप वह उन्हें मानकर ही चलता है। पशुओं के जीवन में सहज प्रवृत्तियाँ ही प्रधान रहती हैं। वही उनका नेतृत्व किया करती है। मानव को जनरीतियाँ उसके सभी कार्यों में पथ देती हैं। उसका दिशा निर्देश करती हैं, वह उनसे उसी प्रकार पथ पाता है, जिस प्रकार वह जानवर सहज प्रवृत्तियों से। मानव चुपचाप जनरीतियों का आदेश मानता है, जिस प्रकार पशु-प्रवृत्तियों का। सहज प्रवृत्तियों के समान उनका भी अनुभव के आधार पर विकास होता है।

(२) जनरीतियाँ मानव को परम्परा और अनुश्रुतियों से मिलती हैं; उन्हें वह स्वयं बनाता नहीं, उसके बाप-दादे भी नहीं बनाते। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आनेवाली और चलती रहनेवाली वस्तु है।

(३) अपने अन्तिम रूप में जनरीतियाँ मानव को इतनी ग्रहणीय बन जाती हैं कि वह उनमें एक रुचि और एक अपनापन विकसित कर लेता है।

(४) जनरीतियों का अपवाद स्वीकृत नहीं है और न विभेद। मनुष्य उनका पालन करता है। वे स्पष्ट और अपवाद रहित होती हैं। एक हिन्दू दक्षिण दिशा में पैर करके नहीं सोयेगा और न उधर मुँह करके खायेगा, इसका अपवाद नहीं है।

(५) जनरीतियाँ परिवर्तित होती हैं और नई आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढलती भी हैं। परन्तु इनका परिवर्तन अपनी सीमित पद्धति के भीतर होता है। उसके बाहर वे नहीं जा पातीं।

(६) जनरीतियों में बौद्धिकता और उद्देश्य नहीं ढूँढे जा सकते। इनके परिवर्तन का रूप भी बुद्धि का कारण नहीं है। मानव की बुद्धि सोच समझकर या परिस्थितियों का विश्लेषण कर जनरीतियों का न तो निर्माण करती है न उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन ही। ये सहज ही अपनी ही गति से विकसित होती हैं और बदलती हैं। यही स्थिति उद्देश्य की भी है। जनरीतियों में समाज का और जीवन का कोई उद्देश्य निहित नहीं होता। वे किसी उद्देश्य से न तो जीवित रहती हैं और न मरती हैं।

जनरीतियों की स्थिरता और परिवर्तनशीलता

समनर ने जनरीतियों की व्यापकता देखकर उन्हें स्वतंत्र सत्ता-सा मान लिया है, उसकी दृष्टि में उनकी परिवर्तनशीलता और स्थिरता के नियम भी स्वतंत्र हैं जो अन्य किसी बाहरी तत्व की कम अपेक्षा रखते हैं। उनका

संचालन स्वतः होता है, अपनी ही सीमा के भीतर अपनी ही प्रणाली से। समनर ने पिछड़ी जातियों की जनरीतियों का विशेष अध्ययन किया था और उस अध्ययन का फल उसके सिद्धान्तों पर साफ झलकता है।

विभिन्न देश और विभिन्न युग की जनरीतियों का अध्ययन बतलाता है कि वे उतनी स्वतंत्र नहीं हैं, जितनी हमें ज्ञात होती हैं। उनकी परिवर्तन-शीलता में तीन तत्त्व साफ दिखाई पड़ते हैं।

(१) जनरीतियाँ उन्हीं जातियों में सबसे प्रबल रहती हैं जिनका विकास रुका-सा रहता है और जिनमें स्थिरता रहती है। व्यवहार के प्रकार जब संगठित होकर बार-बार दुहराये जाते हैं तो जनरीतियों का रूप ग्रहण करते हैं। बार-बार दुहराने की क्रिया वहीं हो सकती है जहाँ परिस्थिति और आवश्यकता एक ही हो। यह स्थिर संस्कृतियों में हो संभव है। समनर ने जिन जातियों के उदाहरण दिये हैं वे सभी स्थिर जातियाँ हैं। उनमें एक भी प्रगतिशील नहीं हैं। जब दो या अधिक संस्कृतियों का सम्मेलन होता है तो वे टकराती हैं। सबों की अपनी-अपनी जन-रीतियाँ होती हैं। उनका संघर्ष होता है और संघर्ष के साथ ही आदान-प्रदान भी। इस प्रगति में विजयी और विजित दोनों जातियाँ भाग लेती हैं। सम्पर्क के साथ ही एक ओर अपनी जनरीतियों के पालन की दृढ़ता समाप्त होने लगती है और दूसरी ओर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचाने के लिए उन पर विश्वास भी अधिक प्रकट किया जाने लगता है। जिन जातियों का दूसरी में विलयन हो जाता है और जिनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है, वे भी निगलने वाली जाति पर अपनी पूरी छाप छोड़ जाती हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हिन्दू जाति की सधवा स्त्रियों के सिर पर अनिवार्य रूप में दिखाई पड़ने वाला सिन्दूर-बिन्दु है। कुछ पश्चिमी भारत तथा दक्षिण को छोड़कर सर्वत्र यह अनिवार्य वस्तु है। यह नाग जातियों से आर्यों ने लिया है। हिन्दुओं के अनुकरण पर मुसलमान स्त्रियों ने भी इसे काफी हद तक अपना लिया है। इस्लाम के आने पर हिन्दुओं की जनरीतियों में काफी परिवर्तन हुए हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? पर्दा प्रथा जैसी विचित्र वस्तु उसी की देन है।

यह विद्वानों ने पता लगाया है कि बाल्टिक-स्लाव जातियों में प्राचीन आर्यों की जनरीतियाँ सबसे अधिक बची हुई हैं। इसका कारण क्या है? दलदलों के निकल आने से यहाँ के निवासी धिर गए और बाहरी दुनियाँ से उनका सम्बन्ध टूट गया। अस्तु उन लोगों से किसी अन्य जाति का न तो सम्पर्क हुआ न संघर्ष और न आदान-प्रदान। फलतः उनका विकास रुक गया और वे प्रायः उसी स्थिति में पड़ी रहीं। यदि अन्य जातियों की जनरीतियों

से उनकी रीतियाँ टकरातीं तो इस तरह स्थिर नहीं रहतीं । आज जब विज्ञान ने उनका घेरा तोड़ दिया है, वे दुनियाँ के सम्पर्क में आ चुकी हैं । उनकी जनरीतियों की वह प्रबलता और स्थिरता भी समाप्त हो गई है ।

(२) यह लिखा जा चुका है कि पहले धर्म युग का प्रतिनिधि बनकर आया करता था और किसी ईश्वर या देवी देवता के नाम पर नवीनता का मंत्र फूँकता था । जो जनरीतियाँ नवीनता के प्रतिकूल पड़ती थीं, उनके बन्धन यह नवीन धर्म तोड़कर फेंक देता था । इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है इस्लाम । मुहम्मद साहब के पूर्व पिता की मृत्यु पर लड़के अपनी विमाताओं को भी बाँट लिया करते थे । लड़के चादर फेकते थे जिन माताओं पर जिसकी चादर पड़ती थी वे उसकी स्त्री हो जाती थीं । मुहम्मद साहब ने इसे मिटा दिया । यह तो बड़ी प्रथा हुई । छोटी-छोटी अनेक प्रथाएँ भी नवीन धर्म के आघात से चूर-चूर हो जाती हैं ।

नवीन धर्म प्राचीन जनरीतियों के आधार पर नयी जनरीतियों की भी नींव डालता है । मुहम्मद साहब का कुरान पूर्णतया धर्म का आदेश है और हदीस जनरीतियों का उदाहरण के साथ संग्रह है । हम कह सकते हैं कि हदीस में नबी ने प्राचीन रीतियों की नवधर्म के आधार पर व्याख्या की है, परिवर्तन और संशोधन के साथ उनका नया स्वीकृत रूप अपने अनुयायियों के सामने रखा है ।

हिन्दू धर्म में स्मृतियाँ भी प्रधान रूप में जनरीतियों के संग्रह हैं । इन विभिन्न स्मृतियों में काल का उतना महान अन्तर नहीं है । इसीसे उनके आदेशों में भी आपको बहुत विरोध नहीं मिलेगा । तो भी जो कुछ विभिन्नता है, युग की देन है ।

(३) जीवन की नवीन परिस्थितियाँ और समाज का विकास क्रम भी जनरीतियों के परिवर्तन में काफी सक्षम हैं । जनरीतियों का एक बहुत बड़ा भाग तत्कालीन जीवन विधि से सम्बन्धित रहता है । किसानों की रीतियाँ सबसे अधिक खेतों पर अधिकार, जुताई, बुवाई, खलिहान, विवाह, खेती सम्बन्धी मजदूरी आदि से अधिक सम्बन्ध रखती हैं और घुमक्कड़ जातियों की आन्तरिक शासन, प्रस्थान, डेरा आदि से । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि जीवन-विधि के परिवर्तन के साथ ही इन में भी परिवर्तन हो गा ही ।

कई स्थानों पर हलवाहे को एक बीघा जमीन तथा नित्य दो सेर अनाज और जलपान देते हैं ।

यह प्रथा पोट्टियों से आ रही है । १९३१ से ३७ तक मन्दी के समय यह टूट रही थी; परन्तु युद्ध के कारण जब अन्न का अभाव हुआ तब फिर जग गई है । परन्तु इस प्रकार की प्रथा क्या उद्योग में भी कायम हो सकत

जिन जनरीतियों का सम्बन्ध ग्रंथ से है वे सबसे पहले टूटती हैं, क्योंकि आर्थिक स्थिति में परिवर्तन उन्हें सीधे व्यर्थ कर देता है। अन्य कई प्रथाएँ भी उनके साथ ही बदल जाती या समाप्त हो जाती हैं।

जनरीतियों के परिवर्तन के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा गया उससे यह नहीं समझना चाहिए कि परिवर्तन की दिशा स्पष्ट और निर्धारित की जा सकती है। यह बड़ा उलझा हुआ विषय है। कौन जनरीति कब और कैसे बदलेगी यह नहीं बतलाया जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस प्रकार की जनरीति चिरस्थायी होगी और किस प्रकार की क्षणस्थायी। बहुत-सी उपयोगी और व्यापक जनरीतियाँ मिट जाती हैं और छोटी अनुपयोगी बची रहती हैं। कभी कभी तो ऐसा मालूम होता है कि जीवन के विस्तृत अंगों को छूने वाली प्रतिष्ठित जनरीति नवीन युग के संघर्ष में घिस जाती है और साधारण अत्यन्त महत्वहीन रीतियाँ जीवित रह जाती हैं। इसी उलझन और नियम-हीनता को देखकर शायद कुछ लोग उन्हें स्वतन्त्र मानते हैं। समनर की परिभाषा में नवीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होने की बात स्वीकार की गई है। ये नवीन परिस्थितियाँ किस की हो सकती हैं? समाज की ही तो! समाज बाहर का ही तो तत्व है? समनर का शायद अभिप्राय यह है कि बाहरी समाज का प्रकाश जनरीतियों पर पड़ता है। जिससे वह नवीन रूप ग्रहण करती है। परन्तु इनके नवीन रूप में हम समाज की स्पष्ट छाया नहीं देख सकते। वह उलझी हुई है। यदि यही बात है तो मतभेद की जगह नहीं है, परन्तु यदि इसका यह अभिप्राय है कि समाज, काल और देश से जनरीतियाँ स्वतन्त्र हैं तो हमें इसे स्वीकार करने में घोर आपत्ति है।

जनरीतियों का आधार

यह प्रश्न भी बड़ा उलझनमय है कि जनरीतियों का आधार क्या है ये कहाँ से विकसित होती हैं। इतना तो सभी मानेंगे कि संसार के अन्य तत्वों के समान जनरीतियाँ भी आकाश से नहीं चूतीं और न यों ही जमीन से पैदा हो जाती हैं। प्रत्येक जनरीति का कोई न कोई उद्गम होगा ही, भले ही वह इतना उलझ गया हो और उसका मूल इतना पुराना हो कि हम वहाँ तक जान सकें। सामान्यतया जनरीतियों के निम्न आधार हैं—

(१) प्रत्येक देश की अपनी प्राकृतिक स्थिति, अपना जलवायु और अपनी बहुत सी चीजें होती हैं, जिनकी छाप उस देश के समाज और सामाजिक व्यवहारों पर पड़े बिना नहीं रह सकती। जनरीतियाँ भी इनसे अछूती कैसे रहेंगी? वस्त्र और स्वच्छता आदि के नियमों पर देश की प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव

स्पष्ट दिखाई पड़ता है। दस्त्रों की परिपाटी एक देश से दूसरे देश में सांस्कृतिक समिश्रण के कारण होती है। परन्तु जलवायु आदि उनमें परिवर्तन कर दिया करते हैं। कुशनों के बड़े-बड़े चोगे भारत में आये परन्तु सर्वजन प्रिय नहीं हो सके। कुर्ता भारत में थोड़े ही कमर से नीचे गया, परन्तु अरब में वह एड़ी तक पहुँच कर रुका, क्योंकि गर्म लू के कारण ढीला-ढाला परन्तु काफी कपड़ा जरूरी था। भारत में अभी भी कुछ मौलवी उसीका अनुकरण करते हैं। भारत में भी पश्चिमी प्रान्तों में भी कपड़ों की बहुलता और बंगाल का नंगा सिर उसीका उदाहरण है। परन्तु इस नियम को हद नहीं मानना चाहिए। संस्कृति और इतिहास का इसमें बहुत बड़ा हाथ रहता है।

(२) हमारी जनरीतियों का दूसरा बड़ा उद्गम-स्थल धर्म है। सभ्यता के आरम्भ में जाति ने सृष्टि विकास-क्रम की जो कल्पना की है, जिन निषिद्धों (taboo) तथा पशुपूजा (totem) की धारणायें विकसित की हैं उनसे जनरीतियों का जन्म हुआ और वे विभिन्न तत्त्वों से मिलकर अपने मूल से दूर जा पड़ीं। जन्म और मृत्यु के देवताओं की सृष्टि, उनकी प्रसन्नता, अप्रसन्नता की भावना ने भी कई जनरीतियाँ दीं। हिन्दुओं में दक्षिण की ओर मुँह करके भोजन नहीं करते और न उधर पर करके सोते ही; क्योंकि मृत्यु के राजा यम उसी दिशा के राजा हैं।

आरम्भिक सामाजिक कल्पना को भी हम धर्म से भिन्न नहीं कर सकते। प्रणाम, अधीनता स्वीकृति के नियम, छोटे-बड़े के भेद सम्बन्धी रीतियों में इसका बहुत बड़ा आधार मिलता है।

(३) सभ्यता के विकास-क्रम में उत्पन्न वस्तु और वस्तु-ज्ञान भी धीरे-धीरे जनरीति में शामिल हो गये और अतिरिक्त ज्ञान हो जाने पर भी उस जाति ने नव-ज्ञान का प्रयोग नहीं किया। चीन तथा भारतीय संताल गाय का दूध नहीं पीते और दूध से बनी चीजों का प्रयोग नहीं करते। पुराने जमाने में जब इन जातियों ने गायों को पालतू बनाया तो उन्हें दूध दुहने का ज्ञान नहीं था। अस्तु वे काफी दिनों तक दूध का नाम भी नहीं जानते थे। उनमें दूध की परिपाटी नहीं चली। अब जब वे अन्य जातियों के सम्पर्क में आ चकी हैं, जिनके यहाँ दूध एक उत्कृष्ट पदार्थ माना जाता है तब भी वे प्रथा नहीं बनने के कारण, परम्परागत भावना दूध के विपरीत होने से, उसका प्रयोग नहीं करतीं। संताल तो एक जीव दया सम्बन्धी दलील भी देते हैं और कहते हैं बछड़े का हिस्सा पीना चोरी और लूट है। इस प्रकार घोड़े के मांस से सम्बन्धित जनरीति भी है। कहीं-कहीं लोगों ने उसे खाना शुरू कर दिया है और कहीं उसके विपरीत भावना दृढ़ हो गयी है।

(४) मानव की सहज प्रवृत्तियों का नियमन करने के लिए ताकि वे अधिक से अधिक समाजोपयोगी बन सकें; विभिन्न कालों में धर्म, शासन आदि के द्वारा जो नियम निर्धारित किये गये वे धीरे-धीरे जनरीति में शामिल हो गये। परम्परागत सूत्र से प्राप्त करने तथा बालकपन से उसी आवेष्टन में पलने, बढ़ने के कारण वे दृढ़ होते गये। समाज उन्हें सर्वोत्कृष्ट समझता गया, क्योंकि वह अभ्यस्त था। भोजन, क्रोध, काम आदि के सम्बन्ध में विभिन्न नियम सभी समाजों में प्रचलित हैं और उनमें काफी विभेद और विपरीतता है।

(५) कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रथाएँ मानव की वास्तविक आवश्यकताओं का सुन्दर नेतृत्व करती हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। पशु की भूख और स्वाद उसके लिए एक अच्छा पथ-प्रदर्शक है। मानव का भी स्वाद स्वाभाविक रूप में उसके शरीर की आवश्यकता के अनुरूप ही है। परन्तु हमने कृत्रिम पदार्थों की योजना के द्वारा अपना स्वाद बिगाड़ लिया है। आज हमारी प्रथाएँ विपरीत हो रही हैं और हमें गलत रास्ते पर भी ले जा रही हैं। सौन्दर्य आदि के लिए मानव कृत्रिमता लाता है और इसमें कभी-कभी वह काफी मूर्खता करता है। चीन में स्त्रियों के पैर की दुर्गति, भारत में आभूषणों की अधिकता, जिनमें कुछ स्वास्थ्य के लिए बहुत घरे हैं इसके उदाहरण हैं।

(६) हमारी बहुत-सी प्रथाएँ प्रकृति सम्बन्धी अज्ञता की सूचना देती हैं।

आधुनिक युग में जनरीतियाँ

आज के युग में आवागमन के साधनों के कारण सस्कृतियों का सम्पर्क इतना बढ़ गया है कि संघर्ष, सम्मेलन, आदान-प्रदान नित्य के विषय बन रहे हैं। पुराने जमाने में इतना सांस्कृतिक संपर्क असम्भव था। हर एक जाति अपने सन्निकर्ष में अपना जीवन यापन करती थीं। कभी-कभी प्रवास और युद्ध में संघर्ष होते थे। आज तो किसी बड़े शहर में संसार के कई जातियों के लोग दिखाई पड़ेंगे, फलतः पुरानी प्रथाओं की शक्ति बहुत कम हो गयी है और नयी प्रथा ढल नहीं पाई, क्योंकि उन्हें स्पष्ट रूप ग्रहण करने के लिए जितने अवकाश और जितनी स्थिरता की आवश्यकता है वह समाज को नहीं मिल पाता। एक वस्तु और एक व्यवहार जब कई बार दुहराये जाते हैं और यह संभावना होने लगती है कि वे जनरीति का रूप ग्रहण करेंगे तब उनकी ताकत कमजोर पड़ जाती है और दूसरा व्यवहार चल निकलता है। इसीसे कुछ लोग कहते हैं कि आज का युग जनरीतियों का नहीं, फैशनों का है। आज लोग स्थिरता नहीं चाहते, नवीनता चाहते हैं। प्राचीन काल में भी कुछ विद्वान

नवीनता को सौन्दर्य का लक्षण मानते थे और कहते थे “क्षणे क्षणे यन्नवता-
मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः” । परन्तु प्राचीनों में नवीनता का प्रेम जीवन
व्यापी नहीं था; कुछ बाह्य पदार्थों तक ही सीमित था । आज तो नवीनता
जीवन का खास लक्षण बन रही है ।

पुराने समय में सामाजिक स्तर स्पष्ट थे, मोटे थे और क्षणभंगुर नहीं थे,
अस्तु उनमें विभिन्न जनरीतियाँ पुनरावर्तन के कारण दृढ़ बनी रहती थीं ।
आज तो विचार एव रहन-सहन के आधार पर समाज के अनेक स्तर हो गए हैं ।
उनकी पतें बहुत पतली हैं । साथ ही समुदायों की अनेकता भी सभ्य युग की
एक विशेषता है । विभिन्न समुदायों में विभिन्न जनरीतियाँ हैं । ऐसी स्थिति
में किसी भी जनरीति का व्यापक बनना और समाज के खास अंग रूप में
अपना प्रभुत्व स्थापित करना कठिन है । पुराने जमाने में समुदायों की इतनी
विभिन्नता समाज स्वीकृत नहीं कर सकता था । वहाँ तो एक ही समुदाय था
और वह था प्राथमिक । अस्तु, उनका सम्पूर्ण नियमन जनरीतियों द्वारा ही होता
था । आज भी जो जातियाँ प्राचीन अवस्था में हैं उनमें जनरीतियों की
नियामक शक्ति उतनी ही व्यापक, उतनी ही दृढ़ बनी हुई है ।

जनरीतियों की शक्ति कम करनेवाली प्रधान रूप में दो चीजें स्पष्ट की
गई हैं ।

(१) सांस्कृतिक सम्मिश्रण की अधिकता

(२) सामाजिक जीवन की बहुरूपता और परिवर्तनशीलता । भारतवर्ष में
प्राचीन काल में सांस्कृतिक सम्मिश्रण काफी हुए हैं और विश्लेषण करने पर
हमारी जनरीतियों में कई दूसरों की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष देन सिद्ध होगी ।
परन्तु इस्लाम से संघर्ष काल में हमने अपनी विशेषता बचाए रखने के लिए
अपनी जनरीतियों का तथा वर्ण व्यवस्था का घेरा बहुत मजबूत बना लिया ।
आज के युग का व्यापक सांस्कृतिक सम्मेलन भारत के ग्रामों तक नहीं पहुँच
सका है । उसका थोड़ा-बहुत दर्शन शहरों में ही हो सकता है । सम्पूर्ण की
७ प्रतिशत तक शहरी आबादी में भी प्रायः दो तिहाई ग्रामों से ही सम्बन्धित
है । उनका विचार उसी मिट्टी से बना है जहाँ जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिकता
की दृढ़ दीवाल बहुत कुछ अशों में वैसी ही बनी हुई है । ऐसी स्थिति में जन-
रीतियों की प्रचलता देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।

सामाजिक जीवन की बहुरूपता तथा परिवर्तनशीलता उद्योग के विकास
का फल है । हमने शहरों तथा ग्रामों के प्राथमिक समुदायों की चर्चा की है ।
और वतलाया है कि कृषि प्राथमिक समुदायों का विकास करती है, यंत्र संस्कृति

गौण समुदायों का । यह भी स्पष्ट है कि प्राथमिक समुदायों का अर्थ है सामाजिक बहुरूपता का ह्रास, क्योंकि बहुरूपता आने पर प्राथमिकता टिक नहीं सकती । जनरीतियाँ प्राथमिक समुदायों में ही अधिक दृढ़ होती हैं । हमारी जन-संख्या का ६० प्रतिशत कृषि पर निर्भर है । १० प्रतिशत मजदूर हैं और शेष लोग विभिन्न कार्य करते हैं । इन विभिन्न कार्य करने वाले और मजदूरों में भी काफी बड़ी संख्या किसी-न-किसी रूप में कृषि से सम्बन्धित है । ऐसी स्थिति में नवीन जीवन-प्रणाली का प्रभाव हम पर कम पड़ा है और हम अपनी जन-रीतियों का पालन थोड़ा-बहुत करते रहते हैं ।

इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि हमारी प्रथाओं की शक्ति पहले जैसी ही है । जन-संख्या का जो छोटा भाग शहरों से सम्बन्धित है, मजदूरी और दूसरा कार्य करता है, उसकी जीवन प्रणाली का प्रभाव उसकी भावनाओं पर पड़ता है, कहीं-कहीं तो वह बाध्य होकर अपनी प्रथाओं को तोड़ता है । जब वह परिवार अन्य गाँव में जाता है तो वहाँ परम्परा में एक दरार पड़ जाती है और उससे सम्बन्धित लोग सहनशील बन जाते हैं । यह दरार धीरे-धीरे चौड़ी बनती जा रही है । इससे भी बड़ा असर शिक्षित समुदाय का पड़ रहा है । शिक्षितों का तो सम्पूर्ण सन्निकर्ष बदल गया है । वह स्वतः एक समाज स्तर बन गए हैं जिनमें आपस में भी विचार आदि के आधार पर कई छोटे-छोटे स्तर हैं । यह शिक्षित वर्ग समाज के सभी स्तर के बालकों से मिलकर बना है; उसमें प्रायः सभी स्तरों के व्यक्ति आकर सम्मिलित हुए हैं । इनके कारण सभी स्तरों की जनरीतियाँ क्षुब्ध हैं और एक ही परिवार में पते बनती जा रही हैं, जो समाज को कुछ अंशों तक बहुरूपी बनाने में समर्थ हो रही हैं ।

जीवन प्रणाली की इस नवीनता के साथ ही राजनीतिक आंदोलनों ने भी भावनाओं में परिवर्तन किया है । एक राजनीतिज्ञ का कथन है कि विभिन्न कारणों से विभिन्न प्रान्तों के राजनीतिक नेता समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों से आये हैं और वे अपने स्तर की मनोवृत्ति से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं । आप इस सम्बन्ध में बिहार और उत्तर-प्रदेश की तुलना करते हैं । बिहारी नेता ग्रामीण क्षेत्रों के हैं, उत्तर प्रदेश वाले शहर से निकले हैं । इसका कारण शायद यह है कि बिहार में राजनीतिक आंदोलनों की जड़ बिहातों तक गई है, परन्तु उत्तर-प्रदेश में शहर तक ही सीमित है । इसका फल यह है कि बिहार के नेताओं में प्रथा-पालन और जाति-पाँति की भावना बनी हुई है । इस सम्बन्ध में और खोज की जरूरत है ।

लोकाचार (mores)

जनरीतियाँ व्यापक हैं, जीवन के हर क्षेत्र में हम उन्हें देखते हैं। परन्तु सभी जनरीतियाँ एक-सी महत्वपूर्ण नहीं होतीं और न समाज सब के पालन में एक-सा सतर्क रहता है। जिनका सम्बन्ध समाज के किसी विशेष अंग से है उन्हें विशेष आवश्यक समझा जाता है। समनर ने ऐसी विशिष्ट जनरीतियों का नाम मोर्स (mores) दिया है जो एक यूनानी शब्द है और जिसका अर्थ 'प्रथा' ही है। हमने मोर्स के लिए प्रचलित शब्द लोकाचार दिया है। समनर ने इसकी निम्न परिभाषा दी है :—

‘लोकाचार से मेरा अभिप्राय उन जनप्रिय परिपाटियों और परम्पराओं से है जिन्हें यह निर्णय आ जाता है कि वे सामाजिक भलाई के लिए लाभप्रद हैं और वे व्यक्ति पर उनके अनुकूल चलने के लिए दबाव डालती हैं। यद्यपि वे किसी अधिकारी से संयुक्त नहीं होतीं।’* समनर के अनुसार लोकाचार जनप्रिय परिपाटी और परम्परा ही हैं। परन्तु सारी परिपाटियों और परम्पराओं में लोकाचार नहीं है, लोकाचार होने के लिए दो शर्तें पूरी करनी चाहिए।

(१) उनका पालन सामाजिक हित के लिए आवश्यक है यह भाव भी उनमें सम्मिलित हो। साधारण परिपाटियाँ और जनरीतियाँ यों ही दैनिक जीवन की महत्वहीन वस्तुओं से सम्बन्ध रखती हैं। अस्तु उन्हें समाज के लिए उस तरह आवश्यक नहीं कहा जा सकता।

(२) लोकाचारों को मानने के लिए व्यक्ति को बाध्य किया जाता है। विवाहादि के नियमों की अवहेलना करने पर समाज यों ही हँसकर या डाँटकर नहीं छोड़ सकता; यों तो लोकाचार स्वतः ही इतने व्यापक होते हैं कि व्यक्ति उन्हें ही ठीक समझता है। यदि किसी कारणवश ऐसा नहीं हुआ तो समाज जाति से वहिष्कृत भी कर देता है।

इस दबाव के लिए कोई विधिवत् अधिकारी नहीं है। आज के युग में तो बाध्यता का अधिकार एक ही सत्ता को है और वह है राज्य। परन्तु पुराने जमाने में और आज के युग में भी उन पिछड़ी जातियों में, जिन्हें समनर ने इनपर विचार करने के समय अपने सामने रखा है, यह अधिकार सम्मिलित रूप में सम्पूर्ण जाति को था और है। अभी भी हमारे यहाँ कुछ जातियों में पंचायतें केवल वहिष्कृत ही नहीं करतीं शारीरिक और आर्थिक दंड भी देती हैं।

लोकाचार समाज के नियामक हैं। समाज की धारणा उनमें इतनी वद्धमूल हो जाती है कि वह समझता है कि वास्तविक सत्य लोकाचार ही हैं, और

वही उचित है, न्याय है और उनके विपरीत जो कुछ है वह अनुचित है तथा अन्याय है। सारे लोकाचार समाज की भलाई के लिए ही हैं, यह भ्रम है। सभी जातियों में ऐसे लोकाचार हैं जो स्पष्टतया बुरे मालूम पड़ते हैं, परन्तु हम लोकाचारों को ही सही मानते हैं। इसीलिए समनर कहता है कि 'लोकाचार किसी भी वस्तु को सही बना सकते हैं'*। लोकाचार की शक्ति देखते हुए ही हमारे यहाँ कहा गया है कि—“यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं ना करणीयं ना करणीयं।”

यह यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि लोकाचार भी परिवर्तन-शील हैं क्योंकि वे भी जनरीतियों के अंग हैं।

विधि और प्रथाएँ

विधि या कानून आधुनिक युग की उपज है। प्राचीन काल में विधि नाम की कोई चीज नहीं थी। लोकाचार ही वह काम करता था, जिसे आजकल विधि करती है। सारा शासन प्रथाओं के बल पर होता था। प्रथाएँ एक ओर एक प्रजा से दूसरी प्रजा के विविध सम्बन्धों का निर्धारण करती थीं दूसरी ओर राजा-प्रजा सम्बन्ध के विविध रूप भी इन्हीं के द्वारा नियमित और संचालित होते थे। राजा आते थे, जाते थे; एक वंश गिरता था दूसरा वंश उठता था। परन्तु शासन के कामों में थोड़ा ही अन्तर पड़ता था; क्योंकि लोकाचार धीरे-धीरे बदलते थे, सहसा नहीं। निरंकुश शासक पूर्णतया निरंकुश नहीं थे, लोकाचार उनसे ऊपर थे, उनके भी शासक थे। आज का युग लोकाचार को उतना महत्वपूर्ण और शक्तिशाली नहीं मानता। लोकाचार से भिन्न विधि आज निम्न कारणों से प्रबल हुई—

(१) प्राचीन समाज सरल था। जीवनविधि का परिवर्तन इतना शीघ्र नहीं होता था। फलतः समाज स्वतः धीरे-धीरे अपने को नवयुग के अनुरूप ढाल लेता था। हमारे सारे सम्बन्ध प्राथमिक थे या यों कहिए कि सभी सम्बन्धों की मूल भित्ति एक थी। यातायात के साधनों के अभाव में हमारा सम्पर्क भी संकुचित था इसीसे हादिक था। ऐसे सरल समाज में लोकाचार सम्पूर्ण नियामक हो सकता था और उसके जीवन का दिशा निर्देश प्रथाओं से पूरा सम्भव था। इतना होते हुए भी एक अन्याय तो होता ही था। यदि शासक एक जाति का और शासित दूसरी जाति के होते थे तो शासन का संचालन शासक जाति के लोकाचार करते थे, जिससे शासित कुछ-न-कुछ कष्ट पाते ही थे, यद्यपि आन्तरिक मामलों में शासक जाति बहुत कम हस्तक्षेप करती थी; उसी जाति के राजा या सरदार या सामंत के द्वारा उसका शासन होता था।

* Mores can mak anything appear right.

(२) यंत्रों के कारण जीवन-विधि इतनी जल्दी-जल्दी बदल रही है, समाज का रूप इतनी शीघ्रता से परिवर्तित हो रहा है कि प्रथाएँ उनसे कदम मिलाकर चल नहीं पातीं। वे पिछड़ जाती हैं और समाज आगे निकल जाता है। ऐसी स्थिति में लोकाचार उसका पैर पीछे घसीट लेने की कोशिश करते हैं। इस रस्साकशी में विधि की आवश्यकता आ पड़ती है, जो समाज के अनुरूप अपना रूप बदल सके।

(३) आज विभिन्न जातियों का ऐसा सम्मेलन हुआ है जिसकी कल्पना भी पुराने लोग नहीं कर सकते थे। इस सम्मेलन ने विभिन्न प्रथाओं और लोकाचारों को एक दूसरे के आमने-सामने खड़ा कर दिया है; जिनमें संघर्ष अनिवार्य है। आज हम अपने को अलग करके नहीं रख सकते और न विपरीत लोकाचारों पर नाक-भों सिकोड़ कर ही जी सकते हैं। एक ऐसी भूमि अनिवार्य हो जाती है जहाँ विपरीत प्रथाएँ, विपरीत धर्म और विपरीत विचार लिए हुए भी हम मिल सकें और वह भूमि ऐसी मजबूत हो जो हमारे संघर्षों को दबा सके। इसीलिए यह तृतीय शक्ति विधि के रूप में सामने आई है।

(४) आधुनिक युग में विभिन्न स्वार्थ उत्पन्न हो गये हैं। इनमें नये स्वार्थ अधिक हैं, पुराने स्वार्थों को सुलझाने के लिये प्रथाएँ कुछ-न-कुछ सहायता देती हैं; नये के लिए वह पूर्णतया असमर्थ हैं। किन्तु नये-पुराने मिलकर इतने घुल गये हैं कि उनमें से पुराने को छाँटना भी कठिन है। खेतिहर मजदूरों के लिए प्रथाएँ हैं; किन्तु आज के युग में वे व्यर्थ हो रही हैं। उनपर कोई भी मजदूर अपना गुजर नहीं कर सकता। यही कारण है कि खेतिहर मजदूरों में एक बड़ा भाग जबरन गुलाम जैसा रक्खा जाता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न स्वार्थों की उलझनों को सुलझाने के लिए विधि आवश्यक हो जाती है।

लोकाचारों की रीढ़ टूट गई है। वे आज समाज का उस सफलता के साथ नियमन नहीं कर पाते। विधि ने उनका स्थान ले लिया है। आवश्यक अधिकांश लोकाचार भी विधि में सम्मिलित कर लिए गये हैं और उनका कानूनी रूप दे दिया गया है।

विधि के दोष

विधि ने लोकाचारों का स्थान तो लिया है; परन्तु उसमें कुछ ऐसे दोष हैं, जिनसे वह उतनी ऊँची नहीं उठ सकती है और न समाज का पूरा हित-साधन कर सकती है।

(१) उसमें प्रथम दोष यह है कि वह वाह्य पदार्थ है, जनता के हृदय तक नहीं जा पाती। जनता उसे इसलिए नहीं मानती कि वह उचित है; वरन्

इसलिए मानती है कि उसे नहीं मानने पर दण्ड मिलेगा । इसका फल यह होता है कि पूर्ण अर्थ में नागरिकता नहीं आ पाती और समाज विधि को अपना न समझकर सरकार की चीज समझता है । अक्सर मिलने पर उल्लंघन से भी नहीं घबड़ाता, घबड़ाता है केवल दण्ड से । मद्य निषेध योजना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है । अमेरिका में और भारत के कुछ भागों में भी यह योजना सफल नहीं हो पाती क्योंकि इसके पीछे जनरीतियों तथा लोकाचारों का आधार नहीं है ।

(२) विधि का दूसरा दोष है उसकी उलझन । विधि का ध्येय है समाज । समाज की भलाई हो, एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति से और सम्पूर्ण समाज से उचित तथा प्रेममय हो, यही उसका उद्देश्य है । परन्तु विधि तो आज एक स्वतंत्र सत्ता-सी बन रही है, जिसे समाज से कोई मतलब नहीं है । मतलब है केवल शब्दों से; सामाजिक अपराध हुआ है या नहीं, यह विचार करना न्यायाधिकरण का वैसा काम नहीं है । उसका प्रधान काम है यह देखना कि वह अपराध कानून में अपराध है या नहीं ।

(३) कानून या विधि वास्तव में शासन की इच्छा है । धर्म, प्रथा तथा लोकाचारों की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण कानून की निरंकुशता और बढ़ गई है । ऐतिहासिक-विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यूरोप में कानून की सर्वोपरि महत्ता प्रभुत्व शक्ति-सिद्धान्त (power of sovereignty) के साथ स्थापित हुई । जब समाज के सारे अंग क्षीण हो गये और राजसत्ता ही सर्व प्रधान, सर्व-शक्तिमान सत्ता मान ली गई तो उस सत्ता के निरंकुश आदेशों को कानून या विधि नाम दिया गया । एक—राजतंत्र के विनाश के पश्चात् जनतंत्र में शासन पर जनता का अंकुश स्थापित हुआ और कहा जा सकता है कि अप्रत्यक्ष रूप में इस तरह कानून पर भी जनता का शासन है अथवा कानून शासन की इच्छा नहीं, जनता की इच्छा है । किन्हीं अंशों तक यह कथन सत्य है, परन्तु सर्वांश में नहीं ।

(४) यह कहा जाता है कि कानून धनी, गरीब, सबल, निर्बल सब के लिए समान है और सबों को एक नजर से देखता है । परन्तु व्यवहार में ऐसी बात नहीं है कानून की उलझनों का जाल इतना पेचीदा बन गया है कि सारा न्यायाधिकरण कानून जाननेवालों के हाथ का खिल-वाड़ बन जाता है । फलतः न्याय तरु पहुँचना और अपना प्राप्य पाना इतना द्रव्य-साध्य और उलझा कार्य है कि साधन-हीन को कभी न्याय नहीं मिल सकता । जुलाई १९५३ में अखिलभारत वर्षीय कांग्रेस कमेटी ने आगरे की बैठक में न्याय को सस्ता बनाने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकृत किया है ।

प्रस्ताव की मंशा है कि न्याय की पद्धति में ऐसे संशोधन किये जायें जिससे वह अधिक सरल अल्प-व्यय-साध्य और शीघ्र निर्णय करनेवाली बन जाय, ताकि कल्याण राज्य के ध्येय और उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इसी उद्देश्य से इंग्लैंड में भी एक समिति का निर्माण हुआ है। उसने कई सामान्य सुझाव दिये हैं, जिन्हें अपनाने से थोड़ा बहुत सुधार होगा; इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु सम्पूर्ण मसला नहीं हल होगा। जब तक कानून, उसकी शब्दावली और व्याख्याओं को ही निरपेक्ष आधार मानते रहेंगे; तबतक उसके नागपाश से समाज का उद्धार नहीं हो सकता।

आजकल कानूनी-शासन (government by law) की दुहाई दी जाती है। चाहे अन्य किन्हीं अर्थों में जनतंत्रीय शासन कानूनी शासन हो या नहीं इस अर्थ में अवश्य है कि जो कुछ किया जाता है कानून के नाम पर किया जाता है—समाज, भविष्य, धर्म तथा कल्याण के नाम पर बहुत कम।

(५) विपरीत विधि स्वाभाविक समाज के विकास में बाधक भी है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है भारतवर्ष। अंग्रेजी शासन तथा उनके द्वारा निर्धारित विधियाँ एक ओर विदेशी थीं, दूसरी ओर वे प्राचीन परम्पराओं को धर्म स्वातंत्र्य के नाते स्थिर मानकर चलती थीं। इन दोनों के बीच में हमारा समाज पिसता रहा और हमें आज भी उसका फल भोगना पड़ रहा है। श्री सी० पी० रमास्वामी ऐय्यर का कहना है—‘समाज की अर्द्ध-चेतन उन्नति और स्वतः विकास की गति अवरुद्ध कर दी गई, किसी निश्चित उद्देश्य से नहीं; प्रत्युत केवल इसलिए कि विदेशियों के लिए सुधार करना या सामाजिक अथवा धार्मिक संशोधन लाना कठिन था। इस तरह एक सौ वर्षों के युग के भीतर पुरातन रूपों या प्रथाओं को स्थिर करने की लगातार प्रवृत्ति बनी रही, अन्यथा इस युग में भीतर से विकासात्मक परिवर्तन हुए होते।’

प्रथाओं को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।—(१) सामान्य जनरीतियाँ (२, लोकाचार (३) सामयिक रीतियाँ।

सामयिक रीतियाँ

सामयिक रीतियों से अभिप्राय उन प्रथाओं से है जो थोड़े समय के लिए पैदा होती हैं और पुनः मिट जाती हैं। प्रचलित भाषा में इन्हें फैशन या शौक कहते हैं। फैशन की सबसे बड़ी विशेषता इसका क्षण-स्थायित्व है। फैशन तबतक फैशन नहीं कहा जा सकता जबतक इसे समाज का एक भाग स्वीकार नहीं कर लेता। साथ ही प्रचलित परिभाषा में यह विवेक उत्पन्न करता है अर्थात् प्रचलन से बिना विभिन्नता हुए सामयिकता नहीं आ सकती। अस्तु

फैशन से अभिप्राय प्रचलित प्रथा के उस सामयिक विभेद से है जिसे समाज के एक अंग ने स्वीकार कर लिया हो ।

फैशन सामान्यतया उन्हीं प्रथाओं पर आक्रमण करता है जिनको समाज उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझता और जिनका सम्बन्ध जीवन के उन व्यापारों से है जिनमें परिवर्तन जल्दी अखरता नहीं । विवाह, धर्म आदि के मामले में फैशन सहा नहीं होता, कारण यह है कि हम उन्हें पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं । इनसे सम्बन्धित लोकाचार हमारे हृदयों में घर कर गये हैं । साथ ही फैशन सामयिक वस्तु है, विवाह सामयिक नहीं हो सकते । यही कारण है कि फैशन परिधान, सजावट, विनोद, सामान, कला और साहित्य की शैली आदि में ही अधिकतर आते हैं । वस्त्र में सबसे अधिक यह लक्षित होते हैं । इसीसे सामान्य भाषा में फैशन वस्त्र तथा शृंगार को ही कहते हैं ।

फैशन जनरीतियों के अभाव में उत्पन्न होते हैं । जहाँ जनरीतियाँ कम-जोर पड़ जाती हैं समाज के जीवन पर उनका नियंत्रण ढीला पड़ जाता है वहीं फैशन घुस आते हैं । प्राचीन काल में जब प्रथाएँ समाज का पूर्ण नियमन करती थीं, समाज का हर व्यक्ति उनका ही पालन करता था । फैशन को कहीं जगह नहीं थी । आज के युग में अपनी वेश-भूषा, अपनी शैली का मोह बहुत कुछ अंशों में टूट चुका है । इसीलिए रोज नये फैशन आ रहे हैं । फैशन के प्रचार तथा प्रसार के कारण आवागमन की अत्यधिक सुविधा भी है । एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से पहुँच जाती है । इससे फैशन की भी यात्रा सहज हो गई है । कपड़े के व्यापारी, सिलाई के व्यवसायी तथा मिल-मालिक विज्ञापन प्रचार आदि के द्वारा उत्पन्न फैशनों के प्रसार में काफी व्यय करते हैं, इससे उन्हें अत्यधिक लाभ होता है ।

फैशन का नेता अवकाश-प्राप्त, सुविधा-सम्पन्न वर्ग है, जिसको समाज अनुकरणीय समझता है, और जिसके सम्बन्ध में उसकी अच्छी धारणा है । फैशन के लिए पैसे भी चाहिए, इसीसे इसका निर्मातः पैसे वाला ही वर्ग है । परन्तु सर्वत्र ऐसी बात नहीं होती । राजनीति और सैद्धांतिक नेता भी अज्ञात रूप में फैशन के जन्मदाता बन जाते हैं । उनके अनुयायी अपनी श्रद्धा के कारण वस्त्र, बोलने की पद्धति आदि कई बातों में उनका अनुकरण करने लगते हैं । हमारे यहाँ गाँधी टोपी और जवाहर बंडी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । गाँधीजी की लंगोटी और कमर में घड़ी लटकाने का भी कम अनुकरण नहीं हुआ । जवाहर बंडी में भी अब जयप्रकाश 'कट' आ गया है । बोली के अनुकरण का सुन्दर उदाहरण आर्य समाज में दिखाई पड़ता है । आर्य समाज के प्रचारकों में बड़ी संख्या पंजाबियों की, इससे बिहारी आर्य समाजी भी

अपने भाषणों में पंजाबी उच्चारण लाने की कोशिश करते हैं। इधर कुछ कट्टर गांधीवादी गुजराती टोन में बोलने का प्रयत्न करने लगे हैं और 'लोग' को 'लोक' बोलते हैं। महामान्य मालवीय जी का 'आपके' साथ मध्यम पुरुष एक वचन की क्रिया का प्रयोग भी कुछ दिनों तक खूब चला था।

भारत में फैशन के अनुकरण करनेवाले शहरी तथा देहातों के शिक्षित हैं; परन्तु वस्त्र, केश आदि में इनके पीछे चलनेवाला एक और वर्ग है, जिसे समाज 'फाजिल' (अधिक या Superfluous) मानता है।

फैशन कभी कभी प्रथा के रूप में भी परिणत हो जाता है और इससे प्रथाओं का भी निर्माण हो जा सकता है। एक प्रकार फैशन मानव की दो परस्पर विरोधी भावनाओं—नवीनता और समाजानुकूलता (novelty and conformity) को एक साथ ही तृप्त करता है।

फैशन, अभिसमय और शिष्टाचार

अभिसमय (convention) एक प्रकार से व्यवहार का आन्तरिक समझौता है। हम एक आदमी से घृणा करते हैं; परन्तु आवश्यकता-वश या शालीनता और सभ्यता के नाते उसे दबाकर प्रेम प्रदर्शन की ही चेष्टा करते हैं। अपनी घृणा को वाह्य रूप देना नहीं चाहते। यह हमारा बचाव अभिसमय है। हम उन परिस्थितियों को बचा ले जाते हैं; जिनमें हमारी भावना के खुल जाने का भय है; या उसपर एक आवरण डाल देते हैं।

शिष्टाचार से अभिप्राय उन व्यवहारों से है जिनसे छोटे बड़े का भेद स्पष्ट होता है। इसे भी हम प्रथा का ही एक रूप मानेंगे।

दसवाँ प्रकरण

[प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण]

सभी सामाजिक नियमों के भीतर सामाजिक नियंत्रण के तत्त्व मौजूद रहते हैं; जो कभी प्रत्यक्ष रूप में काम करते हैं और कभी अप्रत्यक्ष रूप में। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का यह वर्गीकरण उतना सूक्ष्म नहीं है। कई प्रकार के अप्रत्यक्ष अन्त में आकर प्रत्यक्ष बन जाते हैं। किसी समाज को किस प्रकार के नियंत्रण पर निर्भर करना पड़ेगा, यह उसके विस्तार, क्षेत्र, संगठन, आवागमन तथा नियन्त्रण के साधन और सामाजिक गत्यात्मकता पर निर्भर करता है। छोटे समाजों में प्रत्यक्ष नियंत्रण की जितनी सुविधा रहती है, उतनी बृहत् तथा विस्तृत समाजों में नहीं, यद्यपि प्राथमिक समुदायों के अप्रत्यक्ष प्रभावों के कारण उनमें उसकी सबसे कम आवश्यकता रहती है। बृहद् समाज विविध रूपात्मक हो जाता है, इसलिए उसके लिए सबसे अधिक प्रत्यक्ष नियंत्रण आवश्यक पड़ जाते हैं। परन्तु साधनों के अभाव तथा नियंत्रण की सीमित शक्ति होने के कारण वह उतना आसान नहीं हो पाता। जो समाज जितना ही इन दोनों में संतुलन रखता है और प्रत्यक्ष को भी अप्रत्यक्ष में परिणत करने की क्षमता जिसके पास जितनी ही रहती है, वह उतना ही सफल समाज समझा जाता है।

प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा समनुज्ञायें

(Direct control and social sanctions)

व्यक्ति तथा समाज की किसी इकाई या अंग को सामाजिक नियमों के अनुकूल बनाए रखने के लिए समाज में कुछ तत्त्व मौजूद हैं, जिन्हें हम सामाजिक समनुज्ञायें कहते हैं। ये नियमों की रक्षिका हैं और उनके उल्लंघनों को रोकने में सहायक हैं। समाज का प्रत्यक्ष नियंत्रण इन्हीं के द्वारा अपना कार्य करता है। हम इन्हें सामान्यतया दो कोटियों में बाँट सकते हैं। (१) अव-

रोधक तथा (२) स्वीकृतियाँ (recognitions) । इन्हें अवरोधक तथा प्रेरक भी कहा जा सकता है ।

अवरोधक—अवरोधक का अभिप्राय उन समनुज्ञाओं से है जो उल्लंघन को रोकती है । इनमें किसी न किसी प्रकार का भय मौजूद रहता है । जहाँ कहीं मानव अपना कोई इच्छित कार्य करने में समाज के अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति से प्रत्यक्ष रूप में अथवा उपस्थिति की संभावना से अप्रत्यक्ष रूप में बाधा का अनुभव करता है, वहाँ अवरोधक समनुज्ञाओं का अस्तित्व मानना चाहिए । अपने स्वरूप के अनुसार ये दो प्रकार की हो सकती हैं—

(१) मानसिक अवरोधक (२) वाध्यता मूलक (coercion)

लज्जा, संकोच आदि के कारण समाज का एक बड़ा वर्ग, जिसमें आत्मा-भिमान मौजूद है, समाज के प्रतिकूल नहीं जा पाता और अधिक से अधिक अपना आचरण उसके अनुकूल रखने का प्रयत्न करता है । प्रथाओं की अनुकूलता बहुत कुछ इसी से बनी रहती है । हँसी, व्यंग्य, निन्दा की संभावना में एक बड़ी शक्ति छिपी हुई है । ऐसा देखा जाता है कि जो लोग दण्ड से नहीं सुधर सकते वे व्यंग्य की चोट से संभल जाते हैं । किसी की चिंता नहीं करने वाले समाज में थोड़े ही लोग होते हैं । उनमें से कुछ इतने ऊँचे उठे होते हैं कि उनमें आत्म-चेतना और आत्मशक्ति बहुत अधिक होती है । वे अपने पर, अपने कार्यों, विचारों तथा विश्वासों पर पूरा भरोसा रखते हैं । उनकी उपयोगिता, औचित्य और न्याय पर उन्हें पूरा विश्वास रहता है । महात्मा ईसा, मुहम्मद तथा महात्मा गाँधी ऐसे ही लोगों में थे । उन्होंने युग के लोगों की चिन्ता नहीं की, क्योंकि वे समझते थे कि युग की आत्मा उनके पास है । परन्तु सब लोग इस प्रकार के नहीं हो सकते । साधारण तथा मध्यम श्रेणी के जीवों के लिए निर्लज्ज होना समाज की शक्ति को क्षीण करना है इसलिए निर्लज्जता एक ऐसी बुराई है जो अनेक बुराइयाँ लाती है और अनेक अपराधों की सृष्टि करती है ।

अपराध स्वीकृति (Confession) एक पुण्य है, किन्तु तब, जब ग्लानि और पश्चाताप हो । मानव जब अनुभव करता है कि उसने अपराध किया है, भविष्य में उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, तब पाप-प्रकाशन कल्याण-कारक होता है; क्योंकि उससे भविष्य में बचने के लिए एक आत्म-शक्ति और एक सहारा मिलता है । यह निर्लज्जता नहीं, लज्जा का प्रकाशन है । किन्तु बार-बार अपने पापों की चर्चा चलाने वालों और फिर भी पाप करने वालों में चार प्रकार की मनोवृत्ति वाले हो सकते हैं—

(१) बहुत से लोगों द्वारा स्वाभाविक कमजोरियों के कारण पाप होते हैं, वे बचना चाहते हैं; परन्तु अपने को रोक नहीं सकते। ऐसे लोग इस स्वीकृति से सान्त्वना पाते हैं।

(२) पाप करने से जो अन्यो के क्रोध, घृणा का भय होता है उससे रक्षा पाने के लिए भी पापों की चर्चा की जाती है। यह निर्लज्जता नहीं है, निर्लज्जता के निकट आकर लज्जा से बचने का एक साधन है।

(३) कुछ लोग अपनी कमजोरी और वाध्यता बतला कर बार-बार पाप करने के दण्ड से या घृणा से अपनी रक्षा करने के लिए पापों को स्वीकार करते हैं। ऐसे लोग अपनी कमजोरी की सफाई अवश्य देंगे। घूस लेनेवाले पेट की दुहाई, चरित्र-भ्रष्ट तथा नशाखोर आदत की दुहाई देकर अपने को बचाते हैं।

(४) अपनी बुराई को बुराई के रूप में न रखकर बहादुरी या साहसिकता के रूप में रखनेवालों की भी कमी नहीं है। ऐसे लोग उस साहसिकता को प्रशंसा के लिए तथा उससे उत्पन्न आनन्द लेने के लिए ऐसा करते हैं।

इनमें समाज के लिए उत्तरोत्तर बुरे हैं। अन्तिम दो तो जघन्य अपराधी हैं, क्योंकि उनमें ग्लानि तथा पश्चात्ताप नहीं होता। सबसे बुरा यह होता है कि इन से समाज में पाप की प्रवृत्ति बढ़ती है।

इसी तरह पाप छिपाने वाले तीन कारणों से पाप छिपाते हैं (१) दण्ड के भय से (२) प्रतिष्ठा की हानि के भय से और (३) स्वाभाविक लज्जा के भय से। इन छिपाने वालों में प्रथम नीच हैं, किन्तु द्वितीय और तृतीय क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं। इन छिपाने वालों से इतना तो होता है कि अनुकरण का भय नहीं रहता और निर्लज्जता नहीं पनपती। वे स्वयं पाप करते हैं किन्तु पाप के लिए प्रोत्साहन तो नहीं देते, निर्लज्जता का समाज में संचार तो नहीं करते।

व्यंग्य लज्जा जगाने का, लज्जित करने का एक अप्रत्यक्ष रूप है। पाप या अपराध करने वालों को व्यंग्य के द्वारा यह सूचना दी जाती है कि तुम्हारा पाप छिपा नहीं है। व्यंग्य सीधा आक्रमण नहीं है; परन्तु इसके वाण बड़े तेज होते हैं और हृदय तक बेध डालते हैं। निन्दा प्रत्यक्ष रूप में किसी के अपराध की चर्चा है, समाज में लज्जित करने का प्रकट सीधा साधन है, समक्ष आक्रमण है। व्यंग्य की तरह यह कारगर नहीं होता, क्योंकि सीधे सामने आ जाने से अपनी सफाई का, रक्षा का तथा प्रत्याक्रमण का इससे अवसर मिल जाता है। तो भी जो अपनी बुराइयों को जानना चाहते हैं और उन से

बचना चाहते हैं, उनके लिए निन्दक बड़े काम के होते हैं। इसी से कबीर ने उनका स्वागत किया है और कहा है—

निन्दक नियरे राखिये अंगणि कुटी छ्वाय ।

बिन पानी साबुण बिना निर्मल करै सुभाय ॥

व्यंग्य, निंदा, संकोच, लज्जा आदि प्रत्यक्ष नियंत्रण करते हुए भी विधिवत् (Formal) नियंत्रण नहीं है, अविधिवत् (informal) है। वाध्यता-मूलक समनुज्ञाये (Coercion) प्रत्यक्ष विधिवत् नियंत्रण है और स्थूल भय-जनित है। इनके दो रूप होते हैं (१) दण्ड और (२) सुविधा का अपहरण।

दंड शारीरिक भी होता है और आर्थिक भी। आज इस दंड का अधिकार राजसत्ता को छोड़कर समाज के किसी अंगको नहीं है। पहले कई सामाजिक संस्थाओं को यह अधिकार था। सुविधा का अपहरण करने की शक्ति थोड़ा बहुत सभी संस्थाओं को रहती है। जो संस्था के नियमों का पालन नहीं करता, उल्लंघन करता है, वह उसका सदस्य बना नहीं रह पाता। क्लब से लेकर जातीय पंचायतों तक इसका प्रयोग हुआ करता है। क्लब के सदस्य नहीं रहने से आप उससे मिलने वाले संसर्ग, खेल आदि का आनन्द नहीं उठा सकते। इसलिये आप अपने कार्यों पर एक नियंत्रण ला देते हैं। जातीय पंचायतों की जाति-च्युति इतनी सरल नहीं है। संतालों के भयंकर बिटलाहा में अपराधी का सर्व विनष्ट कर दिया जाता है और यदि वह मिले तो उसका वध भी कर दिया जाता है। बिटलाहा की ये क्रियाएँ स्थूल दण्ड हैं। परन्तु मामला इतना ही तक नहीं रहता, बाल-बच्चों की विवाह-शादी बन्द हो जाती है। खान-पान कोई नहीं करता, हुक्का-पानी नहीं चलता और कई अपमान-जनक तथा खटकनेवाली असुविधाओं का नित्य शिकार होना पड़ता है। यदि साथ खाना पड़े तो जातीय बन्धु खिसकने लगते हैं। बिचारा लज्जा से गड़ जाता है। पंचायतों में, सार्वजनिक, जातीय त्यौहारों और उत्सवों में वह भाग नहीं ले सकता। कई जातियों में नृत्यादि में सम्मिलित होने का अधिकार जाति च्युत व्यक्तियों और परिवारों को नहीं होता। 'हो' और 'संतालों' में जातीय अपराधी नृत्य में साथ नाच नहीं सकते। उनमें से अधिकांश में नाचने की इच्छा बड़ी प्रबल रहती है। अकेले नाचा नहीं जा सकता। इसलिए ऐसे लोगों की मानसिक वेदना बहुत अधिक बढ़ जाती है। बंगा जातियों में अपराधी का पता लगाने के लिए या उसे पंचायत के समक्ष लाने के लिये कोई विधिवत् अभिकरण (एजेन्सी) नहीं है। अपराधी परिवार की स्त्रियों के स्पर्श से बचाने के लिए कूपों और झरनों पर स्त्रियाँ अपना घड़ा खिसकाने लगती हैं और यहीं से अपराध की चर्चा सारे गाँव में फैलती है।

स्वीकृतियाँ (Social recognition)—मानव बालकपन से ही अपने को दूसरों की नजरों से देखने का थोड़ा बहुत अभ्यासी होता है । वह चाहता है कि दूसरे उसे स्वीकार करें, उसके कार्यों की प्रशंसा करें, बालक जो प्रवृत्ति बड़े-बड़े दंडों के भय से छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता, वह प्रशंसा के बल पर, प्रशंसा के लिए सहज ही त्याग देता है । अपने कार्यों, रहन-सहन की विचित्रताओं की स्वीकृति वह अन्य लोगों से लेना चाहता है । कई सुधारक शिक्षालयों में इस समनुज्ञा के प्रत्यक्ष सुफल देखने में आये हैं । प्रौढ़ होने पर भी मानव यह अभ्यास छोड़ता नहीं, उसकी तृप्ति का रूप एक ओर विस्तृत और बहुमुखी हो जाता है, दूसरी ओर संघमित और ठोस बनकर हृदय की गहराई में प्रवेश कर जाता है ।

प्रशंसा स्वीकृति का बाह्य रूप है और वह व्यंग्य समनुज्ञा (Satire sanction) के समान ही मध्यम कोटि के मानवों के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है, किंतु स्वीकृति प्रशंसा तक ही सीमित नहीं है । उसके अन्तर्गत मनो-वैज्ञानिकों का सम्पूर्ण ग्रहम् और आत्म-प्रकाशन आ जाता है । जिस किसी भी व्यापार, कार्य या घटना से समाज और उसके सदस्यों का ध्यान आकर्षित हो जाता है, या धाक जम जाती है, अथवा वे अपना सिर झुका लेते हैं, वे सबके सब समाज की स्वीकृति के सूचक हैं । हम जब किसी पर फूलों की वर्षा करते हैं, वाह-वाह करते हैं, तालियाँ पीटते हैं अथवा पुरस्कार, दान, उपहार देते हैं, तब हम उसे अपनी स्वीकृति देते हैं, इतना ही नहीं, हम जब श्रद्धा से सिर झुकाते हैं, आने पर खड़े हो जाते हैं, मिलने पर प्रतिष्ठा करते हैं, सभाओं में सभापति का आसन देते हैं, तब हम उसकी प्रशंसा चाहे न करें पर उसके व्यक्तित्व को, उसके उन सब कार्यों, उपलब्धियों (achievements) और साधनों को स्वीकार करते हैं, जिनसे वह इस योग्य बन सका है ।

मानव इसलिए ही सुन्दर आकर्षक वस्त्र नहीं पहनता कि वह अपनी सुन्दरता पर स्वयं मुग्ध होना चाहता है या ये वस्त्र उपयोगी तथा लाभ-प्रद हैं । कई बार तो ऐसा होता है कि वस्त्र अस्वास्थ्यकर, अनुपयोगी तथा व्यर्थ के भार रहते हैं, तब भी उन्हें पहना जाता है, लज्जा निवारण के लिए नहीं, स्वीकृति के लिए । मोटर की उपयोगिता जितनी आराम तथा सुविधा जन्य है, उतनी ही स्वीकृति जन्य भी । मकान, भवन आदि की भी यही स्थिति है ।

मनुष्य तालियों तथा फूल मालाओं के बीच कांटों की शंका पर आराम से सो सकता है, शूली पर झूल सकता है, परन्तु गालियों तथा धिक्कारों के बीच फूल की शंका पर भी नहीं टिक सकता, उसके हृदय में एक भयंकर अभाव खटकता रहता है । हमारे शास्त्रों ने इसे लोकैषणा नाम दिया है

और कई विद्वानों ने इसे महान पुरुषों की अन्तिम दुर्बलता बतलाया है । अन्य सब कमजोरियों के मिट जाने पर भी यह दुर्बलता बनी रहती है ।

आदर्श स्वकृतियों के माध्यम से ही उठने की प्रेरणा देता है, अपनी स्वार्थ-पूर्ण भावनाओं और प्रवृत्तियों के त्याग के लिए तथा समाज के साथ एकाकार होने के लिए अनुप्राणित करता है । जहाँ आदर्श और स्वीकृतियों में विरोध हो, वहाँ समझना चाहिए कि समाज अपने आदर्श से गिर रहा है अथवा दो आदर्शों के संघर्ष में वह पथ भूल गया है या प्राचीन आदर्श का विनाश हो गया है, किंतु नवीनता की रूप-रेखा स्पष्ट नहीं हो सकी है । इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर जन-समाज के लिए आदर्श श्रद्धेय और प्रणम्य है, किन्तु वह निष्क्रिय है । जीवन से दूर कल्पना लोक का सुरभित सुमन है; जिसके लिए चेष्टा करना सब के बूते की बात नहीं है । इसके विपरीत स्वीकृति जीवित है, जीवन में व्याप्त है, उष्ण और प्राप्य है तथा सामने उपस्थित है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रधान प्रेरणा है । हमारे पग-पग पर वह उत्साहित करती है, आगे बढ़ाती है और कुछ करने के लिए बाध्य करती है ।

प्राचीन जातियों में एक आदर्श का ढाँचा है, जिसमें वे सारे सदस्यों को ढालने की चेष्टा करती है^१ । उनके सारे समाज की स्वीकृति उसी ढाँचे की ओर ले जाती है, दोनों में कहीं अन्तर नहीं दिखाई पड़ता । यही कारण है कि उन जातियों के मूल व्यक्तित्व का एक टाइप (Basic personality type) साफ समझ में आ जाता है । हम उनके आदर्श को बुरा या हीन कह सकते हैं; क्योंकि हमारे आदर्श का नमूना भिन्न है; किन्तु उन्हें आदर्श-हीन नहीं कह सकते । विभिन्न संस्कृतियों के सम्मेलन और विकास के कारण स्वीकृति बदल जाती है; किन्तु आदर्श उस स्वीकृति के अनुरूप नहीं रह पाता, धार्मिकता, दार्शनिकता उसे ऊपर उठाकर आकाश में फेंक देती है । ऐसी स्थिति में जाति के पास कोई टाइप नहीं रह जाता, वह आकाश ताकती है, किन्तु ऊपर उठ नहीं पाती ।

किस वस्तु को स्वीकृति मिलेगी, किस प्रकार का व्यक्ति जाति में स्वीकार किया जायेगा, यह संस्कृति तथा उसकी उपलब्धियों पर निर्भर करता है । भौतिक जीवनोपयोगी पदार्थों का मूल्य है और उन्हें स्वीकृत भी किया जाता है । किन्तु उसकी रूप-रेखा संस्कृति निर्धारित करती है । बहुत सी आरम्भिक जातियों में उपयोगी पदार्थों की अपेक्षा प्रतीकात्मक वस्तुओं के लिए अधिक प्रतिद्वंद्विता रहती है और व्यक्ति उनके लिए अधिक प्रयत्न करते हैं । कौड़ी, शंख, ताम्र-खंड, नाम त्रोटक (टोटका) की शक्ति आदि अनु-पयोगी तथा व्यर्थ की चीजों पर कई जातियों में लोग लड़ते रहते हैं और उनका

देखें—नांस्कृतिक आदर्श ।

मालिक अपने को अधिक सौभाग्यवान समझता है। दूसरे लोग उसे देख कर ईर्ष्या करते हैं या उसे बड़ा मानते हैं, किन्तु इस प्रकार की स्वीकृति की एक सीमा है। इनकी महत्ता के पीछे दोनों में से एक तत्त्व अवश्य मिलेगा : या तो ये प्रीतिकात्मक पदार्थ अतिरिक्त-उत्पादन के उपयोग, वितरण तथा व्यय का पथ देते हैं या इनके स्वामी में अधिक से अधिक क्षमता या सम्पन्नता का जाति को विश्वास रहता है। यदि जाति के पास जीवनोपयोगी पदार्थों की अधिकता रहती है, किन्तु इनके उपयोग, सुरक्षा, विनिमय आदि का कोई साधन विकसित नहीं रहता तो संस्कृति को बाध होकर कोई न कोई पथ इस अतिरिक्त सामान के उपयोग या दुरुपयोग के लिए निकालना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक पदार्थों की महत्ता यह कार्य कर दिया करती है और इसी लिए इनको स्वीकृति मिलती है। क्वाकिडट्ल का पाटलैट्च विभिन्न जातियों के खर्चीले त्यौहार, उत्सव, उपहारों की प्रणालियाँ इसी अतिरिक्त के व्यय के लिए निकाली हुई पद्धतियों के भिन्न भिन्न रूप हैं। संस्कृति को इस परिस्थिति में ऐसे उपाय निकालने ही पड़ते हैं। कुछ जातियों में ठीक इसके विपरीत कारण इनकी महत्ता के हैं। जाति के पास भौतिक साधनों का अभाव या अकाल रहने पर यदि प्राचीन काल से ही यह विश्वास जम जाता है कि इनके स्वामी के पास अधिकता हो जाती है, तो भी इनका मूल्य बढ़ जाता है। स्वतः साधन नहीं रहने पर भी इनमें भौतिक साधनों को खींच लाने की शक्ति होती है।

हमने देखा कि स्वीकृति के पीछे किन्हीं-न-किन्हीं अंशों में भौतिक साधन और इन्हें लाने वाली शक्ति का महत्व अथवा अतिरिक्त के व्यय का पथ रहता है। सम्पूर्ण-साधन शक्ति से सम्पन्न राजा महत्वपूर्ण है; किन्तु ऐसे राजाओं को बनाने और नष्ट करनेवाला ब्रह्मशक्ति सम्पन्न ब्राह्मण इस पृथ्वी का देवता है।

जिसके लिए 'बादशाहों की शक्ति शतरंज की मुहरों से ज्यादा नहीं है, वह उनकी परवाह ही क्यों करे ? इसीलिए साधन-सम्पन्नता से शक्ति-सम्पन्नता सदा ऊँची और आदरणीय रही है। यह शक्ति-सम्पन्नता भौतिक भी हो सकती है और आध्यात्मिक भी। यह वंश, जाति, परम्परा, साधना, तपस्या तथा त्याग के बल पर भी आ सकती है और भौतिक-सत्ता स्वायत्त करने से भी। इसके मूल में जाति का विश्वास भी हो सकता है, आतंक तथा भय भी। समाज का आदर्श यदि आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्नता रहता है तो इसकी स्वीकृति तभी तक मिल पाती है, तब तक उन अध्यात्मिक शक्तियों पर जातिका व्यावहारिक विश्वास जीवित रहता है। यदि इस विश्वास की नींव हिल गई तो स्वीकृति का स्वरूप भी बदल जायेगा और आदर्श तथा स्वीकृति दो विपरीत दिशाओं में जानेवाली चीजें बन जायेंगी।

जब आदर्श केवल आदर्श रह जाता है, उसमें जीवनी-शक्ति नहीं रह जाती तो प्रत्यक्ष भौतिक साधनों को ही स्वीकृति मिलने लगती है। संसार की सभ्य कही जानेवाली जातियों की प्रायः यही स्थिति है। उनके प्राचीन आदर्श जिन विश्वासों और धारणाओं पर आधारित थे, वे अब अन्ध-विश्वास या ढकोसला माने जाते हैं। वंश, परम्परा आदि की शक्ति अब नहीं रही। उन प्राचीन आदर्शों के समान शक्तिशाली कोई नया आदर्श पल्लवित और पुष्पित नहीं हो सका है। समाज-सेवा, मानवता जैसी नवीन समाज-साधना की स्वीकृति अंकुरित तो हुई, पर इनमें वैसे विस्तृत फल-फूल नहीं लग सके। इनके पीछे कोई वैसी धार्मिक या आध्यात्मिक शक्ति का सहारा नहीं है जैसा पहले था। फलतः भौतिक-शक्ति ही स्वीकृति का प्रधान साधन बनी हुई है। आज की सभ्यता ने उत्पादन के साधनों को जितना विकसित किया है, उससे अधिक उत्पादन को सुरक्षित करने, विनिमय, द्रव्य आदि के द्वारा उसका अनन्त उपयोग और उपभोग करने की प्रणाली का भी आविष्कार कर लिया है, इसलिए कई प्राचीन जातियों में अतिरिक्त उत्पादन के व्यय के लिए जो प्रतीकात्मक साधनों का आविष्कार करना पड़ता था, वह भी समस्या आज की सभ्यता के सामने नहीं है। वह अनन्त उत्पादन और अनन्त संचय कर सकती है। यही कारण है कि आज स्वीकृति के दो ही प्रधान आधार हैं, सम्पत्ति-सम्पन्नता तथा भौतिक-शक्ति सम्पन्नता।

सम्पत्ति केवल सुख सुविधाओं का ही आधार नहीं है कई प्रकार की शक्तियों का भी कारण है। सम्पत्ति के अतिरिक्त आज के युग में सबसे बड़ी शक्ति है राज सत्ता में; बल्कि राज सत्ता ही आज की सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत है। इसलिए राज पुरुषों को भी स्वीकृति मिलती है। सक्षेप में आज का युग केवल सम्पत्ति को स्वीकार करता है और राज सत्ता को। इसलिए इन्हीं के वरद पुत्र प्रधान आदर और सम्मान के पात्र हैं।

एक ही जाति के भीतर विभिन्न स्वीकृतियों में परस्पर विरोध भी हो सकता है और हो जाया करता है। इस स्थिति में जाति का व्यक्तित्व और भी दुविधे में पड़ जाया करता है और उसमें मौलिक व्यक्तित्व को ढालने वाला टाइप और भी अस्त-व्यस्त होकर नष्ट हो जाता है। विभिन्न आदर्श वाली संस्कृतियों के सम्पर्क तथा सम्मेलन से यह स्थिति प्राचीन काल में भी उपस्थित हुआ करती थी; परन्तु यह सम्मेलन सतत और काल-व्यापी होने से उसमें स्थिरता आ जाया करती थी। किन्तु आज तो सभ्य समाज के समक्ष दुहरी समस्या है, आदर्श तथा स्वीकृति में संतुलन स्थापित करने की और विभिन्न स्वीकृतियों में एक रूपता लाकर अवांछित स्वीकृतियों को मिटाने की।

स्वीकृतियों के परस्पर विरोधी स्वरूप के फल का उदाहरण हम अपने सामने नित्य देखते हैं। अनीति से हुए कमाने वाले और गन्दी, जघन्य राजनीति में लिप्त कुछ राज पुरुषों या राजनीतिज्ञों से सब लोग घृणा करते हैं; समूह में उनकी निन्दा श्रौचित्य और आवश्यकता से भी अधिक हुआ करती है। जान पड़ता है उन्हें समाज किसी भी रूप में स्वीकृति नहीं देना चाहता। किन्तु सभा समितियों में सारे लोग उन्हें देखकर खड़े हो जाते हैं; और सबसे आगे उन्हें ही कुर्सियाँ दी जाती हैं। इस स्वीकृति में भय का भी हाथ है, स्वार्थ का भी; इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुत-से लोग डर से भी झुकते हैं और व्यक्तिगत लाभ या संस्थाओं को मिलनेवाली सहायता के लोभ से भी उन्हें पद दिये जाते हैं। यह शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि मानी जाती है; किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस व्यावहारिकता के अतिरिक्त सम्पत्ति और शक्ति के लिए भी सम्मान का कुछ न कुछ अंश समर्पित किया जाता है। जिस अंश तक हम इन्हें स्वीकृति देते हैं उस अंश तक उनके कार्यों का नहीं तो कम-से-कम उसके कार्यों से उत्पन्न फल का समर्थन करते हैं। यह इस द्वन्द्व का एक स्थूल उदाहरण है। ऐसे अनेकों उदाहरण आज के युग में दिये जा सकते हैं, अपने देश में भी और बाहर भी।

इस स्थान पर यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि युग के लिए इस द्वन्द्व से निकल कर सही पथ पर चलने का या चलाने का कोई उपाय है। ऊपर कहा गया है कि समाज सेवा आदि स्वीकृति के आधार प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं, आज भी अंकुरित हैं; किन्तु पल्लवित पुष्पित नहीं हो सके, मुरझा रहे हैं। इन्हें सींचने में ही कल्याण की एकमात्र आशा दिखलाई पड़ती है। पहले शक्ति की स्वीकृति के पीछे विश्वास तथा आध्यात्मिक शक्ति का सहारा रहा करता था; अब वह नहीं मिल सकता। इसलिए आज स्थिति उलट गई है। अब त्याग आदि समाज-साधनाओं को ही स्वीकृति की शक्ति मिलनी चाहिए, उसीके सहारे वे खड़ी हो सकती हैं। पहले शक्ति से भी स्वीकृति मिलती थी; अब स्वीकृति से ही एकमात्र शक्ति मिलने की आशा है। उन परिस्थितियों का निर्माण, उन भावनाओं का प्रचार, जिनसे समाज अपनी स्वीकृति जैसे अमूल्य धन का दान उचित पात्र को ही दे, एक मात्र पथ दिखलाई पड़ता है। जिस समय समाज या उसका बहुमत मोह जाल से निकलकर वास्तविकता को पहचान लेगा उस समय अन्धकार का वह कुहरा यों ही फट जायेगा; उसे स्वीकृति की शक्ति से परिचय होगा और वह उसका सदुपयोग करना जान जायेगा। परतंत्रता के कारण हम अभी तक राजनीति या राज-साधना को ही एक मात्र समाज-साधना समझते आ रहे हैं। अब

उसका वास्तविक रूप स्पष्ट करना होगा। राज्य-साधना भी परिस्थिति-विशेष में समाज-साधना हो सकती है, परन्तु वही सम्पूर्ण समाज-साधना नहीं है।

अप्रत्यक्ष नियंत्रण

समनुज्ञायें मानव का प्रत्यक्ष नियंत्रण करती हैं। “मनुष्य पर उनका दबाव उसकी धारणाओं और विश्वासों से अलग और भिन्न रूप में पड़ता है।”*

मानव अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और धारणा के कारण समाज के नियमों का जहाँ पालन करता है, वहाँ हम समनुज्ञा की स्थिति नहीं मान सकते। समनुज्ञा तो वहीं रहती है, जहाँ मानव बाधा या प्रेरणा का अनुभव करता है। इसी लिए समनुज्ञा तथा प्रत्यक्ष-नियंत्रण में सहचारी सम्बन्ध है, दोनों साथ-साथ ही चलते हैं। किन्तु सामाजिक नियमों का बहुत-सा अंग ऐसा है जो हमारा अंग बन गया है; अथवा जिसे हमने आत्मीकृत (assimilated) कर लिया है, उसे हमसे अलग नहीं किया जा सकता। कानून या विधि सबसे स्थूल सामाजिक नियम है; किन्तु इस के पालन के पाँच हेतु होते हैं:—

(१) उनका पालन ही हम सही और उचित समझते हैं। पश्चिमी देशों में एक पत्नी और युगल विवाह के ही नियम हैं। वहाँ की संस्कृति का यह एक अंग है। इस सम्बन्ध के नियमों का पालन, केवल इस लिए ही नहीं किया जाता कि कानून का वंसा ही आदेश है, प्रत्युत इस लिए भी किया जाता कि वह उनकी संस्कृति का एक अंग है; सब लोग इसे ही सही समझते हैं।

(२) कुछ नियमों के इस प्रकार अभ्यस्त हो गये हैं कि पालन ही सबसे कम बाधक जान पड़ता है।

(३) नियमों के पालन से वे अपने समाज के अन्य सदस्यों का साथ देना चाहते हैं।

(४) इससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है।

(५) अपालन से दण्ड लज्जा आदि का भय है।

हम किसी नियम को सही क्यों समझते हैं, इसीलिए तो, कि उन्हें अनेक रूपों में हमने आत्मीकृत कर लिया है। जिस नियंत्रण के द्वारा नियम आत्मीकृत हो जाते हैं उनके पालन के लिए दण्ड, भय, लज्जा, प्रशंसा, स्वीकृति आदि का आधार नहीं रहता, वे अप्रत्यक्ष कहलायेंगे। कुछ लोग स्वीकृति तथा

* The sanctions bring pressure to bear on men apart from their loyalties and convictions—Society.

प्रशंसा को भी अप्रत्यक्ष ही मानेंगे, किन्तु वे विधिवत् (formal) नहीं होते हुए भी प्रत्यक्ष हैं ।

अप्रत्यक्ष नियंत्रण का क्षेत्र बड़ा व्यापक तथा इसके रूप बड़े विस्तृत हैं । समाजशास्त्र का एक बड़ा भाग इसके भीतर आ जाता है । सामान्यतया इसे तीन कोटियों में बाँट सकते हैं :—(१) सांस्कृतिक (२) आंशिक तथा (३) क्षणिक

सांस्कृतिक से अभिप्राय उन प्रतीकों, मूल्यों और आदर्शों से है जो हमारे वातावरण, हमारे संगठन और संस्थाओं से प्राप्त होते हैं । संस्थाएँ अपने नियमों का पालन कराने के लिए प्रत्यक्ष नियंत्रण भी किया करती हैं । उनके पास दण्ड, सुविधा का अपहरण आदि शक्ति है ही; किन्तु हम पर उनका इतना ही तक नियंत्रण नहीं है । उनके आदर्श, उनके द्वारा दिये हुए जीवन के मूल्य तथा प्रतीक बचपन अथवा सम्पर्क काल से ही अपना प्रभाव डालना आरम्भ करते हैं और हम उन्हीं की आँखों से सब कुछ देखने लगते हैं । हमारी नैतिकता, हमारी सद्सद्विवेकिनी बुद्धि उसी को देन होती है । हम उनके नियंत्रण का अनुभव नहीं करते; क्योंकि वे अप्रत्यक्ष रूप में हमारी आत्मा को ही अपने अनुकूल ढाल लिया करते हैं । नियंत्रण को नियंत्रण ही नहीं समझते, परिवार, जाति और इनसे सम्बन्धित संस्थाएँ, लोकाचार और प्रथाएँ जीवित पदार्थ के समान हैं; जिनका पालन हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाता है ।

इन महान् संस्थाओं के अतिरिक्त जो संगठित और किसी उद्देश्य से संचालित संगठन और संघ होते हैं; वे भी किसी न किसी उद्देश्य और ध्येय से अनुप्राणित होते हैं । हम उनमें सम्मिलित होकर केवल उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में ही नहीं आते, अपितु अपने को उनके द्वारा, उनके अनुरूप ढलने के लिए किन्हीं अंशों में समर्पित कर देते हैं । हमारी भावना, सोचने की दिशा बदल जाती है । कई बार आदमी की बात-चीत, रहन सहन तथा किसी विषय को सामने रखने की परिपाटी से हम उसकी बहुत सी बातें जान जाते हैं । हम बतला सकते हैं कि वह किस जाति का है । किन संस्थाओं से सम्बन्धित है । हम संगठनों में एक विशेष प्रकार का कार्य करना सीखते हैं । इनसे एक विशेष प्रकार की रुचि, भावना और प्रवृत्ति का भी संचार होता है ।

आंशिक अप्रत्यक्ष नियंत्रण से अभिप्राय उन परिस्थितियों और जीवन विधि से है, जो मानव का निर्माण तो करती हैं किन्तु उसके एक अंश से ही सम्बन्धित है, संस्कृति के समान सम्पूर्ण आत्मा से नहीं । मानव जो कार्य करता है, उसके अनुकूल भी धीरे धीरे ढलता जाता है । सारी जाति से

अलग यदि कुछ लोगों की जीवन-विधि हो जाती है तो ये लोग शेष लोगों से भिन्न जा पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम किसी व्यापारी, अध्यापक तथा वकील को ले सकते हैं। ये तीनों तीन लोक के जीव जान पड़ेंगे। इनके पेशे और कार्य ने इन्हें एक विशेष चारित्रिक ढाँचे में ढाल रक्खा है। कुछ विद्वानों ने अलग अलग पेशे वालों की चारित्रिक विशेषताएँ निर्धारित करने की कोशिश की है। जो अपने पेशे के अनुरूप प्रवृत्ति और मनोवृत्ति नहीं रखता, वह असफल हो जाता है या जहाँ तक सम्भव है अपने को उसके अनुरूप ढालने की चेष्टा करता रहता है। मैंने हम ने इसे क्षेत्रीय ढाँचा (field structure) नाम दिया है। उनका कहना है कि "समाज जब सम-केन्द्रीय वृत्तों में बढ़ने के बदले क्रिया के नये क्षेत्र विकसित कर लेता है, जो ठोस समुदायों की सीमा को काटते हैं तो इन्हें हम क्षेत्रीय ढाँचा कहते हैं।"*

आपने इसके लिए व्यापारियों का उदाहरण दिया है जो बिना किसी संगठन तथा संस्था के भी समचरित्र तथा सम व्यवहार का विकास कर लेते हैं। समाज जिन सांस्कृतिक संस्थाओं के मूल्यों तथा प्रतीकों से प्रधान रूप में चरित्र या व्यवहार का निर्माण करता है, उनसे अलग, उनको काटकर नये व्यवहार का विकास करनेवाला एक क्षेत्र या कार्य बन जाता है। यह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिभूत नहीं कर पाता और इनसे उनपर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता, बल्कि इनसे कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यष्टि में उत्पन्न होती हैं। इसीलिए इन्हें आंशिक प्रभाव (Segmental influences) ही कह सकते हैं। तो भी ये समाज के लिए नगण्य या उपेक्षणीय नहीं हैं।

इन क्षेत्रीय प्रभावों के समान ही परिस्थितियों का भी प्रभाव मानव पर और उसके कारण समाज के एक अंग पर पड़ता है। परिस्थितियों से अभि-प्राय मानव तथा समुदाय का दूसरे मानव या समुदाय से आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की विशेष स्थिति से है। एक समुदाय नौकर है, दूसरा मालिक। एक के सामने अन्य को सिर झुकाना पड़ता है। यह ऊँच-नीच, मालिक-नौकर, आश्रित-आश्रयदाता, ग्राहक-दुकानदार आदि की जीवन में व्याप्त परिस्थितियाँ ही मनुष्य की आत्मा अछूती ही नहीं छोड़ती; प्रत्युत् उसकी अन्तरात्मा का निर्माण करती हैं। यह अप्रत्यक्ष नियंत्रण भी समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज हमारे समाज की अनेक पददलित जातियों में

* Whenever society instead of expanding in concentric circles, develops new spheres of action which traverse the boundaries of the concrete groups, we speak of a field structure."—Man and Society

पाई जानेवाली परम्परागत बुराईयाँ, अपराधी मनोवृत्तियाँ हमारे इसी सम्बन्ध के अभिशाप हैं। सैकड़ों तथा हजारों वर्षों की स्थिति का प्रभाव परम्परा में सम्मिलित हो जाता है; किन्तु व्यक्तिगत जीवन की परिस्थिति भी आंशिक रूप में ही सही, मानव को नियंत्रित करती है। हम वर्ग से उत्पन्न चरित्र तथा मनोवृत्ति को भी इसी कोटि में रख सकते हैं। आज का मनोविज्ञान यह मानता है कि मनुष्य बेईमान, ईमानदार नहीं हैं, परिस्थिति ही बेईमान, ईमानदार है। परिस्थिति की महत्ता आज के आर्थिक युग में, जब सांस्कृतिक प्रतीकों तथा मूल्यों का महत्त्व कम होता जा रहा है, बहुत अधिक है।

क्षणिक अप्रत्यक्ष नियंत्रण का सुन्दर नमूना जन-संघातों तथा संवेग जन-संघातों (mobs) में दिखलाई पड़ता है। सारा जनसमूह विमोहित होकर, अपनापन भूलकर एक विशिष्ट ढाँचे में ढल जाता है। जन-संघातों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

अप्रत्यक्ष नियंत्रण के इन स्वरूपों के साथ ही सामाजिक प्रणाली (Social mechanism) के कुछ रूपों को भी अलग गिनाया जा सकता है। इस सामाजिक प्रणाली का स्पष्टीकरण प्रतियोगिता, श्रम विभाग, पंतुकता के अधिकार आदि से उत्पन्न परिस्थितियों तथा विशिष्ट चरित्रों से हो सकता है। प्रतियोगिता तथा प्रतिद्वन्द्विता से उत्पन्न एक नवीन भौतिक श्रुत संस्कृति का विश्लेषण किया जा चुका है। ये सामाजिक प्रणालियाँ परिस्थितियों तथा क्षेत्रीय प्रभावों का निर्माण करती हैं और उन्हीं के द्वारा मानव पर इनका नियंत्रण होता है।

प्रणाली के विभिन्न अंग समाज के व्यक्ति तथा समुदाय को विशिष्ट जीवन विधि के लिए प्रेरित और कभी-कभी बाध्य करते हैं एवं सम्बन्धों की विशिष्ट स्थिति में ला दिया करते हैं। मानव इसीलिए इन्हें कम समझ पाता है; क्योंकि ये अप्रत्यक्ष नियंत्रण के अप्रत्यक्ष किन्तु जबर्जस्त कारण होते हैं। आज का समाजशास्त्री इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता और उनपर ही नियंत्रण करना चाहता है; ताकि समाजोपयोगी स्वस्थ परिस्थितियाँ तथा क्षेत्रीय प्रभाव उत्पन्न हो सके। इन्हें वह मूल हैन्डिल मानता है, जिन्हें समझ-बूझ कर घुमाने से सम्पूर्ण समाज का यंत्र घूम सकता है। सामाजिक योजना का अर्थ है नियंत्रण के साधनों पर बुद्धि पूर्वक नियंत्रण अर्थात् उन सामाजिक प्रणालियों की गवेषणा तथा अवतारणा जो समाज को उचित परिस्थिति में रखकर उसका उचित अप्रत्यक्ष नियमन कर सकें।

